# कबीर-साहित्य की भूमिका

—:०:—

लेखक

डा० रामरतन भटनागर एम्० ए०, डी० फ़िल

प्रकाशक

रामनारायण लाल

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद

१९५० मूल्य २)

मुद्रक—सदलराम जायसवाल
राम-प्रिंटिंग प्रेस, कीटगंज
इलाहाबाद।

# कबीर

मध्ययुग के साहित्य और उस साहित्य में प्रकाशित साधना को भली-भाँति समझने के लिये कबीर और उनकी वाणी का सम्यक् अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। मध्ययुगीन जनता की अनेक प्रवृत्तियाँ और उस समय के सांस्कृतिक समन्वय जिस स्पष्टता से कबीर के व्यक्तित्व और उनके साहित्य में मिलते हैं उतनी स्पष्टता से वह और कहीं नहीं मिलते। गोरखनाथ, रामानन्द और कबीर पूर्व मध्ययुग के सबसे बड़े व्यक्तित्व हैं और उनके द्वारा समाज के निचले स्तरों को सत्य की जो ज्योति दिखाई पड़ी उसकी आभा आज भी हमारे जीवन-पथों को आलोकित कर सकती है। १६ वीं शताब्दी तक इन तत्ववेत्ताओं, रहस्य-दर्शियों और महान् सामाजिक क्रान्तिकारियों की वाणी और उनकी साधना उसी प्रकार स्फूर्तिवान् बनी हुई थी जिस प्रकार वह उनके अपने समय में थी। उन्होंने महान् आन्दोलनों को जन्म दिया और वर्ण-संस्कारों और भेद-विभेदों के बीच में ऐक्य, प्रेम और सामान्य मानवता की ध्वजा की प्रतिष्ठा की। मध्य युग का सारा साहित्य, सारा चिंतन, सारी साधनाएँ ज्ञात या अज्ञात रूप से उनसे प्रभावित हैं।

यह शोक का विषय है कि इन महासाधकों के व्यक्तित्व और उनकी साधना का पुनर्निर्माण करने में हम अभी तक असफल ही रहे हैं। उनके संपूर्ण सत्य को हमने अभी नहीं देखा है। आंशिक सत्य के आधार पर उनके साहित्य की व्याख्या करके हमने उन्हें छोटा ही किया है। उन्हें रहस्यवादी कह कर हमने जैसे उनसे छुट्टी पा ली है। पश्चिमी आलोचकों ने हमारे साधकों को रहस्यवादी बताया और हम आँख मूँद

कर उनकी अत्यन्त प्राणवान और सामाजिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से क्रान्तिकारी भावधारा को अवैज्ञानिक और अस्पष्ट समझने लगे।

प्रस्तुत ग्रंथ में कबीर के व्यक्तित्व और उनकी साधना को एक संतुलित रूप देने की चेष्टा की गई है। कबीर जैसे रहे होंगे, वैसा उन्हें ढूँढ़ लेना इस तर्क-प्रधान और धर्मनिष्ठा-रहित युग के लिये कोई सरल काम नहीं है। अभी उनकी वाणी का कोई प्रामाणिक और सुसंपादित संस्करण भी प्रकाशित नहीं हुआ है। फिर भी इस दिशा में यह एक नवीन प्रयत्न तो है ही।

१९४६ ई० में 'कबीर' नाम से मेरी एक और पुस्तक भी प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तक आज भी लोकप्रिय और उपयोगी है। परन्तु इसका आधार थी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'कबीर-ग्रंथावली'। अब इस क्षेत्र में डा० रामकुमार वर्मा द्वारा सम्पादित 'संत कबीर' के रूप में वह सामग्री भी प्रस्तुत हो गई है जो 'आदिग्रंथ' में संग्रहीत है। इस नई पुस्तक में 'संत कबीर' की सामग्री को विशेष रूप से विश्लेषण और आश्लेषण का विषय बना गया। पहले आठ अध्यायों में वही प्रामाणिक सामग्री के रूप में स्वीकृत हुई है। परन्तु यह सामग्री भी कबीर की साधना और उनके व्यक्तित्व को आंशिक रूप में ही उपस्थित करती है। अत: 'कबीर-ग्रन्थावली' और 'बीजक' में प्रस्तुत सामग्री को आधार बना कर दो अध्याय और जोड़े गये हैं और इन ग्रंथों की प्रामाणिकता पर भी विचार किया गया है। कबीर-सम्बन्धी कुछ और महत्वपूर्ण सामग्री परिशिष्ठ में रख दी गई हैं।

आशा है, यह सामग्री कबीर के व्यक्तित्व को कुछ अधिक संतुलित और वैज्ञानिक रूप में उपस्थित करेगी और 'कबीर'-सम्बन्धी अन्य आलोचनाओं का पूरक बन सकेगी। अभी कबीर के सम्बन्ध में अन्तिम

बात कहना संभव नहीं, कदाचित् अभी बहुत दिनों तक संभव नहीं हो, परन्तु प्रयत्न तो करते ही रहना है। प्रत्येक प्रयत्न किसी नई दिशा को सूचित कर सके या कबीर के व्यक्तित्व अथवा उनकी साधना के किसी नए पक्ष का उद्घाटन कर सके तो वह उपादेय ही होगा।

१० जून १९५० } रामरतन भटनागर

# विषय-सूची


कबीर पृष्ठ-संख्या

१—पृष्ठभूमि

( १ ) राजनैतिक परिस्थिति ( २ ) मध्ययुग की सामान्य साधना ( ३ ) 'नाथ' और 'निरंजन' पंथ ( ४ ) सूफ़ी मतवाद ( ५ ) संत-विचारधारा १

२—जीवनी और रचनाएँ

[ १ ] जनश्रुतियाँ—कबीर की रचनाएँ—समसामयिक और परवर्ती उल्लेख—निष्कर्ष : ( क ) जन्म-तिथि और जन्म-स्थान ( ख ) माता-पिता ( ग ) पारिवारिक जीवन ( घ ) पर्यटन ( ङ ) अध्ययन ( च ) गुरु ( छ ) वाह्य-संघर्ष ( ज ) वृद्धावस्था और मृत्यु

[ २ ] रचनाओं का विश्लेषण : ( अ ) बीजक ( ख ) आदिग्रंथ के पद ( ग ) कबीर-ग्रंथावली ३२

३—इष्टदेव

निर्गुण राम—रांम का ऐश्वर्य—रांम का माधुर्य—रांम का परमानन्द-रूप—भक्तवत्सल रांम—रांम के प्रति अनन्य भाव—संसार और माया ७१

४—भक्ति-भावना

भाव-भगति—भाव-भगति के अनेक स्तर—भक्ति और वैराग्य—भक्ति और ज्ञान ९३

५—कबीर का रहस्यवाद ( १ ) ( २ ) ११६

६—कबीर की साधना के अन्य पक्ष १३१

७—कबीर के काव्य की सामाजिक पृष्ठभूमि १५७
८—कबीर का साहित्य
भाव-चित्रण—कल्पना-सृष्टि और अलंकार-विधान—शैली—भाषा-समृद्धि—तत्सम शब्द—तद्भव शब्द—विदेशी शब्द — अर्थ-गंभीरता—छंद—सलोकु या 'साखी' छंद—रागु या पद—निष्कर्ष १७४
९—कबीर-ग्रंथावली
पद—रमैनी—साखियाँ २०४
१०—'बीजक'
रमैनी—पद (शब्द)—कहरा—बसन्त—चाँचरी—बेली—बिरहुली—चौंतीसी—विप्रमतीसी २३७
११—उपसंहार
( अ ) कबीर—संत और कवि ( आ ) भारतीय साधना के इतिहास में कबीर का योगदान २५७

परिशिष्ट

( अ ) कबीर-वाणी के पाठ की समस्या ( आ ) कबीर-पंथ और उसका साहित्य ३०७

# कबीर साहित्य की भूमिका

## १

## पृष्ठभूमि

### ( १ )

### राजनैतिक परिस्थिति

कबीर के समय को हम राजनैतिक उथल-पुथल और असहिष्णुता का युग कह सकते हैं। कबीर की जन्म-तिथि १३६८ ई० कही जाती है। इसी वर्ष तैमूर ने आक्रमण किया था और दिल्ली की धरती रक्त से रँग उठी थी। इस आक्रमण ने देश की राजनैतिक स्थिति और भी डाँवाडोल कर दी। मुहम्मद तुग़लक की मृत्यु ( १३५१ ई० ) के बाद दिल्ली के सिंहासन पर दो पठान वंशों ने राज किया। ये सैयद और लोदी वंश थे। सैयदों के समय में दिल्ली के साम्राज्य की परिधि दिल्ली की चहारदीवारी तक सिमट आई थी। इस समय पंजाब में बहलोल लोदी का शासन था। उसने सरहिंद पर अधिकार कर लिया और कुछ ही समय में वह दिल्ली का शासक बन गया। १४५१ ई० से १५२६ ई० तक लोदी वंश का राज रहा। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध सुलतान सिकंदर लोदी ( १४८९-१५१७ ) था जो कबीर का समसामयिक कहा जाता है और किंवदंतियों द्वारा कबीर के जीवनवृत्त से संबंधित हो गया है।

ऊपर की संक्षिप्त राजनैतिक रूपरेखा से यह स्पष्ट है कि यह युग लगभग अराजकता और राजनैतिक उथल-पुथल का युग है। परन्तु कबीर के काव्य की पृष्ठभूमि के लिए जौनपुर के शिया राज्य के इतिहास

को भी जानना आवश्यक है। पूर्वी भारत में सूफ़ी विचारधारा का प्रचार और विकास इसी शिया राज की छत्रच्छाया में हुआ। जौनपुर के सुलतान शरकी सुलतान कहलाते हैं। उनका समय १३६४–१४६३ ई० है। जौनपुर नगर को १३५१ ई० के लगभग फ़ीरोजशाह तुग़लक ने बसाया था। दिल्ली साम्राज्य की दुर्बलता से लाभ उठाकर १३६४ ई० में ख़्वाजा जहाँ ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। धीरे-धीरे इस राज्य की सीमायें पूर्व में बहराइच, गोरखपुर, दोआबा और बिहार और पश्चिम में संभल, रोहलखंड और मालवा तक पहुँच गई। जौनपुर के शरक़ी बादशाहों का राज्य १०० वर्ष से अधिक नहीं रहा, परन्तु उस समय दिल्ली की शक्ति इतनी क्षीण हो गई थी और देश के अन्य भागों में इतनी उथल-पुथल थी कि यही राज संस्कृति का केन्द्र बन गया। कबीर के काव्य का विकास इसी शिया राज्य की उदारता के कारण संभव हो सका। संभव है, अपने जीवन के अंतिम दिनों में कबीर को अनुदार सिकंदर लोदी के हाथों से यातना भोगनी पड़ी हो और उन्हें बनारस छोड़कर मगहर चला जाना पड़ा हो जो उन दिनों भी जुलाहों की बस्ती थी और जो कदाचित् कबीर की जन्मभूमि थी। जौनपुर की सूफ़ी परम्परा के अस्तित्व के बिना कबीर का अस्तित्व ही संभव नहीं है, यद्यपि रामानंद द्वारा उन्हें बहुत कुछ ऐसा मिला जो सूफ़ी भावना से बहुत भिन्न नहीं था। मगहर, कालपी, जौनपुर, झूँसी आदि अनेक सूफ़ी केन्द्र इसी समय में विकसित हुए और यहीं अवधी सूफ़ी काव्य की परम्परा का विकास हुआ।

(२)

## मध्ययुग की सामान्य साधना

कबीर के काव्य में मध्ययुग (७५०–१८००) की सामान्य साधना का सबसे विकसित रूप प्राप्त होता है। जिन विचार-धाराओं और साधनाओं का प्रकाशन कबीर के काव्य में हुआ है, उनको उन तक पहुँचते-पहुँचते

विकास की पाँच शताब्दियाँ मिल चुकी थीं। अतः कबीर को समझने के लिए मध्ययुग की सामान्य साधना के जन्म और विकास के इतिहास को भी समझना होगा।

मध्ययुग की साधना वाह्याचारों, वाह्याडंबरों और कर्मकांडों की नितांत उपेक्षा करती है। वह मनुष्य के हृदय को अपना एकमात्र आधार बनाना चाहती है। मनुष्य का हृदय ही उस परम तत्त्व का निवास-स्थान है। मनुष्य की आध्यात्मिक भूख उसके हृदय की प्रेम की भूख है। यहाँ साधक को वाह्य संसार से हट कर आभ्यान्तरिक जगत में प्रवेश करना होता है। फलतः मध्ययुग का साधक धर्म के ऊपर के खोल को उतार कर फेंक देता है। सिद्ध हो या जैन या वैष्णव—'कोई हो, यह विचार-धारा सामान्य रूप से मध्ययुग के सारे धार्मिक साहित्य में पाई जाती है। सरहपा ( ७६० ई० ) कहते हैं: उस भेद को ब्राह्मण भी नहीं जानते। यों ही कहते हैं कि चारों वेद पढ़ लिये। मिट्टी, पानी और कुश लेकर मंत्र पढ़ते हैं और इस प्रकार घर में ही बैठ कर अग्नि को होमते हैं। व्यर्थ आँखों को कड़वे धुएँ में कष्ट देते हैं।'[1] 'नंगे रहने से मुक्ति होती तो गीदड़ भी मुक्त हो गए होते। लोम उखाड़ने में मुक्ति होती तो··· चोटी बढ़ाने से जन मोक्ष पा जाते तो मोर भी मुक्ति पा जाता—उसके तो इतना बड़ा चमर है। उच्छिष्ट भोजन खाने में यदि मोक्ष हो जाती तो कितने पशु उच्छिष्ट खाते हैं।'[2] 'तीर्थ और तपोवन में जाने से क्या

---

१ ब्रह्मणहि म जाणन्त हि भेउ। एँवइ पढ़िअउ ए चेउबेउ ॥
मट्टि पाणि कुरु लई पढ़न्त। घरहीं बइसी अग्गि हुणन्त ॥

२ जइ णागाविअ होइ मुत्ति, ता सुणह सिआलह।
लोम उपाडण अत्थि सिद्धि, ता जुवइ-णिअम्बइ ॥
पिच्छी गहणे दिट्ठ मोक्ख, ता मोरह चमरह।
उच्छ-ओअणे होइ जाण, ता करिह तुरङ्गह ॥

लाभ ? पानी में नहाने से कहीं मोक्ष मिलती है।'[3] जैन कवि योगीन्दु ( १००० ई० ) भी इसी बात को दुहराते हैं : 'अनेक तीर्थों में घूमता है। मूर्ख, इस प्रकार मोक्ष प्राप्त नहीं होती। ज्ञान प्राप्त हुए बिना कोई मुनि नहीं बन सकता।'[4] चेली-चेला और पोथी में जो संतुष्ट होते हैं वे मूर्ख हैं।[5] मन्दिर, देवता, शास्त्र, गुरु, तीर्थ, वेद, काव्य—ये सब कुसुमित वृक्ष की भाँति दिखाई देते हैं परंतु अंत में इन सब को ईंधन बनना है।'[6] रामसिंह ( १००० ई० ) कहते हैं—'बहुत पढ़ा परंतु मूढ़ रहा। तालू सुखा लिया। एक अक्षर भी जिसने ( प्रेम का ) पढ़ लिया, वह शिवपुर पहुँच गया।'[7] 'सिर को बार-बार मूड़ा और मन को नहीं मूंडा। जिसने एक बार भी मन को मूंड़ लिया, उसने संसार का खंडन कर लिया।'[8] गुरु गोरख नाथ भी इसी स्वर में स्वर मिला कर कहते हैं—'वेदों, शास्त्रों, किताबी धर्मों की किताबें, क़ुरान आदि ग्रंथों में जिस परब्रह्म पद का वर्णन नहीं पढ़ा जा सकता, उस पद के बिरले योगी

---

३ किन्तह तित्थ तपोवण जाई। मोक्ख कि लब्भइइ पाणी न्हाई ॥

४ तित्थहिं तित्थु भमन्तहं मूढ़हँ मोक्खु ण होइ।
णाण-विवज्जिउ जेण जिय, मुणिवरु होइ ण सोइ ॥

५ चेल्ला-चेल्ली-पुत्थियहिं, तूसइ मूढु णिभंतु।
एमहिं लज्जइ णाणियउ, बंधहँ हेउ मुणंतु ॥

६ देउलु देउवि सत्थु गुरु, तित्थुवि बेउ वि कव्वु।
बच्छु जु दीखै कुसुमियउ, इंधणु होसइ सव्वु ॥

७ बहुमं पढ़ियइं मूढ़पर, तालू सुक्कइ जेण।
एक्कुजि अक्खरु तं पढहु, सिवपुरि गम्मइ जेण ॥

८ मुंडिय मुडिय मुंडिया। सिरु मुंडिउ चित्तु ण मुण्डिया ॥
चिन्तहँ मुंडण जि कियउ। संसारह खंडणु तिं कियउ ॥

जानते हैं।'[९] 'देवालय की यात्रा शून्य यात्रा है, उससे कोई फल नहीं मिलता। तीर्थ की यात्रा तो पानी की ही यात्रा ठहरी।'[१०] 'पढ़ते-पढ़ते कितने विद्वान मर गये, इतना कहा, परंतु किया भी कुछ? बहुत बढ़े, बहुत घटे, परंतु पारब्रह्म को नहीं पहचाना।'[११]

यह आभ्यंतरिक साधना केवल गुरु की अपेक्षा रखती है। बाहरी सारे साधन उसके लिए हेय हैं। परंतु गुरु परमावश्यक है। सरह कहते हैं—'सङ्क पास तोड़हु गुरु वअणे।' (गुरु के वचनों से शंका का पाश तोड़ो) परन्तु वह तत्त्व मुख्यतः स्वयं संवेद्य है—न शिष्य उसे पूछ सकता है, न गुरु उसे सिखा सकता है।'[१२] 'गुरु के उपदेश का अमृत जिसने नहीं पिया, वह शास्त्र के मरुस्थल में प्यासा ही मर गया।'[१३] जैन और योग-साधना में भी गुरु का महत्व कम नहीं है। रामसिंह[१४] और गोरखनाथ की रचनाएँ साक्षी हैं।[१५] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मध्य-

---

९ बेदै न सास्त्रे कतेबे न कुरांणे पुस्तके न बंच्या जाई।
ते पद जाँनाँ बिरल जोगी और दुनी सब धंधै लाई।

१० देवल जात्रा सुंनि जात्रा, तीरथ जात्रा पाणीं॥

११ पढ़ि पढ़ि पढ़ि केता मुवा कथि कथि कथि कहा कीन्ह।
बढ़ि बढ़ि बढ़ि बहु घट गया पारब्रह्म नहीं चीन्ह॥

१२ णउ तं बाअहि गुरु कहइ, णउ तं बुज्झइ सीम।
सहजामिअ-रासु सअल जगु, कासु कहिज्जइ कीस॥

१३ गुरु-उपदेशे अमृत रस, धाइ न पीयेउ जेहि।
बहु शास्त्रार्थ-मरुस्थलहिं, तृषितै मोऊ तेहि॥

१४ जं लिहिउ ण पुच्छिउ कहव जाइ। कहियउ कासु वि णउ चित्तिठाइ॥
अह गुरु उवएसे चित्ति ठाइ। तं तेय धरंतिहि कहिं मिठाइ॥

१५ गगन मंडल मैं ऊंधा कूवा तहाँ अंमृत का बासा।
सगुरा होइ सु भरि भरि पीवै निगुरा जाइ पियासा॥

मध्ययुग की साधना में ज्ञानपक्ष की अपेक्षा हृदय-पक्ष पर अधिक बल दिया गया है और गुरु का स्थान प्रमुख है यद्यपि अंततः साधक को अपनी स्वयं-संवेद्य आध्यात्मिक अनुभूति पर अवलम्बित होना पड़ता है।

यह आध्यात्मिक अनुभूति कायानिष्ठ ईश्वर और अद्वैत साधना को लेकर आगे बढ़ती है। सिद्ध, जैन और योगी सभी काया (देह) के भीतर अमृत-तत्त्व की खोज करते दिखलाई देते हैं। सरह कहते हैं—इसी काया में गङ्गा-जमना हैं, यहीं गंगासागर है, यहीं प्रयाग-काशी, यहीं सूर्य-चन्द्र। अनेक क्षेत्रों, पीठों-उपपीठों में घूमा, परन्तु देह के समान तीर्थ मैंने कहीं नहीं देखा।... इस काया-तीर्थ में जाति-कुल, ब्रह्मा-विष्णु, लोक-परलोक सब का क्षय हो जाता है।[१६] पंडित लोग सब शास्त्र जानते हैं, परन्तु यह नहीं जानते कि देह में ही बुद्ध का वास है।[१७] रामसिंह कहते हैं—वही शिवशंकर विष्णु है, वही रुद्र-बुद्ध, वह जिन ईश्वर ब्रह्म, वही अनन्त सिद्ध, वह परम निष्कल देव देह में ही निवास करता है। उसके लिए कोई भेद-भाव नहीं।[१८] योग-पंथ तो ब्रह्माण्ड

---

१६ एत्थु से सुरसरि जमुणा, एत्थ से गंगा साअरू।
एत्थु पआग बणारसि, एत्थु से चन्द दिवाअरू॥
खेतु पीठ-उपपीठ, एत्थु मइँ ममइ परिट्ठओ।
देहा-सरिसअ तित्थ, महँ सुह अण्ण ण दिट्ठओ॥

१७ पंडिअ सअल सत्थ बक्खाणइ। देहहिं बुद्ध बसंत ण जाणइ॥

१८ सो सिउ-संकरु विण्हु सो, सो रुद्दवि सो बुद्ध।
सो जिणु ईसरु बंभु सो, सो अणंतु सो सिद्ध॥
एवहि लक्खण-लक्खियउ, जो पर णिक्कलु देउ।
देहहँ मज्झहिं सो बसइ, तासु ण विज्जइ भेउ॥

को पिंड में ही स्थित मानता है। इसी से गोरखनाथ वट की महिमा गाते थकते नहीं।[१९]

मध्ययुग की यह साधना मुख्यतः निर्गुण साधना है।[२०] यह कष्ट-कृच्छ साधनाओं की उपेक्षा करती है और 'सहज' मार्ग का अवलंबन करती है। ध्यान-धारणा, मंत्र-तंत्र में इसे अधिक विश्वास नहीं।[२१] वह मन, हृदय और व्यक्तित्व का संस्कार चाहती है। इसीलिए उसमें नैतिक तत्त्वों की प्रधानता है और वह मुख्यतः वैराग्य-मूलक है। वह इस संसार को मिथ्या मानती है। सरह इस जगत को 'जल-विंबाकार' मानते हैं।[२२] 'भूसुकपा कहते हैं—यह जग अनादि अजन्मा है; प्रतिभास रूप से ही, भ्रांति के कारण ही यह सत्य जान पड़ता है।' जैसे रज्जु-सर्प मरु-मरीचि, गंधर्व-नगरी, दर्पण-प्रतिबिंब, वातावर्त, बाँझ-सुता, शशशृङ्ग बालु-तेल आदि उपमाओं से वह जगत के माया-रूप का वर्णन करते हैं।[२३] जैन कवि भी संसार का तुच्छ और धिक्कार-योग्य बताते हैं।

---

१९ घटि घटि गोरष बरही क्यारी। जो निपजै सो होइ हमारी ॥
घटि घटि गोरष कहै कहाँणी। काचै भाँडै रहै न पाणी ॥
घटि घटि गोरष फिरै निरूता। को घट जागै को घट सूता ॥
घटि घटि गोरष घटि घटि मीन। आपा परचै गुर मुषि चीन्ह ॥

२० णाण-रहिअ की कीअइ झाणे। जो अवाअ तहि काह रवाणे ॥

२१ मंत्र न तंत्र ण धेअ ण धारण।
सब्ब वि रे बढ़ ! बिब्भम-कारण ॥
असमल चित्त म झाणे खरड़इ।
सुह अच्छन्त म अप्पणु झगड़इ ॥

२२ अबभुअ भव-मोह रे दीसइ पर अप्पाणा।
ए जग जल बिंबकारे सहजे सूण अपाणा ॥

२३ आइए अनुअनाएँ जग रे भन्तिए सो पडिहाइ।
रज्जु-सप्प देखि जो चमकिउ, साँचे जिम लोअ खाइउ ॥

गोरखनाथ बार-बार इंद्रियनिरोध, बिंदु-साधना और जगत के जंजाल को छोड़ने की बात कहते हैं। [२४] साधना-भेद के कारण थोड़ा प्रकार-भेद अवश्य है, परन्तु इन साधनाओं में मूल तत्त्व एक ही हैं, इसमें संदेह नहीं। तीनों साधना-धाराएं योग की क्रियाओं, परिभाषाओं और अनुभूतियों को अपनाती हैं—कोई कम, कोई अधिक—और तीनों अहिंसा, दया, क्षमा, नियम, संयम, अपरिग्रह जैसे नैतिकता-मूलक तत्त्वों को मूल-भित्ति मानती हैं।

ऊपर जिन तीन प्रमुख मध्ययुगीन धाराओं का हमने उल्लेख किया वह मूलत: भारतीय हैं। मध्ययुग में पश्चिम की ओर से एक नई, परन्तु विदेशी साधना-धारा ने प्रवेश किया। यह सूफ़ी साधना-धारा थी। परन्तु मध्ययुग की अन्य धाराओं में और इसमें किंचित भी विभिन्नता नहीं है। सूफ़ी भी कायानिष्ठ ईश्वर और अद्वैत साधना को प्रधानता देते हैं। वे भी बाह्याचारों और कर्मकांडों के विरोधी हैं और जाति-कुल-भेद नहीं मानते। कुछ बातों में महत्वपूर्ण अंतर भी है, परंतु यह अंतर ही उन्हें स्पष्ट रूप देता है। अन्यथा मध्य युग के साधना-प्रवाह में सारी असमानता का लोप हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्ययुग (७००-१४०० ) में साधना की एक सामान्य धारा सारे उत्तरी भारत में प्रवाहित थी। सिद्ध, जैन और योगी विशिष्ट धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हुए भी एक ही प्रवाह के विभिन्न अंग बन गए थे। इस्लामी सूफ़ी धारा भी इस सामान्य प्रवाह की एक अभिन्न तरंग मात्र

---

मरु मरीचि गंधव-नअरी दापण-पडिबिंबु जइसा।
वाताऽत्ते सो दिढ़ भइआ, आये पाथर जइया॥
बाँझिसुआ-जिम केलि करई खेलहूँ बहुबिह खेला।
बालुअ-तेले सस-सिंगे आकाश फूलिला॥

२४ सुणौं हो देहल तजौ जंजालं

बन गई। कबीर की साधना मध्य युग की इसी सामान्य साधना-भूमि पर स्थित है।

## ( ३ )

## 'नाथ' और 'निरंजन' पंथ

कबीर की विचारधारा और उनकी साधना को भली भाँति समझने के लिये 'नाथ' और 'निरंजन' पंथ की विचारधारा का पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। कबीर के काव्य में नव नाथों का बार-बार उल्लेख आता है और उन्होंने परमसत्ता का 'निरंजन' नाम से भी स्मरण किया है। गोरखनाथ के साहित्य में भी निरंजन के संबंध में विवरण मिलते हैं परन्तु बाद में निरंजन काव्य और साधना की धारा योगधारा से अलग चलती दिखलाई देती है।

नाथ साहित्य और नाथ-साधना के प्रवर्तक गोरखनाथ हैं जिनका समय ईसा की ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी है। कहा जाता है कि ये पहले सिद्धसंप्रदाय में दीक्षित थे, परन्तु सिद्धों के रहस्य, वामाचार और सहज साधना के विरोध में उन्होंने शैवाद्वैतमूलक राजयोग की साधना को प्राधान्य दिया। इस साधना में बिंदु संचय ( ब्रह्मचर्य ) का प्रमुख स्थान था और हठयोग की चक्रभेद और कुण्डलिनी जगाने की साधना का भी समावेश था। गोरखनाथ ने मनुष्य की अधोमुख प्रवृत्तियों को चुनौती दी। उन्होंने अनुभव किया कि संसार विषयों में बहा जा रहा है।[२५] मनुष्य के भीतर अपार शक्ति है जो उसे मनुस्येतर बना सकती है। बिंदु-संचय, कुण्डलिनी-साधना[२६] और चक्रभेद एवं प्राणायाम से यह शक्ति

२५ चारि पहर आलंगन निंद्रा, संसार जाई बिखिया बाही।
ऊभी बाँझ गोरखनाथ पुकारै, मूल म हारौ म्हारा भाई॥

२६ अदेखि देखिवा देखि बिचारिवा अदिखिटि राखिवा चीया।
पाताल की गंगा ब्रह्मण्ड चढ़ाइबा, तहाँ बिमल जल पीया॥

जाग्रत और ऊर्ध्वमुख की जा सकती है। उन्होंने कहा—'न देखे हुए परब्रह्म को देखना चाहिये। देख कर उस पर विचार करना चाहिये। जो आँखों से देखा नहीं जा सकता उसे चित्त में रखना चाहिये। पाताल (मणिपुर चक्र) की गंगा (योगिनी शक्ति, कुंडलिनी) को ब्रह्म रंध्र, (ब्रह्मांड, सहस्रार या सहस्रदल कमल) में प्रेरित करना चाहिये। वहीं पहुँच कर (योगी साक्षात्कार रूप) निर्मल जल पीता है।' 'यह परब्रह्म सहस्रार या ब्रह्मरंध्र (शून्य) में ही निवास करता है। यहीं वह गुप्त (आलोप) है। तीनों लोकों की रचना यहीं से हुई है। ब्रह्म का ही सिद्ध स्वरूप यह ब्रह्मांड है। ब्रह्मरंध्र रूप केन्द्र से ही उसने अपना सर्वदिक् प्रसार किया है। ऐसा जो अक्षय परब्रह्म सर्वदा हमारे साथ रहता है, उसी को प्राप्त करने पर अनंत सिद्ध योगमार्ग से प्रवेश कर योगेश्वर हो जाते हैं।'[२७] कबीर के साहित्य में जिस 'उन्मनि' दशा, अजपा और अनाहद का उल्लेख है वह मूल में गोरखनाथ के साहित्य में ही मिल जाते हैं। वहिर्मुख मन को अंतर्मुख करना 'उन्मनि' दशा को प्राप्त करना है। अजपा अंतर्जाप है। अनाहद नाद साधना की सर्वोच्च स्थिति में आकाशमंडल (ब्रह्मरंध्र) में सुनाई पड़ता है। गोरखनाथ कहते हैं—'जो रात-दिन वहिर्मुख मन को उन्मनावस्था में लीन किये रहता है, गम्य जगत की बातें छोड़ कर अगम्य आध्यात्मिक क्षेत्र की बातें करता है, वह सब आशाओं को छोड़ देता है, कोई आशा नहीं रखता, ब्रह्म उसका दास है।'[२८] 'जो अजपा का जाप करता है, ब्रह्मरंध्र (शून्य) में मन को लीन किये रहता है, पाँचों इंद्रियों को अपने वश में रखता है, ब्रह्मानुभूति रूप अग्नि में

---

२७ इहां ही आछै इहां ही आलोप। इहां ही रचिलै तीनि त्रिलोक।
आछै संगै रहै जूवा। ता कारणि अनंत सिधा जोगेस्वर हूवा॥

२८ अहनिसि मन लै उनमन रहै, गम की छांडि अगम की कहै॥
छाड़ै आसा रहै निरास, कहै ब्रह्मा हूँ ताका दास॥

अपने भौतिक अस्तित्व (काया) की आहुति डालता है, योगीश्वर महादेव भी उसके चरणों की बंदना करता है'।[२९] 'गगन में अनाहद नाद की गर्जना हो रही है, खड़े, बैठे, सोते हर घड़ी उसे लेना (सुनना अथवा उस पर ध्यान लगाना) चाहिये, कभी चित्त भंग न करना चाहिये।'[३०]

गोरखनाथ ने हठयोग की सारी पारिभाषिक शब्दावली को अपना लिया है और अपनी साधना की अभिव्यंजना के लिए नये-नये प्रतीकों का आविष्कार किया है। वह अपनी साधना को 'मीन का मारग' भी कहते हैं। इस साधना में मन को अपनी मूल निर्लिप्त अवस्था को प्राप्त करना होता है। शुक्र-साधना इस साधना की पहली सीढ़ी है। ऊर्ध्वरेतत्व के बाद प्राणायाम और चक्रभेद का स्थान है। साधक धीरे २ ऊँचे स्तरों पर पहुँचने लगता है और उसे सिद्धियों की प्राप्ति होती है। परन्तु सच्चा योगी सिद्धियों के भुलावे में नहीं आता। साधारण हठयोग सिद्धियों पर समाप्त हो जाता है, परन्तु गोरख का हठयोग ब्रह्मसाक्षात्कार का एक उपाय मात्र है। यही उसकी सार्थकता है। मन की शून्यावस्था (उन्मनि) की प्राप्ति के बिना यह संभव नहीं। वास्तव में ब्रह्मानुभूति ही एक मात्र सत्य है। गोरखनाथ कहते हैं—'ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ है सब माया के अन्तर्गत है, ब्रह्मानुभूति तक पहुँचने के लिये जितने साधन हैं वह भी माया के अंतर्गत हैं। माया की तूंबी में बीजरूप से समस्त त्रैलोक्य, त्रिकुटी (त्रिवेणी) और सूर्य-चंद्र भी समाये हुए हैं।[३१]

२९ अजपा जपै सुंनि मन धरै, पाचौं इंद्री निग्रह करै।
ब्रह्म अगिनि मैं होमै काया, तास महादेव बंदै पाया॥

३० ऊभां बैठां सूतां लीजै। कबहू चित भंग न कीजै॥
अनहद सबद गगन मैं गाजै। प्यंडे पड़ै तो सतगुर लाजै॥

३१ तूंबी मैं तिरलोक समाया त्रिबेणी रवि चंदा।
ब्रह्मोरे ब्रंभ गियानी अनहद नाद अभंगा॥

गोरखनाथ माया से छुटकारा पाने के लिए अनाहतनाद सुनने की शिक्षा देते हैं। धीरे-धीरे साधक को अद्वैत की अनुभूति होती है। वह अपने भीतर ही शिव-शक्ति का खेल देखने लगता है। यह शिव-शक्ति सगुण शिव-पार्वती नहीं हैं। गोरख ने शिव-शक्ति को पौराणिक रूप में नहीं, प्रतीक रूप में ही लिया है। वह कहते हैं—'आत्मा सर्वोत्तम देवता है। वही गुरु है, वही परतत्त्व शिव है। वह शरीर के भीतर ही है। इसकी सेवा तो नहीं जानते, अन्य देवताओं को पूज-पूज कर व्यर्थ ही मरते हो। नवद्वारों ( इन्द्रियों के नौ रंध्रों ) में नवों नाथ हैं। त्रिवेणी ( त्रिकुटी ) में जगन्नाथ ( सोपाधिक ईश्वर ) हैं। दशम द्वारा ( ब्रह्मरंध्र ) में केदार-नाथ ( शिव, स्वयं परब्रह्म ) हैं। यदि योग की सार मुक्ति प्राप्त हो जाय तो संसार पार उतर जाये।'[३२] एकाध स्थान पर शिव के स्थान पर राम का भी प्रयोग है। एक स्थान पर गोरखनाथ कहते हैं—'परब्रह्म रमता राम ने चौगान का खेल खेला। अभिमान में क्यों भूलते हो। पृथ्वी और आकाश के बीच में कोई अंतर नहीं। यह अंतर न मानना अर्थात् अभेद दृष्टि ही कैवल्य मुक्ति को वृहद् मैदान है। एक ( परब्रह्म ) ही में अनंत सृष्टि का वास है और अनंत सृष्टि में एक ही परब्रह्म का निवास है। उस एक ही ने इस अनंत सृष्टि को उत्पन्न किया है। जब हृदय

---

३२ गुरदेह स्यंम देव सरीर भीतरिये।

आतमा उत्तिम दैव ताही की न जाणौ सेव
आन देव पूजि-पूजि हमही मरिये ॥ टेक ॥
नवे द्वारे नवे नाथ, तृबेणी जगंनाथ, दसवें द्वारि केदारां
जोग जुगति सार तौ भौ तिरिये पारं ॥
कहंत गोरखनाथ विचारं ॥

में उस एक से परिचय प्राप्त हो जाता है, तब सारी अनंत सृष्टि सब ही में समा जाती है।'[२३]

संक्षेप में, यह गोरखनाथ के आध्यात्मिक विचारों की रूपरेखा है। यह निश्चय है कि जिसे गोरख ने शिव या रमता राम कहा है, वह निर्गुण ब्रह्म ही है। ब्रह्मानंद के उनके वर्णन भी औपनैषदिक ऋषियों और संतों के वर्णनों से भिन्न नहीं हैं। परन्तु उनकी साधना इन दोनों से किंचित भिन्न अवश्य है। औपनैषदिक ऋषि ज्ञान को प्रधानता देते हैं। संत अद्वैतात्मक मिलन-वियोग की अनुभूति को परन्तु योगी प्रणायाम, चक्रभेद और उर्ध्वरेतत्व के द्वारा यही ब्रह्मानुभूति प्राप्त करना चाहते हैं। यह सच है कि इस प्रकार की साधना सर्वसुलभ नहीं है। यह साधना रहस्य और गुह्य की ओर ही अधिक झुकती है। इस दिशा में यह सिद्धों की साधना के अधिक भिन्न नहीं है। उसकी नैतिक स्तर अवश्य बदला है। इसीलिए उसमें संध्याभाषा और उलटवाँसियों का भी प्रयोग हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि योगियों की साधना मध्ययुग की सामान्य साधना नहीं बन सकी, परन्तु उसने सभी साधना-धाराओं को प्रभावित अवश्य किया। संतों ने अपने अनुभवों को उन्हीं की भाषा में प्रकाशित किया और अपनी अनन्य भक्ति की साधना में उनसे भी बहुत कुछ लिया।

निरंजनी धारा का स्पष्ट रूप हमें कबीर के बाद या उनके समय में मिलता है। पहले प्रसिद्ध निरंजनी हरिदास हैं जिनका समय १५२० ई० और १५४० ई० के बीच में है। ये गोरख और कबीर की बाणियों से

---

२३ रमि रमिता सौं गहि चौगानं, काहे भूलत हौ अभिमानं ॥
धरन गगन बिचि नहीं अंतरा। केवल मुक्ति मैदानं ॥ टेक ॥

एक में अनंत अनंत मैं एकै, सबै अनंत उपाया ॥
अंतरि एक सौं परचा हूवा, तब अनंत एक मैं समाया ॥

विशेष प्रभावित हुए और इन्होंने गुरुरूप में इन दोनों की बन्दना की है। परन्तु जान पड़ता है, निरंजन धारा राजस्थान में बहुत पहले से चली आती थी। १००० ई० के लगभग की योगीन्दु ( जोइंदु ) और रामसिंह की रचनाओं में निरंजन मत का आदिरूप दिखलाई पड़ता है। ये जैन साधु थे परन्तु इनकी विचारधारा पर योगमत का गहरा प्रभाव है। उनकी अलख-निरंजन की व्याख्या कबीर के निर्गुण ब्रह्म की व्याख्या से अधिक भिन्न नहीं है। उन्होंने अपने योग को 'निरंजन योग' कहा है। वह शून्यपद के ध्यान और समरस-भाव को सर्वोच्च साधना मानते हैं। परवर्ती योगियों की भाँति उनकी विचारधारा भी अद्वैत भाव पर आश्रित है। बाद में इस पंथ की उनकी विचारधारा गोरखनाथ और कबीर को भी स्वीकृत हुई। परन्तु कबीर में यह प्रभाव गोरखनाथ के माध्यम से आया, स्वतंत्र रूप से नहीं। यह शोक का विषय है कि अभी इस धारा का किंचित भी अध्ययन नहीं हो पाया है।

१००० ई० से १४०० ई० तक गोरखनाथ की विचारधारा और उनकी साधना का बोलबाला रहा। सारा भारतवर्ष योगियों से भर गया था और उनके चमत्कारों की कहानियाँ बलख-बुखारा तक फैल गई थीं। संभव है, पश्चिम की सूफ़ीधारा पर भी इसका प्रभाव पड़ा हो। ऐतिहासिक अध्ययन से यह पता चलता है कि ७वीं—८वीं शताब्दी में ही योग के कुछ संस्कृत ग्रंथ फ़ारसी में अनूदित हुए थे और इन अनुवादों की परम्परा बराबर चलती रही। गोरखनाथ के बाद भारतीय साधना के क्षेत्र में दो नई और महत्वपूर्ण शक्तियाँ आईं। एक शक्ति सूफ़ी इस्लामी साधकों की थी जिन्होंने लाहौर, मुलतान, पानीपत, अजमेर और जौनपुर जैसे स्थानों पर केन्द्र बना लिये। दूसरी शक्ति रामानंद की थी। रामानन्द के समय के संबंध में मतभेद है परन्तु यदि उन्होंने ही कबीर में राम की ज्योति जगाई तो वह १३५०—१४५० के बीच में अवश्य उपस्थित है। कहा जाता है कि रामानन्द ने ही द्राविड़ी भक्ति को उत्तर भारत

में पहुँचाया। रामानन्द जाति-वर्ण-भेद नहीं मानते थे और कदाचित् उन्होंने मुसलमानों को भी वहिर्मुख नहीं किया। कबीर स्वयं मुसलमान जुलाहे थे। इन दो नई शक्तियों के कारण गोरखनाथ के योग का रूप धीरे-धीरे बदलने लगा। जहाँ एक ओर रामानन्द और उनके गुरु राघवानन्द ने योग को भक्तिरस से कोमल बनाया, वहाँ मुसलमान सूफ़ी साधकों ने योग-संप्रदायों और प्रचलित भक्तिवाद से बहुत लिया। इस प्रकार एक मिली-जुली सामान्य साधना और विचारधारा का जन्म हुआ जिसमें योग, सूफ़ीमत, औपनिषदिक ब्रह्मवाद ( निर्गुणवाद ) और भक्ति का बहुत सुन्दर समन्वय था। इस समन्वय को समझे बिना कबीर के काव्य के अंतस्तल तक पहुँचना असंभव है। आलोचकों ने कबीर को या तो अवधूत ( योगी ) बना दिया है या सूफ़ी ( ज़िंद ) या ब्रह्मवादी निर्गुण मात्र, या वैष्णव भक्त। कबीर का व्यक्तित्व जहाँ आध्यात्मिक साधना के लिए इन सब विचारधाराओं और साधनाओं को समेट कर चलता है, वहाँ उनकी दृष्टि नहीं जाती।

( ४ )

## सूफ़ी मतवाद

सूफ़ी मतवाद और भारत की मध्ययुगीन विचारधारा में विशेष अंतर नहीं है। खोजियों का कहना है कि ईरान का सूफ़ी मत अपने सभी महत्व-पूर्ण सिद्धांतों के लिए भारत का ऋणी है। बौद्ध सिद्धों और भारतीय वेदांतवादियों का सूफ़ीमत पर व्यापक प्रभाव है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मादन-भाव से परमसत्ता से संबंध जोड़ना भी मूलतः भारतीय भावधारा है जो द्रविड़ों के समय से कबीर के समय तक बराबर चली आती है। अण्डाल और मीरा का काव्य इस भारतीय परम्परा की घोषणा-मात्र है। आठवीं शताब्दी में सूफ़ीमत को विशिष्ट रूप मिला और इससे संदेह नहीं कि प्रारंभिक सूफ़ी सरन द्वीप ( भारत ) के सिद्धों के आनंदवाद

( परम सुक्ख ) और दक्षिण के भक्तों की मादन भाव की उपासना से पूर्णतया: परिचित थे। सूफ़ीमत में धीरे-धीरे जिस गुह्यता और भक्ति का योग हो गया, उसके मूल इसी देश में पहले से विद्यमान है। अनेक योग-परक ग्रंथों ने भी ईरान के सूफ़ी मतवाद को विशिष्ट रूप देने में सहायता की है। प्रसिद्ध स्पेनिश विद्वान अरबी (१२१२ ई०—१२५२ ई०) ने अमृतकुंड के अनुवाद ' मिरातुलमानी ' को संशोधित रूप में उपस्थित किया। वह अपने जीवन के किसी न किसी काल में इस देश में आये और उन्होंने इस देश की भक्ति और रहस्यवाद की परंपराओं से परिचय प्राप्त किया। १४०० ई० के बाद तो भारत स्वतंत्र रूप से सूफ़ियों का एक बड़ा केन्द्र बन गया और इस केन्द्र में ईरानी सूफ़ीमत से विशिष्ट एक भारतीय सूफ़ीमत का विकास हुआ। इसमें संदेह नहीं कि कबीर की साधना और विचारधारा इस भारतीय सूफ़ी मतवाद से ओतप्रोत है।

सिद्ध, योगी और वेदांती की तरह सूफ़ी भी जीव-ब्रह्म के अद्वैतभाव ( अन-अल-हक्क़ ) में विश्वास करता है। सूफ़ियों की साधना यही है कि वह 'अन-अल-हक्क़' ( सोऽहं ) का अनुभव कर सकें। यह अनुभव बड़ी साधना के बाद प्राप्त होता है। योगियों की भाँति सूफ़ी भी विश्वास करता है कि जो पिंड में है, वह ब्रह्माण्ड में है। इसीलिए इस शरीर में भीतर ही अद्वैतस्थिति की अनुभूति प्राप्त की जा सकती है। योगी चक्रभेद में आस्था रखता है। सूफ़ी साधना में चक्रों का स्थान 'मुक़ामातों' ने ले लिया है यद्यपि भावना में विशेष भेद नहीं है। साधना के द्वारा साधक सूफ़ी धीरे-धीरे ऊंचा उठता जाता है। सूफ़ी साधना की सबसे पहली सीढ़ी ' शरीअत ' है। इसके अंग हैं तोबा (उन बातों का त्याग तथा पश्चात्ताप जो अल्लाह के रास्ते में बाधक हैं , ज़हद ( उन बाधाओं से लड़ना, ) सब्र (संतोष), शुक्र ( अहंभाव का नाश ) , रिज़ाअ ( अल्लाह के प्रति आत्मसमर्पण ) , खौफ़ ( दंड-भय ) , तवक्कुल ( अपरिग्रह ), रज़ा (तटस्थ होकर अल्लाह का ध्यान) , फ़िक्र ( नाम-जप ) और 'मोहब्बत' ( रति-भाव या मादन

भाव से अल्लाह के प्रति प्रेमनिवेदन । यह स्पष्ट है कि भक्ति के नवधा या दशधा अंगों से यह अंग भिन्न नहीं हैं। धीरे धीरे मोमिन साधक सालिक बन जाता है। तब उसे 'मुरशिद' ( गुरु ) की आवश्यकता पड़ती है। मुरशिद उसे ' जेहाद' ( चित्तवृत्तियों के निरोध ) की शिक्षा देता है। चित्तवृत्तियों के निरोध से सालिक में मुआरिफ़ ( प्रज्ञा ) का जन्म होता है। मुआरिफ़ के उदय होने से साधक ( सूफ़ी ) अल्लाह के स्वरूप की चिंता करने लगता है। विरह उसकी साधना बन जाता है। इसके बाद वह 'मारफ़त' और 'हकीक़त' के क्षेत्रों में पहुँचता है। इस अवस्था तक पहुँच कर सूफ़ी कर्मकांड-निर्पेक्ष हो जाता है। उसे कुछ करने को नहीं रह जाता। मुआरिफ़ के जाग्रत होने से सूफ़ी को अल्लाह के जमाल के दर्शन होते हैं। वह अल्लाह के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है। इस साधना का अंत वस्ल ( आध्यात्मिक मिलन ) में होता है। धीरे-धीरे साधक फ़ना ( शून्यता, निवार्ण या परमपद ) की दशा तक पहुँच जाता है। उसे स्मरण नहीं रहता कि वह प्यारे से भिन्न है और अंत में द्वन्द्वों से ऊपर उठकर वह 'अनअल-हक्क़' ( मैं हक़ हूँ ) चिल्लाने लगता है। वस्ल ( शून्यता ) की प्राप्ति के बाद अहंकार का नाश हो जाता है और 'बक़ा' का आनंद प्राप्त होता है। वस्तुतः 'फ़ना' और 'बक़ा' में विशेष अंतर नहीं है। जो परमात्मा की दृष्टि से 'बक़ा' है, वही जीव की दृष्टि से 'फ़ना' है।

सूफ़ियों का अल्लाह निर्गुणियों में सर्वान्तर्यामिन, निर्गुण, निराकार ब्रह्म से भिन्न नहीं है। उसमें विरोधी गुणों का समाहार ( कमाल ) है। वह महान ऐश्वर्य और शक्ति का केन्द्र ( जलाल ) है। परन्तु सूफ़ी को उसके ज़ात ( एकता, नित्यता, सत्यता, सर्वाभौमिकता इत्यादि ) और जमाल ( उदारता, माधुर्य, क्षमा आदि ) पक्षों में ही अधिक आस्था है। वैष्णव भक्त माधुर्य, क्षमा, उदारता इत्यादि को प्रधानता देते हैं, परंतु वे अवतारवाद और साकारोपासना में भी आस्था रखते हैं। सूफ़ी और संत

अवतारवाद और साकारोपासना द्वारा सर्वव्यापिन् परमतत्त्व को छोटा नहीं करना चाहते। वह निर्गुण परब्रह्म के माधुर्य और प्रेम के ही उपासक हैं।

सूफ़ियों की 'अन-अल-हक्क़' ( सोऽहं ) की साधना मुख्यतः ज़िक्र (नाम-जप) और इश्क (विरहभाव) की साधना है। सूफ़ी दिनरात उस महा-मिलन की आकुलता का अनुभव करना चाहता है जो अनन्तः जीव-ब्रह्म को एक कर देगी। सूफ़ियों का विश्वास है कि क़ल्ब (हृदय की अंतर्वृति के) परिमार्जन से रूह में अल्लाह से मिलन की आकुलता का जन्म होता है और अंत में सूफ़ी 'सिर्र' की स्थिति को प्राप्त होता है। इस स्थिति में रूह अल्लाह के लिए तड़पती है। यह वैष्णवों की ' महाभाव ' की परमस्थिति ही है। अक्ल ( बुद्धि विलास ) और नफ़्स ( चित्तवृत्ति ) साधक के मार्ग में बाधक हैं। इनका सबसे बड़ा अस्त्र है 'खुदी' (अहंकार)। सूफ़ी खुदी से लड़ता है और अंत में खुदी ( अहंभाव ) को मारकर क़ल्ब ( प्रज्ञा या सहज ज्ञान ) की सहायता से 'अनलहक्क़' की दशा को प्राप्त होता है। मादन-भाव और विरह की पीर इस परिणिति को सूचित करते हैं।

( ५ )

## संत-विचारधारा

गोरखनाथ का नाथ-संप्रदाय जिस प्रकार सिद्ध संप्रदाय का ही परिवर्तित, आस्तिक, शैव और आत्मवादी रूप है, उसी प्रकार संत-संप्रदाय नाथ-संप्रदाय से ही फूटे हैं, इसमें संदेह नहीं। समय की परिस्थिति के साथ विचारधाराओं में आदान-प्रदान आवश्यक है। नई परिस्थितियाँ पुरानी चलती हुई धाराओं को नया रूप दे देती हैं। अनीश्वरवादी बौद्धमत ने ईश्वरवादी वैष्णव, शैव और योग मतों के प्रभाव से युगांतर

में नाथ-मत का रूप ग्रहण कर लिया। नई परिस्थितियों ने इस प्रभाव को और आगे बढ़ाया। धार्मिक क्षेत्र में कई बड़ी शक्तियाँ आ गई थीं। सूफ़ी निर्गुण रहस्यवादी ही थे। वैसे तो हिंदी प्रदेश को सूफ़ियों का परिचय १००० ई० के बाद से ही होने लगा था, परन्तु चौदहवीं शताब्दी तक हिंदू धर्मवेत्ता सूफ़ी विचारधारा से विशेष परिचित हो गए होंगे। इस सारे समय से हिंदुओं की दृष्टि से अराजकता का राज रहा, अतः मंदिर-विध्वंसकों के विरुद्ध जहाँ एक दल धर्म की नई-नई व्यवस्था देकर हिंदू भावना को नया पौराणिक रूप दे रहा था, वहाँ कुछ स्वतंत्र विचारकों ने (जैसे ज्ञानदेव, नामदेव और रामानन्द) मूर्ति-पूजा के प्रतीक-रूप को लोगो के सामने रखा और मूर्त्त को अमूर्त्त की ओर बढ़ने का प्रयास मात्र कहा। निम्न वर्गों के लोगों ने (जिन्हें मंदिर-प्रदेश निषिद्ध था और जो वर्णव्यवस्था से दुखी थे) इस संदेश का स्वागत किया और कबीर जैसे मुसलमानी प्रभाव में पले मुसीलमान व्यक्तियों को भी यह मतवाद अच्छा लगा। सूफ़ी विचारधारा और इस नये आध्यात्मिक दृष्टिकोण में कोई विशेष अंतर नहीं था। नामदेव का समय ११९२ ई०—१२७२ ई० है और ज्ञानदेव (ज्ञानेश्वर) का समय ११९७—१२७८ ई० है। रामानन्द का समय १२९९—१४११ ई० है। परन्तु रामानन्द की विचारधारा का पूर्व रूप उनके गुरु राघवानंद में मिलता है जिनका समय एक पीढ़ी पहले १२७५ ई० के आस-पास रखा जा सकता है। इन सब की विचारधारा में बहुत साम्य है और इसके आधार पर संतकाव्य का समय १२५० ई० के लगभग आरंभ होता है। विद्यापति (१३५०-१४२५) की कविता में संत-विचारधारा की झलक इस मत को पुष्ट करती है।

नामदेव और रामानन्द की कुछ कविताएँ 'आदि' ग्रंथ में सुरक्षित हैं, परन्तु ज्ञानेश्वर की कविताएँ अलभ्य हैं। उनकी दो कविताएँ इस प्रकार हैं--

१ निरगुन सागर अथाह पसारा ।
वाको तरँग सकल संसारा ।।
उद्भव प्रलयहिं वाते होई ।
लेना एक और देना दोई ।।
सप्तहि सागर शायी कर्त्ता ।
धरती जो कागद लिखो पंडिता ।।
एक अक्षर पढ़े न कोई ।
लेना एक और देना दोई ।।
कहे ज्ञानदेव मन यौं धरियो ।
सप्तहि सागर आगे धरियो ।।
पिंड में आवे–जावे कोई ।
लेना एक न देना कोई ।।[१४]

२ सोही कच्चा वे कच्चा वे ।
नहीं गुरु का बच्चा ।। टेक ।।

दुनिया त्यज कर खाक लगाई जाकर बैठा बन मों ।
खेचरि मुद्रा वज्रासन यों, ध्यान धरत है मन मों ।।
तीरथ करके उम्मर खोई, जोग जुगुत करों सारी ।
धन कामिनि औ 'कुंजर लागे जोग कमाया भारी ।।
गुप्त होम कर परगट होये, गोकुल मथुरा कासी ।
सिद्ध जू डुबे प्राण निकाले, सत्य लोक के बासी ।।
शास्त्र में तो कुच नहिं रहया, पुरान गायन भाया ।
भेदविदी का मारग चलहा, तन का लग का लीया ।।

× [१४] साहित्य-सम्मेलन रिपोर्ट-पत्रिका: लेखक भास्कर रामचंद भालेराव ।

कुण्डलिनी कूं खूब चढ़ावे, ब्रह्म रंध्र को जावे।
चलता है पानी के उप्पर, बोलत होवे सोई॥
हुकुम निवृत्ति का ज्ञानेश्वर कूँ, तीन उप्पर सेना।
सद्गुरु की कृपा भई जा पर, आपी आप पिछाना॥

ज्ञानेश्वर ने 'अमृतानुभव' और 'ज्ञानेश्वरी' ( गीता की टीका ) में अपनी गुरु-परंपरा इस प्रकार दी है—१ आदिनाथ ( जालंधरनाथ ) २ मत्स्येन्द्रनाथ ३ गोरखनाथ ४ गहनीनाथ ५ निवृत्तिनाथ ६ ज्ञानेश्वर। श्रीयुत लक्ष्मण रामचंद्र पांगारकर ने अपने 'ज्ञानेश्वर चरित्र' में गहनीनाथ की लिखी एक हिंदी पुस्तक 'गहनीप्रताप' का उल्लेख किया है जिसमें लिखा है—

गोरखसुत गहनी कहे, नाथ पंथ की बानी।
ग्यानी जानत गुरूपुत्र होत, सो हि चढ़े निरबानी॥

इस छंद में गहनीनाथ ने अपने को स्पष्ट रूप से नाथपंथ से संबंधित कर लिया है। डॉ० बड़थ्वाल ने गहनीनाथ की प्रसिद्धि का समय सं० १२८० (१२२३ ई०) माना है। निवृत्तिनाथ का जन्म सं० १२३० (११७३ ई०) में हुआ। जान पड़ता है, निवृत्तिनाथ से ही नई विचारधारा चली और योगी ज्ञानेश्वर ने गीता की भक्तिपूर्ण चिंता को भी इसमें स्थान दिया। डॉ० बडथ्वाल के अनुसार गोरखनाथ का समय १०५० सं० ( ९९३ ई०) के लगभग है। अतः यह असंभव नहीं कि गोरखनाथ से २०० वर्ष बाद योगियों में ब्राह्याचार की इतनी प्रधानता हो गई हो कि स्वयं योगियों में ऐसा दल उठ खड़ा हुआ जो नैतिक जीवन, सहज साधना और भक्ति पर बल देकर चलने लगा हो। ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन और रामानंद ही इस नई संत-विचारधारा के अग्रणी

× ३५ लक्ष्मीधर वाजपेयी—सरस्वती, भाग २६

हैं। इनकी अनेक वाणियाँ प्राप्त नहीं हुई हैं, परन्तु जो प्राप्त हैं उनसे संत विचारधारा को इस प्रकार रखा जा सकता है—मूल में वह ( ब्रह्म ) निर्गुण सागर है। यह सारा संसार तरंग की भाँति उसी का प्रसार है। धरती को काग़ज़ बनाकर स्वयं शेषशायी विष्णु भी उसके गुण लिखें तो पूरे नहीं होंगे। उस निर्गुण को पहचानने के लिए दुनिया तज कर बन में बैठने की कोई आवश्यकता नहीं, न खेचरी मुद्रा और वज्रासन की। जोग कमाने के नाम पर जोगी तीरथ-यात्रा करते रहते हैं, महंत बन जाते हैं, धन-कामिनी-कुंजर उनके पीछे लगे हुए। अपने को सत्यलोक का वासी बताते हुए चमत्कार दिखाते फिरते हैं। कुण्डलिनी-योग और पानी के ऊपर चलना जैसी अनेक क्रियाएँ व्यर्थ हैं। निवृत्ति ने ज्ञानेश्वर को उपदेश दिया है कि इनके ऊपर रहना। सद्‌गुरु की कृपा से ज्ञानेश्वर ( ज्ञानदेव ) ने अपना स्वरूप पहचान लिया।' 'साधु चाल चलो। कंथा भर रखो और निश्चिंत रहो। नासिकाग्र पर ध्यान, खेचरी मुद्रा, प्राणायाम, ऊर्ध्वरेतत्व, सूर्य-चंद्र ( प्राणायाम, इडा-पिंगला ) - समागम को उपादेय समझो। परन्तु चाहे हठयोगी बनो या तिलक-माला-सुमरिनी लो, सबसे बड़ी चीज़ है नामस्मरण जिसके बिना योग-वैराग्य फीके हैं ( योग-वैराग नाम मंत्र बिन फीका )। सद्‌गुरु को खोजो ( सद्‌गुरु मीले तो दुख-दालिद्र दूर करे ) [ *राघवानंद, सिद्धान्त पंचमात्रा* ]। साधु की संगत हरि की संगत है। नाम के समान न जोग-जग्य है, न तीरथ-व्रत, न दान। नाम जहाज़ है। वही एक अनेक रूपों में व्यापक है, जिधर देखो, वही है। चित्र-विचित्र माया में मोहित होकर बिरला ही उसे ढूँढ़ने चलता है। सब गोविंद है जैसे एक सूत्र में दस सहस्त्र मणियाँ; वह प्रभु सबमें ओतप्रोत है। जीव-ब्रह्म जैसे जल-तरंग फेन-बुद्‌बुद्। यह प्रपंच परब्रह्म की लीला है। वह ही मुरारी घट-घट व्यापी है। (*नामदेव*)। गुरु ने बताया ब्रह्म चोआ-चंदन से पूजने की चीज़ नहीं, वह तो मंत्र (नाम) में है। जहाँ जाइये वहाँ जल की भाँति भरा हुआ है (*रामानंद*)।

इस प्रकार आदि संत-भावना के में तत्त्व हैं ;

१—ब्रह्म निर्गुण है । 'हरि', 'मुरारी', 'राम' उसी ब्रह्म के नाम हैं। वही 'भगवान' है, 'गोविंद' है।

२—गुरु 'रमता ब्रह्म' है। सद्गुरु की खोज करो। वह (आध्यात्मिक) दुःख-दारिद्र्य को दूर करेगा।

३—ब्रह्म घट-घट व्यापी है।

४—संसार सत्य है। वह ब्रह्म का प्रपंच, लीला-मात्र है। असल में वह नहीं है।

५—जीव ब्रह्म है। जैसे जल-तरंग, फेन-बुदबुद।

६—हठयोग, ध्यान, खेचरी, प्राणायाम, ऊर्ध्वरेतत्व, कुंडलिनी-योग चाहे उपादेय हों, परंतु वह साधक को बहुत आगे नहीं ले जाते।

७—वाह्याचार—चाहे वह भस्म हो, या तीर्थयात्रा, या तुलसी-माला-चंदन, सब व्यर्थ हैं, असार हैं।

८—संत चमत्कार में विश्वास नहीं करता।

९—संत जोगियों-जैसे महंती अखाड़े नहीं बनाता, कंथा भर उसका अवलंबन है। संतोष उसका धन है।

१०—सबसे प्रधान साधन है नामस्मरण। रामानन्द के बारह शिष्य हैं: अनंतस्वामी (श्री आनंद), कबीर, रैदास, पीपा, सेन, महानंद, सुरसरानंद, भवानंद, सुखानंद, आशानंद, परमानंद। नाभादास ने रामानंद के इन १२ शिष्यों के दशधा भक्ति का आगर कहा है। महात्मा गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन निरंजनी संत तुलसीदास ने इस दशधा भक्ति के प्रकार यों बताये हैं: १ भजन २ कीर्तन ३ स्मरण ४ हृदय-कमल-स्थित ज्योतिस्वरूप ब्रह्म का ज्ञान (पादसेवन) ५ समस्त ब्रह्माण्ड में ब्रह्म का प्रतिरूप देखना (अर्चन), ६ साधु, गुरु और गोविन्द को एक समझ कर बंदना (बंदन), ७ हरिभक्ति (दास्य) ८ भगवान को मित्र

समझने की भावना और सब मार्गों में गोविंद की प्राप्ति पर विश्वास (सख्य) ६ दैन्य का भाव (आत्मनिवेदन)। इस नवधा भक्ति की संसिद्धि होने पर उसके उपरांत सर्वश्रेष्ठ प्रेमाभक्ति की प्राप्ति होती है, जो दशधा भक्ति का दसवाँ प्रकार हुआ। यह व्याख्या बाद की चीज़ है, परन्तु इससे निर्गुणियों के भक्ति-भाव पर प्रकाश पड़ता है। रामानन्द के शिष्यों में से हमें कई की रचनाएँ प्राप्त हैं। इन रचनाओं से ये नए सिद्धांत मिलते हैं:—

११—प्रभु को जानने के लिए दूर नहीं जाना है। जो पिंड में है, वहीं ब्रह्माण्ड में है। इसी मनुष्य-शरीर के भीतर परमात्मा का निवास है। इसी काया में नवनिधि की प्राप्ति होती है। यहीं देव, देवल, धूप-दीप-नैवेद्य सभी कुछ है। जो खोजता है, वह पाता है। उस कायास्थित परम तत्व को प्रणाम (*पीपा*)

१२—कमलापति, राजा रामराय, निरंजन, पूरन परमानन्द, गोविंद उसी ब्रह्म के नाम हैं। इस (ब्रह्म) राम की भक्ति रामानन्द ही जानते हैं। धूप-दीप-घृत से आरती सजाकर सेन पूजा को जाता है। ( *सेन* )

१३—मतवाला अवधू (अवधूत=योगी ) कहता है—'कलाली ( प्रतीकार्थ में गुरु) , एक प्याला दे। कलाली ने प्याला दिया, परंतु वह तीखा था, सिरका—जैसा था। जब अवधू ने पूछा कि कलाली यह क्य किया, तो वह बोला—" सच्ची मदिरा इस तरह सस्ती नहीं मिलती। पीने वाले का सिर ही इसका मोल है। इस प्याले (ज्ञानमृत) को पीने से अमर हो जाता है। सहज सुन्न में भट्ठी लगी है। चंद-सूर (इला-पिंगला) साक्षी हैं। गुरु की ओर देखकर रैदास प्याला पीता है ( *रैदास* )।

१४—सदना और धन्ना के पदों में विरह-प्रधान भक्ति के दर्शन-मात्र होते हैं। 'केवल एक बूँद जल के लिए चातक (साधक ) दुख पाता है। प्राण चला गया तो समुद्र मिला किस काम आयेगा। जब डूब गया,

तो नौका लाये, तो किसे चढ़ाओगे। न मैं कुछ हूँ, मेरा कुछ है भी नहीं। सदना तेरा जन है। अवसर रहे अपने नाम की लज्जा रख लो (सदना)। भटकते-भटकते कितने जन्म बीत गये। विषय-काम-सुख की खोज में मन रमा रहा, हरि-हीरा भूल गया। रे मन, तूने जाना नहीं। इस वृक्ष में मीठा फल कैसे लगेगा? त्रिगुणात्मक जगत से तेरी प्रीति बढ़ती गई। आवागमन के चक्र में तू पड़ता रहा। गुरु ने ज्ञान का धन दिया। प्रेम-भक्ति का सुख जाना। धरणीधर (ब्रह्म) को धन्ना ने धन रूप में पा लिया। (धन्ना)।

रामानंद और उनके शिष्यों की जो रचनाएँ हमें प्राप्त हैं, उनके सहारे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि रामानंद योग-भक्ति, सगुण-निर्गुण धाराओं के संगम पर खड़े थे। उनका झुकाव निर्गुणधारा की ही ओर था। उनके व्यक्तित्व और उनके जाति-पाति-विरोध ने उनके चारों ओर ऐसे व्यक्तियों को इकट्ठा कर दिया जो सभी वर्गों के थे—अधिकांश वहिष्कृत वर्गों के—परंतु थे बड़े प्रतिभाशाली। इनके व्यक्तित्व और इनकी काव्य-प्रतिभा ने शीघ्र ही निर्गुण मत को सारे उत्तर भारत का सामान्य धर्म बना दिया। निश्चय ही वैष्णव सगुण भक्तिधारा आचार्यों, महात्माओं और सवर्णों का बल पाकर चलती रही, परंतु १६ वीं शताब्दी तक उसको निर्गुण भक्तिधारा के सामने निर्बल बना रहना पड़ा। १६ वीं शताब्दी में महाप्रभु बल्लभाचार्य और महात्मा तुलसीदास के व्यक्तित्व और प्रचार के कारण सगुण भक्तिधारा प्रबल पड़ गई और उसी समय से संत कवियों को बराबर प्रभावित करती रही। परवर्ती संतों की रचनाओं में यह प्रभाव स्पष्ट है।

कबीर का समय १३९९ ई०—१५१८ ई० तक है। इस प्रकार पूरी एक शताब्दी तक भारतीय जनता पर निर्गुण विचारधारा अविच्छिन्न रूप से राज करती रही। कबीर के मतवाद में वह सब विचार और भावनाएँ मिलेंगी जो आदि संतों में ऊपर बताई गई हैं। परन्तु उनके

मुसलमान-कुल, उनके समय के हिन्दू-मुसलमान वैमनस्य और सूफ़ी प्रभाव के कारण कुछ नई बातें भी आ गई हैं : १—रामानन्द तक मूर्तिपूजा को प्रतीक-रूप मान कर उसका तीव्र विरोध नहीं किया गया। सेना के पद में आरती उतारने की बात है। निरञ्जन आरती नहीं, धूप दीप-घृत आरती। परन्तु इस्लामी प्रभाव के कारण कबीर ने मूर्तिपूजा का विरोध अधिक तीव्रता से किया और इस तीव्र विरोध ने संप्रदाय का रूप ग्रहण कर लिया। अब तक जो एक सामान्य विचारधारा चली आती है, वह संप्रदाय भावना में बँध गई। कबीर के बाद तो कबीर-पंथ नाम से एक विशिष्ट संप्रदाय ही खड़ा हो गया।

२—रामानंद स्पष्टत: नाथ पंथ से कोई विरोध नहीं रखते थे। उनके गुरु राघवानंद स्वयं प्रसिद्ध योगी थे और 'सिद्धांत पंचमात्रा' में राघवानंद ने रामानंद को जो उपदेश दिया है, उसमें योग का महत्वपूर्ण स्थान है। जहाँ उन्होंने बाह्याचारों का खंडन किया है, वहाँ वैष्णवों और योगियों के बाह्याडंबरों का भी खंडन किया। परन्तु वे ध्यान-धारणा-मुद्रादि का विरोध नहीं करते। कबीर का जन्म गोरखपुर के पास मगहर स्थान में हुआ था। इस स्थान से उनका निकट का परिचय था। यहीं उन्होंने शरीर छोड़ा। यह योगियों के निकट संपर्क में थे। अतः उन्होंने ध्यान-धारणा-जैसी दो-चार योग की बातें लेकर हठयोग को अस्वीकार कर दिया और 'सहज योग' ( नामस्मरण और विरह-भक्ति ) की प्रतिष्ठा की। उन्होंने योगियों के अनेक रहस्यवादी प्रतीक (प्याला, शराब, कलाली, कुण्डलिनी, इडा-पिंगला, सुन्न देश) ले लिये, परन्तु उनका नाथ-पंथ से गहरा विरोध था, यह 'गोरख-कबीर-गोष्ठी' जैसे सम्प्रदायिक ग्रंथों से स्पष्ट हो जाता है।

३—रामानंद और उनके अन्य शिष्यों की भाँति अनेक विषय ऐसे हैं जिनमें कबीर का मतवाद वैष्णव भावना से मिल जाता है। परन्तु सूफ़ी भावना भी अनेक पदों में स्पष्ट है। विरह की साधना के प्रकाशन में

कबीर ने सूफ़ी पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। परम्परा कबीर का संम्बन्ध सूफ़ी-संत शेख तक़ी से जोड़ती है, अतः इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उस समय सारे पश्चिम भारत में सूफ़ी मत का आधिपत्य था, यद्यपि पंजाब में इसके साथ नाथ-पंथ भी चल रहा था। सूफ़ी बंगाल तक फैल गये थे। मुसलमान मत के प्रचार में इनके व्यक्तित्व, प्रेमभाव और चमत्कारों ने विशेष योग दिया। यह स्पष्ट है कि सूफ़ी हिन्दू मत पर गहरा प्रभाव डाल रहे थे और दो-तीन शताब्दियों में नाथपंथियों के एकाधिकार को निर्बल करने में सफल हो गये थे। कबीर के प्रदेश में अब भी सूफ़ी भाव निर्बल नहीं थे। राघवानंद की 'सिद्धांत पंचाध्यायी' में सूफ़ियों के पहनाव ( टोपी-लुग्गी और अलफ़ी ) का उल्लेख है जो कदाचित् इस समय ( १३ वीं शताब्दी में ) योगियों ने ग्रहण कर लिया था। कबीर के काव्य में सूफ़ी विचारधारा अवश्य दिखलाई पड़ती है, यद्यपि 'बा-शरा' (सूफ़ी-शास्त्र-सम्मत) नहीं। उन्हें 'ज़िन्द' (बेशिरा = स्वतंत्रचेत्ता) कहा गया है। कबीर के बाद के संतों ने भी सूफ़ी विचारधारा से बहुत लिया है, विशेषतः नानक ने जो सूफ़ियों के गढ़ पंजाब के संत थे।

४ कबीर पर मुसलमानी ऐकेश्वरवाद का भी प्रभाव है। इसी ऐकेश्वरवाद ने उन्हें दैवतवाद के विरोध की शक्ति दी है। यह प्रभाव इस लिए अधिक नहीं मालूम होता कि कबीर राम-रहीम को एक ही धरातल दे देते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, नामदेव और रामानंद योगप्रवाह से अलग एक सामान्य भक्तिधारा के प्रवर्तक के रूप में आते हैं जो प्रतीक रूप में मूर्ति और अवतार को मान रही थी, परन्तु जिसका लक्ष्य मूर्त्त के आगे अमूर्त्त था। विसोबा (विट्ठल, पंढारपुर के विष्णु) के आगे नामदेव गद्गद्भाव से निर्गुण के गीत गाते थे और 'मंत्र' में ही ब्रह्म मानने वाले रामानंद सालिग्राम की मूर्ति का पूजा-विधान कर रहे थे। ज्ञानदेव और नामदेव की उत्तर-भारत की यात्राओं का

उल्लेख मिलता है, परन्तु वे उत्तर में अधिक नहीं रहे। रामानंद दक्षिण की भक्ति को उत्तर में लाये और काशी में ही बस गये। उन्होंने भी ज्ञानदेव और नामदेव की तरह विस्तृत यात्राएँ की होंगी, यह निश्चित है, पद में उन्हें 'रमत ब्रह्म' कहा गया है। रामानंदियों का विश्वास है कि रामानन्द श्री वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी थे, जिसके प्रवर्तक थे रामानुजाचार्य। कुछ दिन इस संप्रदाय में रहने के पश्चात् रामानंद इसके कठोर नियमों से क्षुब्ध हो गये और उन्होंने अपना प्रथक् पंथ स्थापित कर लिया। परन्तु रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद में उनकी आस्था बराबर वैसी है बनी रही। इस बात पर भक्तमाल के लेखक नाभाजी ने संकेत किया है। परन्तु रामानंद कट्टर विशिष्टाद्वैतवादी भी नहीं थे। यह इस बात से स्पष्ट है कि उनके संप्रदाय के मान्य ग्रंथ अद्वैतवादी रामकथा ग्रंथ अध्यात्म-रामायण और अगस्त्य-सुतीक्ष्ण-संहिता है। रामानन्द के शिष्यों के साफ़ दो वर्ग हैं। अनन्त स्वामी ( श्री आनंद ) महानंद, सुरसुरानंद, भावानंद, आशानन्द और परमानन्द का एक विशिष्ट वर्ग है। सम्भव है, ये शिष्य रामानन्द ने उस समय बनाये जब वे भी सम्प्रदाय में थे और इनके द्वारा रामोपासना और हनुमद्भक्ति का प्रचार किया। बाद में रामानंद ने इस शिष्यवर्ग से विच्छेद कर लिया जान पड़ता है, परन्तु इन शिष्यों की परम्परा ने रामानंदी सम्प्रदाय स्थापित कर लिया। सगुण दाशरथि राम और उनके पार्श्वद हनुमान की भक्ति इस सम्प्रदाय की विशेषता है। एक प्रवाद है कि रामानंद के किसी उदार-चित्त स्वतंत्र कार्य से वैष्णव चिढ़ गये थे और क्षुब्ध होकर रामानंद ने उन्हें छोड़ दिया था। जान पड़ता है, इसके बाद सम्प्रदाय के प्रति उनका मोह नहीं रहा और वे वर्णाश्रम की उपेक्षा करते हुए अछूतों, स्त्रियों और मुसलमानों को भी रामभक्ति का उपदेश देते रहे। कदाचित् इस उत्तर-काल में उन्होंने वाह्याचार की नितांत उपेक्षा की और निर्गुण राम पर अधिक बल दिया। उच्च वर्णों के संकीर्ण-प्राण हिन्दुओं ने इस नये संदेश की उपेक्षा

की, परन्तु निम्न वर्णों में उनका संदेश ख़ूब फैला। रामानंद का रामानन्दी रूप 'रामानंद आदेश' और 'सिद्धांतपटल' में अब भी सुरक्षित है। परन्तु उनके इस क्रांतिकारी रूप के खोज निकालने की आवश्यकता है जिसने कबीर आदि सन्तों के काव्य में प्रकाशन पाया है।

कबीर ने कोई संप्रदाय नहीं चलाया, न रैदास ने, परन्तु उनके बाद कबीर-पंथ और रैदासी-पंथ ख़ूब चले। कबीर-पंथ की तो शाखायें-प्रशाखायें बन गईं। अन्य गुरु-भाइयों के पंथ नहीं चले। वे आज भी अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के सहारे ही प्रेम और श्रद्धा पा रहे हैं। कबीर का क्षेत्र अवध रहा, यद्यपि वे पंजाब तक गये जान पड़ते हैं। रैदास का विशेष क्षेत्र राजस्थान रहा और वहाँ रैदासी महंतों की गद्दियाँ चल पड़ीं। हिन्दू राज्यों में ये स्वतन्त्र मत ख़ूब फले-फूले। चित्तौड़ की रानी झाली (मीराँ की पर-सास) रैदास की शिष्या थीं और स्वयं मीराबाई भी उदयपुर की रैदासी गद्दी की शिष्या रहीं होंगी। मीरा के काव्य में रैदास का नाम समसामयिक के रूप में लिया जाता है, परन्तु उस समय तक "रैदास" व्यक्तिवाचक नहीं, जातिवाचक शब्द हो गया होगा। मीरा पर 'रैदास' का प्रभाव सूचित करता है कि १६०० ई० तक राजस्थान में रैदासी संत मत की प्रधानता थी और मीरा के समय में ही ब्रज के धार्मिक आंदोलनों का प्रभाव वहाँ पड़ा। बल्लभ-कुल और चैतन्य संप्रदाय में मीराँ को दीक्षित करने की होड़ पड़ी थी—परन्तु मीराँ का अनुभव वैयक्तिक था, वे किसी संप्रदाय में नहीं बँधीं। इस प्रकार १२५० ई० से १६०० ई० तक हम संत-काव्य को सारे हिन्दी प्रदेश की धार्मिक भावना पर प्रमुख रूप से राज करते हुए पाते हैं। कबीरपंथ को विशेष रूप से धर्मदास ( १४१८—लगभग १५४२ ) ने संगठित किया। कबीर-सहित्य में जिन-जिन विषयों पर लिखा गया है उन्हीं विषयों पर धर्मदास ने भी लेखनी चलाई है परन्तु उनके साहित्य में वह भाग अधिक है जिसका सम्बन्ध पंथ की पूजा-विधि से है या आचार से। आरती, विनती, मंगल आदि

विषय वैष्णव-धारा का प्रभाव सूचित करते हैं। धर्मदास से कबीर की एक परम्परा चलती है, दूसरी परम्परा कबीर के पुत्र कमाल से। कमाल के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है—'डूबा बंश कबीर का उपजा पूत कमाल' अवश्य ही इस पंक्ति का लेखक धर्मदासी कबीरपंथी होगा। सच तो यह है कि उस समय भी हिंदू मुसलमान-समस्या इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि कबीर जैसे सुधारक भी उसे हल नहीं कर सका। अपने समय में कबीर हिंदू और मुसलमान दोनों के पूज्य रहे। हिंदी के कुछ विद्वान कबीर को मुसलमान मानते हैं; कुछ मुसलमान-पोषित। जान पड़ता है, कमाल में कबीर-पंथियों के विरुद्ध अपना स्वतंत्र मत चलाया। कदाचित् डा० ताराचंद का यह कहना ठीक हो कि कमाल पश्चिमी भारत के सूफ़ियों के सम्पर्क में आ गये थे और उनके साहित्य से भली भाँति परिचित थे। कबीरपंथी मुख्यतः हिन्दू थे, उनमें वैष्णवों की पूजा-भावना घुस आई थी, अतः कमाल उनसे अलग रहे। दादूदयाल ( दादू ) कमाल के ही शिष्य थे। कमाल का प्रधान क्षेत्र मुलसमान वर्ग ही था या ऐसा वयन-जीवी वर्ग जो मुसलमान बन गया था। अतः मुसलमानों में ही कमाल का विशेष प्रचार हुआ। कदाचित् कबीर के जीवन-काल में ही कमाल स्वतंत्र रूप से धर्मप्रचार करने लगे थे।

कबीर के बाद संत-साहित्य के सबसे महान कवि दादू ही हैं। इनकी कविता का एक अंग सूफ़ी साहित्य से बहुत निकट है। ऐसा लगता है जैसे वह सूफ़ी सिद्धान्तों की व्याख्या में ही लिखा गया है। अन्य सूफ़ियों की तरह दादू भी प्रेम के साधक थे। उन्होंने भगवान को इस तीव्र व्यक्तिगत भावना से स्मरण किया है कि उनके पदों में प्रेम-मिलन और विरह का अत्यंत सुन्दर और मार्मिक चित्र उपस्थित हो सका है। इन पदों में दादू जैसे उस निर्गुण, निराकार, चिन्मय ब्रह्म से मिलने के लिए तड़प ही उठे हैं। ऐसे पदों में हमें सगुण भक्त-कवियों के पदों के समस्त गुण मिल जाते हैं। इनके अतिरिक्त वीरभानु (१६०३), लालदास

(१६४२), हरिदास ( नारायणी पंथ के प्रवर्तक ), शिवरानी शिदोली, हरिराय पुरी, जदु, प्रतापमल आदि संतमत में आते हैं। वीरभानु ने सतनामी सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की और लालदास ने लालदासी सम्प्रदाय की। मलूकदास (१६६१—१७३६) और सुथरादास (मलूकदास के शिष्य) सत्रहवीं शताब्दी के बड़े संत हैं। कबीर के बाद संतधारा का विशेष प्रचार हिंदी के पश्चिमी प्रदेश में हुआ और अधिकांश संतपीठ पश्चिमी युक्त-प्रान्त, राजस्थान और पंजाब में ही मिलेंगे। दादूपंथ में दादू के अतिरिक्त सुन्दरदास, निश्चलदास, रज्जब, जयगोपाल, जगन्नाथ, मोहनदास, खेमदास आदि कवि और साधक हुए हैं। दिल्ली के दक्षिण-पूर्व दोआबा में साधपंथ ( वीरभानु, १६५८ ई० ) और पश्चिम में संतनामी पंथ चले। पंजाब में भी नानक ( १४६६-१५३८ ई० ) की रचनाओं ने एक नये पंथ का प्रवर्तन किया जिसे गुरु गोविंदसिंह ने 'सिख' धर्म में बदल दिया। औरंगजेब के समय में इन सन्त सम्प्रदायों को अपनी रक्षा के लिए तलवार सँभालनी पड़ी। १७४३ ई० में औरंगजेब और सतनामियों में नरनाल के समीप भीषण युद्ध का ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है। १७४३ ई० में जगजीवनलाल ने बारहबंकी ज़िले में इस मत की पुनः-प्रतिष्ठा की। सिखों के गुरुओं और दिल्ली के बादशाहों के संघर्ष की कहानी तो प्रसिद्ध ही है। जान पड़ता है इस्लाम के प्रवेश के समय से ही संत, संन्यासी और साधू-समाजों के सैनिक अखाड़े बन गए थे। इनमें आत्मरक्षा का भाव प्रबल था। एक हाथ में 'शस्त्र' (दंड) और एक हाथ में शास्त्र से ही उस भयंकर परिस्थिति में धर्म की रक्षा सम्भव थी। 'सिद्धान्त पञ्चमात्रा' में बेलची और तुमाची (तमंचे) को सन्यासी के लिए अनिवार्य कहा गया है। औरंगज़ेब के समय में यह धर्म विद्वेष बढ़ा और संतों को अपना सैनिक संगठन और भी दृढ़ करना पड़ा।

———

## २

# जीवनी और रचनाएँ

## ( १ )

कबीर, उनका व्यक्तित्व और उनका काव्य जन-समाज में इतने प्रचलित रहे हैं कि उनके संबंध में अनेक प्रकार की किंबदंतियाँ चल रही हैं और अनेक लोक-प्रसिद्ध बातों का आरोप कबीर के जीवनवृत्त और उनकी रचनाओं पर किया गया है। कबीर-पंथियों में तो कबीर साक्षात् ब्रह्म 'साहिब' ही ठहरे। वहाँ तो कबीर का असाधारण, अमानवीय और अयौनज होना ठीक ही है। परंतु कबीर के तेजस्वी व्यक्तित्व और उनकी तेजोमय वाणी के कारण कबीर-पंथ के बाहर भी कबीर को लेकर बहुत-कुछ मनगढ़ंत बराबर चली है। इस कुहासे से इतिहास-पुरुष कबीर को एकदम मुक्त कर देना अभी संभव नहीं है। कबीर का लोक-प्रसिद्ध जीवन-वृत्त अनेक चमत्कारों से भरा हुआ है और उसकी ऐतिहासिक परीक्षा करना बड़ा कठिन काम है। परन्तु ऐतिहासिक जीवनवृत्त का निर्माण किये बिना हम कबीर के व्यक्तित्व और उनके महत्व को पूर्णतयः समझ भी नहीं सकते।

### जनश्रुतियाँ

सबसे पहली महत्वपूर्ण सामग्री जो हमारे सामने आती है वह जन-श्रुतियाँ हैं। ये जनश्रुतियाँ बहुत-कुछ श्रद्धा-संचालित हैं, परन्तु उनमें ऐतिहासिक तथ्य बीज-रूप में मिल जाते हैं। यदि हम कबीर के समय को दृष्टि में रखते हुए और उनकी परिस्थितियों को समझते हुए उनकी जाँच

कर सकें तो हम कबीर के ऐतिहासिक जीवनवृत्त के बहुत निकट पहुँच सकते हैं।

जनश्रुतियों का वैज्ञानिक अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि ये धीरे-धीरे विकसित हुई है और इस विकास के कारण भी सहज ही खोजे जा सकते हैं। कबीर चाहे विधवा के पुत्र हों या नहीं, यह निश्चित है कि मुसलमान जुलाहे नीरू-नीमा के घर में उनका लालन-पालन हुआ। उनका नाम ही मुसलमानी नाम है। उनके हिंदू शिष्यों ने उनके जीवन के इस तथ्य की अनेक प्रकार से व्याख्या करनी चाही जिससे कबीर के बड़प्पन और उनके हिंदूपन में कोई अंतर नहीं पड़े। उन्हें कबीर को हिंदू जनता को स्वीकृत कराना पड़ा। जब कबीर अलौकिक ( सत्पुरुष ) मान लिये गये तब उनका तेज बढ़ाने के लिए चमत्कार पर चमत्कार जोड़ लिये गये। कुछ जनश्रुतियों का रूप इस प्रकार है :

( १ ) एक दिन कोई ब्राह्मण रामानन्द के समकक्ष उपस्थित हुआ। उसके साथ उसकी विधवा बेटी थी। रामानन्द ने उसे सुहाग का आशीर्वाद दिया। 'पुत्र हो'। रामानन्द का शब्द व्यर्थ नहीं जा सकता था। जब पुत्र उत्पन्न हुआ तो मा ने लोक-लाज के कारण उसे लहर-तलाब ( लहरतारा ) में कमल पत्र पर रख दिया। मुसलमान जुलाहा नीरू अपनी पत्नी नीमा का गौना कराकर लौट रहा था। उसने उठा लिया और लालन-पालन किया।

( २ ) एक दूसरी जनश्रुति के अनुसार जब रामानन्द को अपनी भूल का पता लगा तो उन्होंने बरदान दिया कि पुत्र हथेली से पैदा हो। इसीसे वह पुत्र 'करबीर' ( या कबीर ) कहलाया।

( ३ ) गोसाईं अष्टानन्द ने लहरतारा तालाब पर एक अद्भुत ज्योति उतरती देखी। उन्होंने रामानंद से कहा। रामानन्द ने कहा कि यह ज्योति अपार्थिव है।

(४) एक जनश्रुति यह भी है कि नीरू-नीमा पूर्व जन्म के ब्राह्मण थे जो पाप के कारण मुसलमान कुल में पैदा हुए थे।

(५) जब काज़ी ने कुरान खोलकर नाम निकालना चाहा तो सारा कुरान अल्लाह के नामों (कबीर, अकबर, किबरिया और किबरा इत्यादि) से भरा मिला। उन्होंने कहा, इस बालक को नष्ट कर दो। यह शैतान जान पड़ता है। परन्तु छुरी बालक के आर-पार निकल गई। बालक ने कहा—मैं तो ज्योति का बना हूँ।

ऊपर के चमत्कार कबीर के मुसलमान कुल और उनके कबीर नाम की वैष्णव व्याख्या-मात्र कहे जा सकते हैं।

(६) कई दिन तक बालक कबीर ने दूध नहीं पिया। इससे माता पिता को बड़ी चिंता हुई। अंत में एक बछड़े ने उन्हें चमत्कार-पूर्वक ढंग से दूध पिलाया।

(७) बचपन में ही वह अपने से बड़े वय के बालकों को धार्मिक सिद्धांतों की शिक्षा देने लगे और साधु संतों से तर्क-वितर्क करते थे।

यह उसी प्रकार के चमत्कार हैं जिस प्रकार के चमत्कार राम-कृष्ण के संबंध में वैष्णवों में प्रचलित हैं।

(८) बचपन में ही कबीर ने गो-हत्या का विरोध किया। उनके घर में जब गो-हत्या हुई तो वे अदृश्य हो गये। कई दिन तक नीरू-नीमा अन्न-जल रहित प्रार्थना करते रहे, तब कहीं कबीर घर लौटे। कबीर के इस कृत्य से ब्राह्मणों को बड़ी प्रसन्नता हुई।

संभव है, इस प्रकार की कोई घटना घटित हुई हो। हो सकता है, कबीर में आध्यात्मिक भाव रक्तपात और गो-हत्या देखकर ही जाग्रत हुआ हो। इस प्रकार की घटनाएँ असंभव नहीं हैं। कबीर भी महानात्माओं की भाँति बचपन से ही सहृदय और जिज्ञासु रहे होंगे। उनके काव्य में अहिंसा का स्वर सब से ऊँचा उठता है। परन्तु ब्राह्मणों की प्रशंसा की बात से यह भी स्पष्ट है कि इससे मुख्य घटना पर वैष्णव विश्वासों का भी रङ्ग

चढ़ा है। बीजक का दसवाँ शब्द इस घटना के प्रमाण-स्वरूप उपस्थित किया जाता है, परन्तु उस पद में सामान्य ढंग से बलि और कुरबानी का विरोध है। इस प्रकार का साहित्य कबीर और अन्य सूफ़ियों में प्रचुर मात्रा में मिलता है।

( ६ ) इसके बाद कबीर ने 'राम, 'गोविंद, 'हरि' जपना आरम्भ कर दिया। इससे उनके परिवार और मुसलमान समाज में हलचल मच गई। मुसलमानों ने उन्हें काफ़िर कहा। कुछ दिन बाद कबीर ने शरीर पर राम-नाम लिखना शुरू किया। वे माथे पर वैष्णवों की भाँति तिलक देते और जनेऊ धारण करते। इससे ब्राह्मण भी कम अप्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने उनकी निंदा की। वह 'निगुरुए' थे। उन्हें वैष्णव अचार-विचारों की हँसी उड़ाने का कोई अधिकार नहीं था।

( १० ) इस त्रुटि को पूरा करने के लिए कबीर ने रामानन्द के शिष्य होने की बात सोची। परंतु रामानंन्द कदाचित् मुसलमान जुलाहे के इस बालक को दीक्षित करने के लिए तैयार नहीं होते। फलतः कबीर ने एक नया ढंग सोचा। इसके बाद की कथा तो सर्वप्रसिद्ध है। गंगा के घाट पर तड़के के झुटपुटे में कबीर के शरीर पर पैर पड़ने पर रामानन्द ने 'राम, राम' कहा और कबीर ने उसे गुरू-मंत्र मान लिया। इसके बाद उन्होंने रामानन्द के शिष्यत्व की घोषणा कर दी। इससे हिंदू बड़े असंतुष्ट हुए। रामानन्द से पूछने पर उन्होंने कबीर की दीक्षा की बात को अस्वीकार कर दिया, परन्तु जब कबीर ने उनके पास आकर रहस्य बताया तो रामानन्द इस तरुण की धर्मजिज्ञासा और तेजस्विता पर मुग्ध हो गये और उन्होंने उसे अपनी शिष्य-मंडली में ले लिया।

वास्तव में इस घटना-घटाटोप की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। रामानन्द के जीवन और उनके विचारों से जो परिचित हैं वह जानते हैं कि उनका द्वार प्रत्येक जिज्ञासु के लिए उन्मुक्त था। 'हरि को भजै सो हरि का होई'—जिस महावैष्णव का यह सिद्धांत था, उसके

शिष्यत्व के पद के लिए कदाचित् कबीर को इतना आडंबर रचना नहीं पड़ा होगा।

जनश्रुति है कि कबीर रामानन्द के शिष्यों में सबसे तेजस्वी थे। एक दिन रामानन्द ने अपने मृत गुरु का श्राद्ध करना चाहा और अपने शिष्यों को दूध लेने के लिए भेजा। एक शिष्य ने लौट कर कहा— कबीर तो बूचड़-खाने के हड्डी के ढेर के पास खड़े हैं। कह रहे हैं, हमारे गुरु के लिए दूध दो। कबीर से पूछा गया तो उन्होंने कहा— भला मृत पुरुष के लिए जीवित गायों का दूध लाकर क्या करता ! श्राद्ध के लिए तो ऐसी गायों का दूध ही भला, जो परलोक पहुँच गई हों। और भी अनेक किंवदंतियाँ हैं। इन सब किंवदंतियों से कबीर के तेजस्वी व्यक्तित्व और उनकी विचारधारा पर प्रकाश अवश्य पड़ता है।

( ११ ) इसके बाद भी कबीर अपने माता-पिता के साथ रहकर अपना जुलाहे का व्यवसाय करते रहे। वह साधु-संन्यासियों का आदर-सत्कार भी करते और कभी-कभी इसके लिए उन्हें माता और पत्नी का उलाहना भी सहना पड़ता। 'आदिग्रन्थ' के अनेक पद इन जनश्रुतियों का समर्थन करते हैं। यह भी कहा जाता है कि लोगों ने कबीर से ताना-बुनना छोड़ने का आग्रह किया, परन्तु कबीर के उत्तरों ने उन्हें चुप कर दिया।

( १२ ) एक मुसलमानी जनश्रुति के अनुसार कबीर की पत्नी का नाम 'लोई' है। कबीर-पंथी तो लोई को कबीर की पत्नी के रूप में स्वीकार नहीं करते। वे उसे उनकी शिष्या मात्र और बनखंडी नामक बैरागी की पोष्य पुत्री बतलाते हैं। 'लोई' के संबंध में अनेक प्रकार की जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं और लोई-संबंधी कबीर के कुछ पदों को इनकी पुष्टि के लिए उपस्थित किया जाता है।

( १३ ) कबीर के दो सन्तानों कमाल और कमाली के सम्बन्ध में भी कई जनश्रुतियाँ चल रही हैं। उन्होंने इन्हें पुनर्जीवित करके अपना शिष्य मात्र बनाया। एक जनश्रुति कमाली को शेख़ तक़ी की पुत्री बताती

है। सात दिन के बाद कबीर ने उसे पुनर्जीवित किया। इस प्रकार की जनश्रुतियाँ चमत्कारवाद की ही द्योतक हैं। वैष्णव-भावना सन्यासी को गृहस्थ संत से बड़ा मानती है। फलस्वरूप कबीर-पन्थी गृहस्थ कबीर की बात सोचने से घबड़ाते हैं। कहा जाता है कि कमाली का विवाह सिन्ध के एक ब्राह्मण हरदेव से संपन्न हुआ, परन्तु हम उसके संबंध में कुछ भी नहीं जानते।

( १४ ) जनश्रुति बलख और बुखारा तक की लम्बी यात्राओं का उल्लेख करती है। वे शेख तक़ी को उनका 'पीर' बतलाती हैं और उनसे यह भी पता लगता है कि कदाचित् किसी कारण बाद में तक़ी और कबीर में विरोध चल पड़ा था। जनश्रुतियों में कबीर और तक़ी विरोधी और शत्रु माने गए हैं। कुछ जनश्रुतियों में उनके गोरखनाथ और किसी सर्वजीत पंडित से शास्त्रार्थ का भी उल्लेख हैं, परंतु कदाचित् ये सब घटनाएँ मन-गढ़न्त हैं। कहा जाता है कि नानक से भी उनकी भेंट हुई थी जो असंभव नहीं है क्योंकि दोनों समसामयिक थे।। परंतु यहाँ भी कबीर के चमत्कार आते हैं तो हमें संदिग्ध होना ही पड़ता है।

( १५ ) कुछ और महत्वपूर्ण जन-श्रुतियाँ कबीर को राजा बीरसिंह बघेला, पठान बिजली खाँ, सिकन्दर लोदी और धर्मदास से भी संबंधित करती है। ये सब ऐतिहासिक पुरुष हैं इसमें तो संदेह नहीं, परंतु अभी इन जन-श्रुतियों की ठीक-ठीक जाँच नहीं हो पाई है और हम यह नहीं कह सकते कि उनमें ऐतिहासिक तथ्य कितना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर के संबंध में अनेक जन-श्रुतियाँ हैं। उनमें से बहुत-सी इतिहास पर पूरी नहीं उतरतीं, परन्तु कुछ अवश्य ऐसी हैं जिनमें कबीर के व्यक्तित्व की झलक मिल जाती है। कहीं-कहीं ऐतिहासिक तत्व भी अन्तर्हित जान पड़ते हैं। कम से कम कबीर-पंथियों की विचारधारा का अध्ययन करने के लिए इन जन-श्रुतियों का परिचय आवश्यक है। जिन पुस्तकों से जनश्रुतियाँ हमें उपलब्ध हुई हैं, उनमें से

अधिकांश नई हैं परन्तु फिर भी पंथ में प्रचलित परंपरागत-कथा ही उनके द्वारा हमें प्राप्त हुई है। कबीर की मृत्यु के १०० वर्ष बाद कबीर-पंथ निश्चित रूप से खड़ा हो गया था। इस प्रकार १७वीं शताब्दी के कबीर के व्यक्तित्व की झलक हमें इन जनश्रुतियों में अवश्य मिल जाती है।

इन जनश्रुतियों के आधार पर कबीर का जो चित्र बनता है वह कबीर के लोकप्रिय चित्र से भिन्न नहीं है। वैष्णव-भावना ने कबीर के "मुसलमानीपन' को निकाल दिया है। उसे अलग कर देने पर भी यह स्पष्ट है कि कबीर बचपन से ही धार्मिक और जिज्ञासु प्रकृति के थे। उनकी आध्यात्मिक जाग्रति कदाचित् पशुबध-विरोध से आरंभ होता है। शीघ्र ही उन्होंने हिंदू और मुसलमान धर्मों के व्यक्त संस्कारों और वाह्या-डंबरों से परिचय प्राप्त कर लिया और इनका विरोध शुरू किया। कदाचित् कुछ तरुण होने पर वह झूँसी के शेख तक़ी के पास भी गये, परन्तु वहाँ भी 'कथनी' और 'करनी' में भेद देखा। सम्भव है, तक़ी और कबीर के सूफ़ी विचारों में असमानता हो और इसीलिए बाद में दोनों के विरोध से सम्बन्धित जनश्रुतियाँ प्रचलित हो गई हों। कबीर ज़िंद थे। इतिहासकारों ने उन्हें स्पष्ट ही 'मुवाहिद' और 'ज़िंद' लिखा है। तक़ी बाशिरा सूफ़ी रहे होंगे जो इस्लामी आचार-विचारों को भी निभाते रहे होंगे। अंत में कबीर ने रामानन्द से परिचय प्राप्त किया और उनके व्यक्तित्व ने उन्हें पूर्ण रूप से सन्तुष्ट कर दिया। यहाँ उन्हें अहिंसा, भक्ति, सूफ़ी इश्क़, योग-साधना, वाह्याडम्बरों और लोकाचारों का विरोध इत्यादि के सब बातें एक स्थान पर मिल गईं जो बचपन से उनके भीतर संग्रहीत थीं। सामाजिक विषयों के सम्बन्ध में उनका अपना दृष्टिकोण था। उनकी वाणी के तेज के पीछे उनकी स्वानुभूति छिपी है। परन्तु रामानन्द के ऋण को वे जीवन भर स्वीकार करते रहे हैं।

## कबीर की रचनायें

जनश्रुतियों के बाद कबीर की अपनी रचनाएँ आती हैं। कम से कम बीजक और आदि ग्रन्थ की सामग्री को हम कबीर की सामग्री ( या अधिकांश उनकी सामग्री ) मान सकते हैं। बीजक की रचनाओं की अपेक्षा 'आदि ग्रन्थ' में ऐसी सामग्री अधिक है जो कबीर के जीवनवृत्त से सम्बन्ध रखती है। आदि ग्रन्थ की कुछ रचनायें स्पष्टतय: कबीर के जीवन की घटनाओं का संकेत करती हैं और उनके अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व दोनों के चित्र हमारे सामने आते हैं। ये रचनायें मुक्तक हैं। जैसे—जैसे घटनाएँ घटती गईं वैसे-वैसे इनका निर्माण हुआ। अत: कबीर के मनोविज्ञान को उनसे समझा जा सकता है। किसी विशेष घटना की कबीर पर क्या प्रतिक्रिया हुई, यह जाना जा सकता है। परन्तु इनके आधार पर कबीर के जीवन का पुनर्निर्माण करने में बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। पहले तो किसी भी रचना को हम निश्चित् रूप से कबीर की रचना कैसे कह सकते हैं। इसलिए यदि किसी घटना का उल्लेख केवल एक-दो बार है तो हम उसको निश्चित रूप से अपना आधार नहीं बना सकते, परन्तु जहाँ ऐसे उल्लेख कई बार आते हैं, वहाँ आधार अधिक विश्वसनीय हो जाता है। दूसरी कठिनाई यह है कि हमें रचनाओं के कालक्रम का ज़रा भी पता नहीं। यदि हम कालक्रम के आधार पर इन्हें रख सकें, तब हमें कबीर के अन्तर्जीवन और उनकी चिन्मय सत्ता की खोज का पूरा विवरण मिल सकेगा। इन कठिनाइयों के अतिरिक्त एक बहुत बड़ी कठिनाई यह है कि अनेक स्थलों पर कबीर के अर्थ स्पष्ट नहीं हैं और कहीं-कहीं जहाँ कबीर केवल रूपक लिख रहे हैं, हम शब्दार्थ ग्रहण कर उनके साथ अन्याय कर सकते हैं। सम्प्रदायों में अनेक रचनाओं के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की जनश्रुतियाँ हैं, परन्तु उन पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता। जहाँ रचना में कोई बात अस्पष्ट है वहाँ इस प्रकार की व्याख्यायें जोड़ ली गई हैं।

आदि ग्रन्थ की रचनाओं से हमें कबीर के पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत कुछ पता चलता है। सबसे पहली बात तो यह है कि कबीर के कुटुम्ब में उनका बड़ा विरोध हुआ। मुसलमान होकर भी हिंदू गुरु का चेला बन जाना ऐसी बात नहीं थी जिसे मुसलमान परिवार या मुसलमान समाज सहनशीलता से देखता। इससे बड़ा आंदोलन मचा होगा। कबीर के साहित्य में अनेक पंक्तियाँ ऐसी हैं जिनसे पता चलता है कि कबीर के कुटुम्ब ने उन्हें समझा नहीं और उनका पारिवारिक जीवन अच्छा नहीं रहा। कबीर भले ही पोष्य पुत्र रहे हों, कुटुम्ब के प्रति उनके कुछ कर्तव्य थे और जब उन्होंने रामनाम और सत्सग में समय बिताना आरम्भ किया तो उनके संबंधियों के लिए क्रुद्ध और भयभीत होना आवश्यक था—यह भय भी था कि वे परिवार के लिए रोटी नहीं जुटा सकेंगे। कबीर की एक साखी है—

कबीर दुनीआ के दोखे मूआ चालत कुल की कानि।
तब कुल किसका लाजसी जब ले धरहि मसानि॥
(सलोकु १६६)

इसमें 'कुल-कानि' की रक्षा के लिए संसार को धोखा देने की बात है। साथ ही कबीर की आत्म-प्रताडना भी इस पद में प्रगट हुई है। जान पड़ता है कबीर के लिए परिवार के बंधन को तोड़ना बड़ा कठिन रहा होगा। उनकी मा उन्हें बराबर उलहना देती थी। कबीर की विचित्र बातें उसे अच्छी नहीं लगी होंगी। हो सकता है नीरू उस समय मर गया हो जब कबीर छोटे रहे हों और उन पर ही कुटुम्ब का बोझ पड़ा हो। कबीर का एक पद है—

मुसि मुसि रोवै कबीर की माई। ए बारिक कैसे जीवहि रघुराई॥
तनना बुनना सभु तजिओ कबीर। हरि का नाम लिखि लीओ सरीर॥
जब लगि तागा बाहउ बेही। तब लगु बिसरै राम सनेही॥

ओछी मति मेरी जाति जुलाहा। हरि का नामु लहिओ मैं लाहा॥
कहत कबीर सुनहु मेरी माई। हमरा इनका दाता एकु रघुराई॥
(रागु गूजरी, २)

परन्तु कबीर ने तो सबको राम को सौंप दिया था। वह कहते हैं :

दीन दइआल भरोसे तेरे।
सभु परवारु चड़ाइआ बेड़े॥
(राग गउडी, ६१)

उन्हें विश्वास था, यही हरि-इच्छा है। परन्तु जान पड़ता है, कबीर की मा इससे दुखी थी। वह तो जानती थी कि जुलाहे का काम पेट भरना है, धर्म का काम ब्राह्मणों-पंडितों-मुल्लाओं-पीरों का काम है। एक पद में कबीर ने अपनी मा के मरने की बात भी कही है जो सम्भव है रूपक हो और मा से उसका तात्पर्य माया से हो। सम्भव है, एक घरेलू घटना को ही कबीर ने पारमार्थिक अर्थ दे दिये हों और जिस पिता का उल्लेख उन्होंने किया है, वह परमपिता (ईश्वर) हो (देखिये आसा, ३)।

कबीर गृहस्थ थे या नहीं, पूर्ण विश्वास से इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है, परन्तु जान पड़ता है, कबीर सद्गृहस्थ ही थे। सूफ़ियों का परिवार रहता था। उनके पुत्र-कलत्र सब मिल जाते हैं। इसीलिए मुसलमानी परम्परा के लिए कमाल को उनके पुत्र के रूप में स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है। परन्तु जान पड़ता है कबीर-पंथियों की हिंदू भावना आध्यात्मिक नेता को गृहत्यागी के रूप में ही देखना चाहती है। इसीसे उन्होंने अनेक प्रकार से लोई, कमाल और कमाली को कबीर से सम्बन्धित करने की चेष्टा की है। ये तीनों उनके शिष्य भी बना दिये गये हैं। कुछ लोगों का कहना है कि लोई कबीर के पास जाकर उनसे ताना-बाना सीखती थी। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। कुछ रचनायें ऐसी

मिल ही जाती हैं जिनसे यह स्पष्ट व्यंजना होती है कि लोई कबीर की स्त्री थी।

कदाचित् लोई भी कबीर की मा की तरह कबीर के सत्संगियों की ओर से चिंतित थी—घर का बोझ भी तो उसी पर रहा होगा। इस संबंध में आदि ग्रंथ का यह पद दातव्य है :

तूटे तागे निखुटी पानि। दुआरि ऊपर झिलक बहि कान॥
कूच बिचारे फूए फाल। इआ मुंडीआ सिर चढ़िबो काल॥
इहु मुण्डीआ सगली द्रबु खोई। आवत जात नाक सर होई॥
तुरी नारि की छोड़ी बाता। राम नाम वा का मनु राता॥
लरकी लरिकन खैबो नाहि। मुंडीआ अनदिनु धापे जाहि॥
इक दुइ मंदरि इक दुइ बाट। हम कउ साथरु उन्ह कउ खाट॥
मूंड पलोसि कमर बधि पोथी। हम कह चाबनु उन कउ रोटी॥
मुंडीआ मुंडीआ हूए एक। इह मुंडीआ बूड़त की टेक॥
सुनि अंधली लोई बेपीर। इन्हि मुंडीअन भजि सरनि कबीर॥
( रागु गौंड, ६ )

एक दूसरी कविता में लोई कबीर की विमुखता पर आश्चर्य करती है। पता नहीं, इस कविता की रूपकात्मक व्याख्या हो सकती है या नहीं :

करवतु भला न करवट तेरी। लागु गले सुनु बिनती मेरी॥
हउ वारी मुख फेरि पिआरे। करवटु दे मोकउ काहे कउ मारे॥
जउ तनु चीरहि अंगि न मोरउ। पिंड परै तउ प्रीति न तोरउ॥
हम तुम बीचु भइओ नहीं कोई। तुमहि सुकन्त नारि हम सोई॥
कहत कबीर भइओ सुनहु रे लोई। अब तुमरी परतीति न होई॥
( रागु आसा, ३५ )

एक अन्य कविता में कबीर अपने दूसरे विवाह की बात कहते हैं, परंतु हम इसे रूपक भी मान सकते हैं। कबीर से दूसरे विवाह की आशा व्यर्थ है। कबीरपंथी कहते हैं कि पहली पत्नी से कबीर का तात्पर्य उनकी सांसारिक प्रवृति से है, दूसरी पत्नी से उनका अर्थ आध्यात्मिक जागृति है। यह भी हो सकता है कि पहली पत्नी लोई हो और दूसरी पत्नी से उन्होंने लौकिक प्रेम के विरुद्ध आध्यात्मिक प्रेम के आनन्द का इंगित किया हो। एक दूसरे पद में कबीर की पत्नी का नाम, 'धनिया' भी कहा गया है जिसे उनके सन्त मित्रों ने 'रमजनिया' कह कर पुकारना शुरू कर दिया था। उक्ति कदाचित् कबीर की मा का की है। पद इस प्रकार है—

मेरी बहुरीआ को धनीआ नाउ।
ले रखिओ रामजनीआ नाउ॥
इन्ह मुण्डीअन मेरा घरु धुंधरावा।
बिटवहि राम रमऊआ लावा॥
कहतु कबीर सुनहु मेरी माई।
इन मुण्डीअन मेरी जाति गवाई॥

(रागु आसा, ३३)

एक अन्य पद में कबीर बहू को घूँघट उठाने को कहते हैं। यह बहू कौन थी ? क्या कमाल की पत्नी ? या कोई और ? पद इस प्रकार है :

रहु रहु री बहुरीआ घूँघटु जिनि काढ़ै। अंत की बार लहैगी न आढ़ै॥
घूँघट काढ़ि गई तेरी आगै। उनकी गौलि तोहि जिनि लागै॥
घूँघट काढ़े की इहै बढ़ाई। दिन दस पाँच बहू भले आई॥
घूँघट तेरो तउ परि साचै। हरि गुन गाइ कूदहि अरु नाचै॥
कहत कबीर बहू तब जीतै। हरि गुन गावत जनमु बितीतै॥

(वही, ३४)

कबीर की पत्नी की अतिरिक्त उनकी संतान के संबंध में भी अनेक किंवदंतियाँ मिलती हैं। 'आदि ग्रंथ' के एक सलोकु का संबंध उनके पुत्र कमाल से है। सलोकु इस प्रकार है :

बूडा वंसु कबीर का उपजिओ पूतु कमालु।
हरि का सिमरनु छाडि कै घरि ले आया मालु॥
(सलोकु, ११५)

कमाल आदि कमाली कबीर की सन्तान माने जाते हैं। मुसलमान ऐसा मानते हैं। झूँसी से १२ मील दूर जलालपुर में शेख कमाल की कब्र भी दिखाई जाती है। यह शेख कमाल क्या निश्चित रूप से कबीर के शिष्य थे? कम से कम कमाल और कमाली के कबीर के पुत्र होने में कोई संदेह नहीं है। परन्तु हिंदू (कबीर पंथी) इसको स्वीकार नहीं करते। वह उनके साथ अलौकिक घटनाएँ जोड़ देते हैं।

कबीर अपने को बार-बार जुलाहा कहते हैं। इस विषय में कोई सन्देह नहीं। जीवनवृत्त की अन्य बातों के संबंध में भले ही संदेह हो, इस संबध में कुछ भी कहना असंभव है। वह कहते हैं :

जाति जुलाहा मति का धीरु।
सहजि सहजि गुण रमै कबीरु॥
(राग गउडी, २६)

उनके अनेक रूपक जुलाहा-कर्म से ही ग्रहीत हैं। कबीर की मा और पत्नी ने जुलाहा-कर्म छोड़ने या उससे विरक्ति के लिए उनको बुरा-भला कहा, यह हम देख चुके हैं। छोड़ा तो कबीर ने नहीं होगा। वे सर्वसंग्रही थे। परन्तु थोड़ी उपेक्षा ज़रूर रहती होगी। कुछ पदों से यह स्पष्ट है कि उन्होंने काम छोड़ रखा था, परन्तु ऐसे भी अनेक उल्लेख हैं जिनसे

यह स्पष्ट है कि कबीर गृहत्यागी संन्यासी नहीं बने।[1]× यद्यपि कबीर-पंथी इस बात को नहीं मानते, परन्तु हम उन्हें सद्‌गृहस्थ जुलाहा ही कहेंगे। कहीं-कहीं कबीर ने स्वयं को कोरी, हीन-जाति इत्यादि भी कहा है।

कबीर के पदों से यह स्पष्ट है कि वह दूर-दूर तक घूमे थे। कुछ साखियों में हज करने जाने का उल्लेख है।×[2] एक पद में कबीर जौनपुर के किसी 'पीताम्बर पीर' के पास जाने की बात कहते हैं ×[3]! एक अन्य पद में बागड देश (कुरु-जांगल जनपद) और मालवा (मालव जनपद) का परिचय मिलता है।×[4]

आदि ग्रंथ से कबीर के 'गुरु' के संबंध में हमें निश्चित रूप से कुछ भी पता नहीं लगता, परन्तु कुछ उल्लेख ऐसे अवश्य मिलते हैं

---

× १ आसा, ३६
भैरउ, ७
मारू, ३

२ कबीर हज जह हउ फिरओ कउतक ठाओ ठाइ (स० १४)
कबीर हज काबे हउ जइ था आगे मिलिआ खुदाइ।
(स० १६७)
कबीर हज काबे होइ-होइ गइआ केती बार कबीर
(स० १६८)

३ हज हमारी गोमती तीर।
जहा बसहि पीतांबर पीर॥
(आ० १३)

४ बागड देस लुवन का घर है।
वहाँ जिनि जइयो राझन का डर है।
देस मालवा गहन गँभीर।
पग पग रोटी डग डग नीर॥

जिनसे इस दशा में अनुमान लगाया जा सकता है। एक पद में कबीर कहते हैं:

सिव की पुरी बसै बुधि सारु।
तह तुम्ह मिल कै करहु विचारु॥
(रागु भैरउ, १०)

हो सकता है, इन पंक्तियों में रामानन्द का इंगित हो जो काशी में निवास करते थे, यद्यपि बाद की पंक्तियां योगपरक हैं और संदर्भ से 'शिवपुरी' का अर्थ 'ब्रह्मरंध्र' भी लिया जा सकता है। एक अन्य पद में वे कहते हैं:

रमत राम सिउ लागो रंगु।
कहु कबीरा तब निरमल अंग॥
(वार, राग गउड़ी, ७७)

रामानन्द ने अपने एक हिन्दी पद में अपने लिए 'रमत ब्रह्म' कहा है। कबीर ने भी कदाचित् 'रमत ब्रह्म' और 'रमत राम' का प्रयोग रामानन्द के लिए ही हुआ है। जो हो, 'आदि ग्रंथ' में अनेक ऐसी पंक्तियां मिल जाती है जिनमें कबीर की अपने गुरु के प्रति अपार आस्था का पता लगता है। वह गुरु के मिलने, उनके प्रसाद, गुरु-सेवा द्वारा भक्ति की प्राप्ति और ज्ञानोपलब्धि का बार बार उल्लेख करते हैं।[५] कुछ लोगों का कहना है कि कबीर

५ मेरा गुरु प्रसादि मनु मानिआ। (सो० ५)
सतगुरु मिले त मारगु दिखाइआ। (आ० ३)
गुर चरण लागि हम बिनवता (आ० १)
गुर किंचत किरपा कीनी (सो० ४)
जब हूए क्रिपाल मिले गुरदेव (गौ० ७)
कहु कबीर गुर किरपा छूटै। (गौ० ८)
धंनु गुर देव अति रूप विचवन (गौ० १०)
हम राखे गुर आपने उनि कीनो आदेसु (स० ८)

ने गुरु और सतगुरु शब्द का प्रयोग ब्रह्म के लिए किया है, परन्तु इन उल्लखों से किसी मानवी गुरु का होना अवश्यम्भावी जान पड़ता है।

आदि ग्रंथ के पदों से कबीर के जीवन और उनके विचारों के संबंध में और भी बहुत कुछ ज्ञात होता है। कबीर ने निर्धनता का जीवन व्यतीत किया। उनका विचार था कि आध्यात्मिक जीवन के लिए धन सबसे बड़ी बाधा है। वह संसार के सभी सच्चे साधनों की तरह निर्लिप्त रहना चाहते हैं:

कबीर ना मोहि छानिन छापरी ना मोहि घरु नही गाउ।
यत हरि पूछै कउनु है मेरे जाति न नाउ॥
(सलोकु, ६०)

परन्तु फिर भी सुविधाजनक जीवन में उन्हें विश्वास था। वह बड़े निःसंकोच भाव से कहते हैं: 'भूखे रहकर भक्ति करना असंभव है। लो यह अपनी माला। मुझे किसी का देना तो नहीं है, परन्तु फिर भी मैं संतों की तरह रहना तो चाहता ही हूँ।' इसके बाद वे दो सेर आटा, पाव भर नमक, आध सेर दाल, नमक, चारपाई, बिछौना आदि की माँग उपस्थित करते हैं। संत के लिए ईश्वर-भजन की तो सुविधा होनी ही चाहिये। प्रतिदिन के

---

कहि कबीर अब जानिआ गुरि गिआनि किआ समझाइ
(आ० २)

हरिजी क्रिपा करे जउ अपनी तौ गुर के सबदि समावहिंगे
(मा० ४)

गुर सेवा ते भगति कमाई ( भै० ६ )

कबीर साचा सतिगुरु मै मिलिआ सबदु जु बाहिआ एकु
(स० १५७)

झमेले इसमें बाधक होते हैं। अतः कबीर इस विषय में मौन नहीं रहना चाहते।[६]

कबीर पढ़े-लिखे नहीं हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—'बिदिया न परउ बादु नहीं जानउ' ( रागु बिलावलु, २ )। कबीर की जाति-गत और परिवार-गत परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी हैं जिनसे इसके अतिरिक्त और कोई संभावना नहीं हो सकती। फिर भी वह पढ़ने-लिखने के महत्व को जानते हैं। वह कहते हैं: मैंने जाना है कि पढ़ना भला है, परन्तु पढ़ने से योग भला और योग से भक्ति। भले ही उसके लिए लोग मेरी निंदा करें।[७] कबीर अध्यात्म-ज्ञान के इच्छुक थे, शास्त्रज्ञान के नहीं और आजीवन उन्होंने अपने हृदय और मन को खुला रखा। वह षट्दर्शन और चौरासी सिद्धों की ज्ञान-वार्ता को नाशवान बतलाते हैं।[८]

---

६ भूखे भगति न कीजै। यह माला अपनी लीजै॥
हउ मांगउ संतन रेना। मैं नाहीं किसी का देना॥
माधो कैसी बनै तुम संगे। आपि न देहु लेवउ मंगे॥
दुइ सेर मांगउ चूना। पाउ घीउ संगि लूना॥
अधसेरु मांगउ दाले। मोकउ दोनउ वखत जिवाले॥
खाट मांगउ चउपाई। सिरहाना अवर तुलाई॥
ऊपर कउ मागउ खीधा। तेरी भगति करै जनु बीधा॥
मैं नाही कीता लबो। इकु नाउ तेरा मैं फबो॥
कहि कबीर मनु मानिआ। मनु मानिआ तउ हरि जानिआ॥
( रागु सोरठि, ११ )

७ कबीर मैं जानिओ पड़िबो भलो पड़िबे सिउ भल जोगु।
भगति न छाडउ राम की भावै निंदउ लोगु॥
( सलोकु, ४५ )

८ षटदरसन संसै परे औ चउरासी सिध

'आदि ग्रंथ' से कबीर के वाह्य संघर्षों के संबंध में भी पता लगता है। कबीर के परिवार के लोगों ने उनकी महानता को नहीं समझा और अपने पारिवारिक जीवन में उन्हें बड़े विरोध का सामना करना पड़ा। इस संबंध में हम पहले ही लिख चुके हैं। बाहर भी उनका कम विरोध नहीं हुआ। उनके विरोधियों को उनके विचार विचित्र जान पड़ते और उनके आचरण में उन्हें नास्तिकता दिखलाई पड़ती। इस विरोध से कबीर को मर्मांतक पीड़ा पहुँची होगी परन्तु उन्होंने इस विरोध का सामना किया और भगवद्भक्ति में संतोष ग्रहण किया। एक साखी में वह कहते हैं—जिनके हृदय में ज्ञान नहीं है वे बेचारे मेरी निंदा किया करते हैं ! यहाँ तो कबीर अन्य सभी कामों को छोड़ कर राम में ही रमण कर रहे हैं।[९] एक प्रसिद्ध पद में उन्होंने जिस तीव्रता से अपने निंदकों की स्तुति की है, उन्हें जिस प्रकार व्यंग का लक्ष्य बनाया है, वह इस वाह्य विरोध की ही सूचना देता है।[१०] एक पद में कबीर कहते हैं—'तुम कहते हो वह ( ब्रह्म या अल्लाह ) एक है सो हमने उसे एक मान लिया। फिर तुम क्यों दुःख मानते हो। हमें लाज नहीं। न सही। तुम हमारी चिंता क्यों करते हो !

---

९ कबीर लोगु कि निंदै बपुड़ा जिह मनि नाही गिआनु।
राम कबीरा रवि रहे अवर तजे सभ काम ॥
( सलोकु, ४६ )

निंदउ निंदउ मो कउ लोगु निंदउ।
निंदा जन कउ खरी पिआरी ॥
निंदा बापु निंदा महतारी।
× × × ×
जन कबीर कउ निंदा सारु।
निंदकु डूबा हम उतरे पारि ॥
( राग गउड़ी, ७१)

मंद मंद मन में क्यों हँसते हो। हँसो, भाई! हमारा-तुम्हारा माँझ-बाँट तो नहीं है।[११]उन्होंने पंडित के ज्ञानवाद की हँसी उड़ाई और उन्हें वारवनिता तक कहा। वह ज्ञान का व्यवसाय करते हैं। वह भक्ति के मर्म को क्या जानें![१२] परन्तु अंत में उनका आश्रय भगवान ही थे।[१३]

हिंदुओं में ब्राह्मणवर्ग और मुसलमानों में काज़ी-मुल्ला ने उनका सब से अधिक विरोध किया। उन्होंने हिन्दुओं के सारे कर्मकांडों को चुनौती दी

---

११　जब हम एको एकु करि जानिआ।
तब लोगहि काहे दुख मानिआ॥
हम अपतह अपुनी पति खोई।
हमरे खोजि परहु मति कोई॥
हम मंदे मंदे मन माहीं।
साँझ पाति काहू सिउ नाहीं॥
पति अपति ताकी नहीं लाज।
अब जानहुगे जब उघरैगी पाज॥
कहु कबीर पति हरि परवानु।
सरब तिआगि भजु केवल रामु॥
(वही, ३.)

१२　बिन सत सती होइ कैसे नारि।
पंडित देखहु रिदै बीचारि॥
इत्यादि (वही, २३)

१३　जा कै हरि सा ठाकुर भाई।
मुकति अनंत पुकारनि जाई॥
अब कहु राम भरोसा तोरा।
तब काहू का कवनु निहोरा॥
(वही, २२)

थी। बनारस ब्राह्मणों का गढ़ था। ऐसे गढ़ में रह कर ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा पर चोट करना सरल कार्य नहीं था। परन्तु कबीर तो तत्त्व-दर्शी थे। वह विरोध से डरने वाले नहीं थे। उन्होंने बार-बार कबीर की हीन जाति-कुल की बात उठाई, परन्तु कबीर जाति-कुल को महत्व नहीं देते। उन्होंने कहा—

जिह मुख बेद गाइत्री निकसै सो किउ ब्रह्मनु बिसरु करै।
जा कै पाइ जगतु सभु लागै सो किउ पंडित हरि न कहै॥

काहे मेरे ब्राम्हन हरि न कहहि।
रामु न बोलहि पांडे दोजकु भरहि॥

आपन ऊँच-नीच घरि भोजनु हठे करम करि उदरु भरहि।
चउदस अमावस रचि-रचि मांगहि कर दीपक ले कूप परहि॥
तू ब्रहमनु मै कासीक जुलाहा मुहि तोहि बराबरी कैसे कै बनहि।
हमरे राम नाम कहि उबरे बेदु भरोसे पांडे डूबि मरहि॥
(रागु रामकली, ५)

अनेक पद और सखियाँ ऐसी भी उपलब्ध हैं जिनसे यह पता चलता है कि काज़ी-मुल्लों और साधारण कट्टरपंथी मुसलमानों की ओर से भी कबीर को काफ़ी विरोध का सामना करना पड़ा। जिस व्यक्ति ने रोज़ा-नमाज़, हज, काबा-क़िबला सब की निंदा की, उसकी ओर से 'दीन के बड़े' कैसे चुप बैठ सकते थे। परंतु वह कबीर को चुप नहीं कर सके, ऐसा निश्चित है।

कबीर के अंतिम दिनों की एक झाँकी भी 'आदि-ग्रंथ' के पदों और सलोकों में मिल जाती है। यह स्पष्ट है कि अंतिम दिनों में कबीर का विरोध और भी तीव्र हो गया और उन्हें काशी छोड़ कर मगहर जाना पड़ा। कबीर ने स्पष्ट रूप से इस विरोध का उल्लेख नहीं किया है,

परंतु वास्तव में जीवन के अंत में काशी छोड़ देना कबीर के लिए काफ़ी दु:खद रहा होगा। आदि-ग्रंथ के तीन पदों में इस स्थान-परिवर्तन का उल्लेख है। एक पद में कबीर को इस बात का बड़ा दु:ख है। उन्होंने इसे अपना बुद्धि-भ्रम कहा है[१४]। अंत में उन्होंने यह सोच कर संतोष कर लिया कि जिसके हृदय में राम है, उसे काशी और मगहर समान समझना चाहिये। काशी में रह कर तो सब मुक्ति पा जाते हैं। फिर काशी में रह कर मुक्त होते तो राम का क्या निहोरा ![१५] भक्त को स्थान-विशेष से क्या ![१६] 'आदि-ग्रंथ' में कुछ ऐसे भी पद हैं जिनसे कबीर की

---

१४ जिउ जल छोड़ि कहरि यहत्री मीना।
पूरब जनम हउ तप का हीना ॥
अब कहु राम कवन गति मोरी।
तजीले बनारस मति भई थोरी ॥
सकल जनमु सिवपुरी गवाइआ।
मरती बार मगहरि उठि आइआ ॥
बहुतु बरस तपु कीआ कासी।
मरनु भइआ मगहर का बासी ॥
( राग गउडी, १५ )

१५ हरि के लोगा मै तउ मति का भोरा।
जउ तनु कासी तजहि कबीरा रमईऐ कहा निहोरा ॥
कहत कबीर सुनहु रे लोई भरमि न भूलहु कोई।
किआ कासी किआ ऊखरु मगहरु रामु रिदै जउ होई ॥
( रागु धनासरी, ३ )

१६ मनहु कठोर मरै बानारसि नरकु बंचिआ जाई।
हरि का संतु मरै हाड़ंबै त सगली सैन तराई ॥
( रागु आसा, ३७ )

कड़ी परीक्षा और उनके चमत्कारों का उल्लेख है।[17] परंतु कदाचित् ये पद प्रक्षिप्त हैं। कबीर जैसे तथ्यद्रष्टा और मेधावी व्यक्ति से हम यह आशा नहीं कर सकते कि वह अपने चमत्कारों का गुणगान करेगा। आदि-ग्रंथ' के पदों में एक पद प्रह्लाद के सम्बन्ध में है।[18] कदाचित् इस पद के आधार पर कबीर के परीक्षा-संबंधी पद भी गढ़ लिये गये और जन-श्रुति ने उनका संबंध सिकंदर लोदी से जोड़ लिया।

कबीर की रचनाओं में रैदास[19] को छोड़कर और किसी भी सम-सामयिक का उल्लेख नहीं है। परंतु जान पड़ता है वे जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, रैदास[20] और कितने ही पूर्ववर्ती भक्तों को भक्ति का आदर्श मानते थे। इसमें संदेह नहीं कि मुसलमान और हिन्दुओं में अनेक व्यक्ति उनके संपर्क में आये होंगे, परन्तु वे सब जिज्ञासु और भक्त रहे होंगे। कबीर ने शिष्य-परम्परा चलाई, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

---

१७ गंग गुसाइनि गहिर गंभीर। जंजीर बंधि कर खड़े कबीर॥
मनु न डिगै तनु काहे कउ डराइ। चरन कमल चितु रहिओ समाइ॥
गंगा की लहरि मेरी टूटी जंजीर। मृगछाला पर बैठे कबीर॥
कहि कबीर कोउ संग न साथ। जलथल राखन है रघुनाथ॥
(रागु भैरव, १८)

भुजा बाँधि सिला परि डारओ।
हसती क्रोधि मूंड महि मारओ॥ इत्यादि
(रागु गौंड, ४)

१८ देखिये, रागु बंसत, ४

१९, २० देखिये आदि-ग्रंथ के पद

अनेक साखिओं में उन्होंने बार-बार गुरुडम की निंदा की है, और मेधावी व्यक्ति की इकेली परम्परा की घोषणा की है। [२१]

## समसामयिक और परवर्ती उल्लेख

कबीर के समकालीन संतों ने उनका थोड़ा बहुत उल्लेख अवश्य किया है। इनमें भक्तमाल के रचयिता नाभादास, रैदास और कबीर के शिष्य धर्मदास प्रमुख हैं। नाभादास ने अपने एक छुप्पय में अनंतानंद, कबीर, सुखानंद, सुरसुरानंद, पद्मावली, नरहरी, पीपा, भवानन्द, रैदास, धना, सेना, सुरसुरानन्द की पत्नी इत्यादि को रामानन्द का शिष्य बताया है। [२२] एक दूसरे पद में उन्होंने कबीर को वर्णाश्रम और षट्दर्शन का विरोधी और भक्ति और भजन का प्रबल समर्थक कहा है। [२३] उन्होंने

---

२१ कबीर सिख साखा बहुते कीए केसी कीओ न मीतु।
चाले थे हरि मिलन कउ बीचै अटकिओ चीतु॥
(सलोकु, ९६)

२२ श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियो।
अनंतानन्द कबीर सुखा सुरसुरा पद्मावती नरहरि॥
पीपा भावानन्द, रैदास, धना, सेन, सुरसर की घरहरि।
औरौ शिष्य प्रशिष्य एक तें एक उजागर॥
विश्व मंगल आधार सर्वानन्द दशधा के आगर।
बहुत काल वपु धारि कै प्रनत जनन की पार दियौ
श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियौ
(भक्तमाल, १५८५ ई० छुप्पय ३१)

२३ कबीर कान राखी नहीं, वर्णाश्रम षट दरसनी॥
भक्ति विमुख जो धरम ताहि अधरम करि गायो॥

अपनी शब्दी और साखिओं में हिन्दू-तुरक को एक समन्वय का मार्ग बताया। रैदास के भी दो पदों में कबीर का उल्लेख है। एक पद में उन्होंने निर्गुणी कबीर के देह-सहित स्वर्ग सिधारने की बात कही है। दूसरे पद में उन्होंने उन्हें स्पष्ट ही मुसलमान कहा है। इनके कुल में ईद-बकरीद होती थी, गऊ-बध होता था, शेख-शहीद-पीर माने जाते थे। [२४] रैदास के समय में भी उनके कुटुम्ब के लोग बनारस के आस-पास ढोर ढोते थे। ऐसे कुल में जन्म लेने वाले कबीर को आचारी पंडित दंडवत करते हैं। यह दूसरा पद 'आदि-ग्रंथ' में मिलता है और उसकी प्रामाणिकता के संबंध में कोई मतभेद नहीं हो सकता। जान

---

जोग जन्म व्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो ॥
हिन्दू तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी ॥
पच्छपात नहिं बचन सबहि के हित की भाखी ॥
आरूढ़ दसा हूँ जगत पर, मुख देखो नाहिंन भनी ॥
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरसनी ॥

( वही, पृ० ४६१-२ )

२४ ( क ) नामदेव कबीरु तिलोचनु सधना सैनु तरै।
कहि रविदासु सुनहु रे संतहु हरजीउ ते सभै सरै (आ० ग्रंथ, रागु मारू)
( ख ) हरि के नाम कबीर उजागर। जनम जनम के काटे कागर॥
( वही, रागु आसा )

( ग ) जाके ईदि बकरीदि कुल गउ रे बध करहि
मानीअहि सेख सहीद पीरा।
जाकै बाप वैसी करी पूंत औसी सरी,
तिहू रे लोक परसिध कबीरा ॥

( वही, राग मलार )

पड़ता है, जिस समय रैदास ने यह अंतिम पद लिखा उस समय कबीर जीवित थे और कट्टर-पंथी भी उन्हें मानने लगे थे। धर्मदास ने "निर्भय ज्ञान" ग्रंथ में कबीर की मृत्यु पर रीवां के बीरसिंह बघेला और बिजली खाँ में युद्ध की बात कही है। परन्तु ये सब समसामयिक उल्लेख हमें बहुत दूर नहीं ले जाते। उनसे कबीर के क्रांतिकारी और रहस्यवादी भक्तिपूर्ण व्यक्तित्व का परिचय तो मिल जाता है, परन्तु उनके जीवनवृत्त और उनकी सांसारिक परिस्थितियों के संबंध में अधिक नहीं मिलता। कबीर का जो व्यक्तित्व हमें इन स्रोतों से मिलता है वह चमत्कारों से भरा हुआ है और उसकी ऐतिहासिक परीक्षा उपस्थित करना बड़ा कठिन काम है। परन्तु ऐतिहासिक जीवनवृत्त का निर्माण किये बिना हम कबीर के और उनके महत्व को पूर्णतय: समझ भी नहीं सकते।

कबीर के अन्य समसामयिक भक्तों धना, पीपा और नानक के उल्लेख भी महत्वपूर्ण हैं। धना ने उन्हें नीच कुल का जुलाहा कहा है जिसने अपना व्यापार छोड़ दिया और हरि-चरणों में प्रीति करने लगा। पीपा (ज० १४२५) के पद से कबीर के जीवन पर कोई ऐतिहासिक प्रकाश नहीं पड़ता परन्तु यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने जीवन में ही उन्होंने महान कीर्ति उपलब्ध कर ली थी और उनके गुरु भाई उन्हें सिद्ध पुरुष और अवतारी समझने लगे थे।[२५] नानक ने उन्हें जुलाहा कहा है और नामदेव, जयदेव और त्रिलोचन के साथ उनकी गिनती की है। नानक के पद में नामा छीपी और कबीर जुलाहे के 'पूरे गुरु' द्वारा मति पाने का उल्लेख है। कोई-कोई इस 'पूरे गुरु' का तात्पर्य

---

२५ बुनना तनना तिआगि कै प्रीति चरन कबीरा।
नीच कुला जोलाहरा भइओ गुनीय गहीरा ॥
(आ० ग्रंथ, रागु आसा)

रामानंद लेते हैं, कोई दूसरे ( जैसे डा० मोहनसिंह ) 'पूरे गुरु' से 'ब्रह्म' का अर्थ लगाते हैं। संभव है ये दोनों अर्थ न हों और नानक का तात्पर्य यह हो कि इन दोनों भक्तों ने पूर्ण यत्नों और आयोजनों के द्वारा ब्रह्मगति (जीवनमुक्त अथवा परमहंसावस्था) प्राप्त कर ली।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर के संबंध में समसामयिक उल्लेख अधिक नहीं मिलते। जो मिलते हैं उनमें कदाचित् रविदास ( रैदास ) और नाभादास के उल्लेख सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। रैदास के उल्लेख से कबीर के जन्मजात मुसलमान होने में कोई भी संदेह नहीं रह जाता। नाभादास के उल्लेख से उनके रामानंद के शिष्यत्व, उनके गुरु भाइयों, उनकी दशधा भक्ति और वर्णाश्रम-षटदर्शन के उनके विरोध पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। कबीर की सांस्कृतिक महत्ता को स्थापित करने के लिये यही थोड़े से उल्लेख काफ़ी हैं। परवर्ती उल्लेखों में से एक महत्वपूर्ण उल्लेख 'आईने-अकबरी' (१५९८ ई०) का है जिसमें कबीर को 'मुवाहिद' (वेदांती, जीवब्रह्म का अभेदत्व मानने वाला सूफ़ी,) कहा गया है। हिंदू और मुसलमान दोनों उनका सम्मान करते थे। कबीर के शव पर हिन्दू-मुसलमानों के संघर्ष का भी उल्लेख है। ब्राह्मण उन्हें जलाना चाहते थे, मुसलमान दफ़नाना। कबीर ने अपने समय के निरर्थक कर्मकांड का विरोध किया, यह भी इन उल्लेखों में मिलता है। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से जो महत्वपूर्ण बात उसमें मिलती है वह कबीर के मृत्यु-स्थान और उनकी समाधि से संबंधित है। आईने-ए-अकबरी के पृ० १२९ पर इस स्थान को पुरुषोत्तम ( पुरी ) कहा गया है जो निस्सन्देह जगन्नाथ पुरी है और पृ० १७१ पर रतनपुर ( सूबा अवध ) को यह श्रेय दिया गया है। इस क्षेत्र में मगहर तो है ही। इस प्रकार तीन स्थान कबीर की मृत्यु से संबंधित हो जाते हैं।

यह स्पष्ट है कि प्रियादास की भक्तमाल की टीका के समय ( १६५५

ई० ) तक कबीर के जीवन में अनेक जनश्रुतियाँ जुड़ गई थीं। इस टीका में उन्हें स्पष्ट रूप से रामानन्द का शिष्य बताया गया है और उसके संबंध में जन-प्रचलित कथा का भी उल्लेख है। सिकंदर लोदी के अनेक अत्याचारों का वर्णन भी इस रचना में मिलता है। परन्तु प्रियादास की रचनाएँ 'वार्ता'-शैली की रचनाएं हैं और उनमें चमत्कारवाद ही अधिक है। अतः उनके निर्देशों को उस समय तक सत्य नहीं समझा जा सकता जब तक वे ऐतिहासिक सूत्रों द्वारा स्वतंत्र रूप से पकड़े न जा सकें। 'दबिस्तान' के लेखक मोहनसिंह फ़ानी ( मृ० १६७० ) ने उन्हें जुलाहा मुवाहिद, हिन्दुओं में मान्य, आध्यात्मिक जिज्ञासु और वृद्ध रामानन्द का शिष्य कहा गया है। रामानन्द और कबीर का अनन्य संबंध स्वयं कबीर की अनेक रचनाओं से स्थापित हो सकता है यद्यपि उनमें रामानन्द का कहीं नामोल्लेख नहीं किया है या किया भी है तो 'रमति ब्रह्म' या 'रमति राम' (रमते राम) के नाम से। सिकंदर लोदी संबंधी किंवदंतियाँ १६०४ ई० में ही प्रचलित थीं जैसा आदि ग्रंथ के कुछ पदों से स्पष्ट है। अतः प्रियादास के विशेष विवरण कोई बड़े आश्चर्य नहीं हैं। ऊपर कबीर की जीवन-संबंधी सामग्री का जो विवरण दिया गया है, उसके आधार पर हम निष्कर्षों को इस प्रकार रख सकते हैं :

## क—जन्मतिथि और जन्मस्थान

परंपरागत जन्मगत तिथि १३९८ ई० है। यह भी कहा जाता है कि कबीर १५१८ ई० तक जीवित रहे। परन्तु अभी भी रामानन्द और कबीर की तिथियाँ निश्चित रूप से स्थापित नहीं हुई हैं। कुछ इतिहास-वेत्ता रामानन्द का समय १४०० ई० - १४७० ई० मानते हैं। उनका कहना है कि कबीर का आविर्भाव १४४० ई० के लगभग हुआ होगा और मृत्यु के समय उनकी अवस्था ७८ वर्ष की रही होगी। कबीरपंथी

जनश्रुतियों और परंपराओं के अनुसार कबीर की जन्मतिथि १३९८ ई० ही है। आधुनिक खोजी मगहर को उनका जन्म-स्थान मानते हैं।

## ख—माता-पिता

कबीर-पंथियों का कहना है कि कबीर नीरू ( नूरअली ) जुलाहे द्वारा पोषित थे। नीरू की पत्नी का नाम नीमा (नईमा) था। परन्तु इस तरह हिंदुओं की दृष्टि में वह भ्रष्ट होते। एक तो विधर्मी मुसलमान, फिर जुलाहे। इस लिए वैष्णवों में उन्हें लेकर अनेक किंवदंतियाँ चल पड़ी। वह सामान्यतः विधवा ब्राह्मणी के पुत्र मान लिये गये। परन्तु कबीर निश्चत रूप से इस्लामी नाम है। समसामयिक इतिहास में कबीर और इसी तरह के नाम हमें बराबर मिलते हैं।

## ग—पारिवारिक जीवन

'आदि-ग्रंथ' की रचनाओं से हमें कबीर के पारिवारिक जीवन के संबंध में बहुत कुछ पता चलता है। सबसे पहली बात तो यह है कि कबीर के कुटुम्ब में उनका बड़ा विरोध हुआ। मुसलमान होकर भी हिंदू गुरु का चेला बन जाना ऐसी बात नहीं थी जिसे मुसलमान परिवार या मुसलमान समाज सहनशीलता से देखता। इससे बड़ा आंदोलन मचा होगा। कबीर के साहित्य में अनेक पंक्तियाँ ऐसी हैं जिनसे पता चलता है कि कबीर के कुटुम्ब ने उन्हें समझा नहीं और उनका पारिवारिक जीवन अच्छा नहीं रहा। कबीर की माँ इससे दुखी थी उन्होंने ताना-बाना छोड़ कर हरि-स्मरण को जीवन-धर्म बना लिया था। एक पद में उनकी स्त्री का नाम भी हमें मिलता है। कदाचित् स्त्री का नाम धनिया था जिसका नाम कबीर ने रामजानिया (रमज़ानी) रख दिया था। एक दूसरे पद में पत्नी का नाम 'लोई' मिलता है। कबीर-संप्रदाय में लोई किसी बनखंडी

की कन्या और कबीर की शिष्या कही जाती है। कदाचित् कबीर की स्त्री भी उनकी माँ की तरह कबीर के सत्संगियों की ओर से चिंतित थी। कहती थी—'लड़के-लड़कियों के खाने के लिए घर में नहीं है, उधर एक न एक संन्यासी बराबर घर में पड़ा ही रहता है।' एक दूसरी कविता में लोई कबीर की विमुखता पर आश्चर्य प्रगट करती है। एक अन्य कविता में कबीर अपने दूसरे विवाह की बात करते हैं परन्तु हम उसे रूपक भी मान सकते हैं। कबीर से दूसरे विवाह की आशा नहीं होती।

आदि-ग्रंथ में केवल एक सलोकु में 'कमाल' का निर्देश है। जान पड़ता है, कमाल उस समय तरुण रहा होगा और अपने आर्थिक लाभ के लिए उसने ऐसी किसी रीति से धन-संचय किया होगा जो पिता को अच्छा न लगा होगा। परन्तु संप्रदाय में 'कमाल' को हीन बताने के लिए कबीर का वही सलोकु काफ़ी था। मुसलमान-लेखक कमाल को उच्च श्रेणी का सूफ़ी बताते हैं और दादू (दाऊद) को उनका शिष्य भी कहते हैं। यदि यह ठीक है तो कमाल मध्ययुग की साधना के इतिहास के लिए कबीर से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। दादू की शिष्य-परंपरा में हमें कई महान साधकों का नाम मिलता है। वस्तुतः कबीर के साहित्य के निकट यदि कोई साहित्य आता है तो वह दादू का ही साहित्य है और संभव है, हम निश्चित रूप से कमाल के मध्यम से दादू और कबीर का संबंध स्थापित कर सकें।

## घ—पर्यटन

कबीर का अधिकांश समय काशी में ही व्यतीत हुआ है। उन्होंने अपने को बार-बार 'काशी का जुलाहा' कहा है। परन्तु यह निश्चय है कि अपने समय के अन्य संतों की तरह वह दूर-दूर तक घूमे होंगे। 'बीजक' की एक रमैनी में मानिकपुर, जौनपुर और झूंसी जाने का स्पष्ट उल्लेख है। ये सब सूफ़ियों के प्रसिद्ध केन्द्र थे। एक पद में बाँगड़ देश

और मालवे का भी वर्णन है। जीवन के अंत में कबीर बनारस छोड़कर मगहर चले गये थे। एक पद में गोमती-तीर के 'पीताम्बर पीर' का उल्लेख है। कदाचित् जौनपुर के किसी पर्यटन की ओर संकेत है। कई पदों में हज जाने की बात भी कही गई है।

## ङ—अध्ययन

कबीर विशेष पढ़े लिखे थे, ऐसा उनकी रचनाओं से पता नहीं लगता। उन्होंने स्पष्ट कहा है—'मसि कागद छूओ नहीं।' एक अन्य स्थल वह कहते हैं—'विदिया न परउ बादु नहीं जानउ।'

## च—गुरु

कबीर के पदों में गुरु की कृपा का उल्लेख बार-बार आता है। परन्तु कदाचित् एक पद को छोड़ कर कहीं भी वे रामानन्द का नाम नहीं लेते। यहाँ भी रामानन्द इंगित ही हैं। 'बीजक' के एक पद में वह शेख तक़ी और उनके शिष्य अकरदी-सकरदी को ललकारते हुए और उपदेश देते हुए दिखलाई देते हैं। जनश्रुतियाँ जहाँ उन्हें भूंसी के शेख तक़ी का शिष्य बताती हैं, वहाँ दूसरी ओर रामानन्द से उनका संबंध जोड़ती हैं। शेख तक़ी अपने समय के प्रसिद्ध सूफ़ी थे। संभव है,प्रारम्भ में कबीर उनसे दीक्षित हुए हैं। बाद में बनारस में रहते हुए वे रामानन्द के संपर्क में आये हों। सच तो यह है कि मध्ययुग की सूफ़ी भावना और रामानन्दी भक्ति में विशेष अंतर नहीं है। परन्तु पदों में भावुकतापूर्वक जिन सद्गुरु की प्रशंसा उन्होंने बराबर की है वह निश्चित ही रामानन्द रहे होंगे।

## छ—वाह्य संघर्ष

कबीर के कुछ पदों से यह स्पष्ट है कि उन्हें अपने धार्मिक विश्वासों के लिए बड़ा दुःख भोगना पड़ा। मुल्ला, क़ाज़ी और पंडित-वर्ग ने उनका

विरोध किया ही होगा। कबीर के सिद्धांत उनके स्वार्थों पर चोट करते थे। परन्तु जिस संकट का उल्लेख कबीर के उल्लेखों में मिलता है वह कोई और है। उन्हें ज़ञ्जीर से बाँध कर हाथी के सामने डाल दिया गया और गंगा में डुबा देने का प्रयत्न हुआ। दोनों बार ईश्वर के अनुग्रह से कबीर बच गये। हो सकता है कि ये पद प्रक्षिप्त हों और कबीर को वैष्णव भक्त प्रह्लाद की भाँति महान सिद्ध किया गया हो। परन्तु कुछ आलोचक इन अत्याचारों का संबंध सिकन्दर लोदी से जोड़ते हैं। जैसा पृष्ठभूमि से स्पष्ट है, कबीर का सारा जीवन या लगभग सारा जीवन जौनपुर में उदार राज्य की छाया में बीता। इतिहास से जान पड़ता है कि सिकन्दर लोदी १४६४ ई० में ही जौनपुर आ सका था। उस समय कबीर का जीवनवृत्त बहुत कुछ पूरा हो सका होगा और वे वृद्ध होंगे। कदाचित् सिकन्दर लोदी ने उन्हें बनारस छोड़ कर कहीं चले जाने की आज्ञा दी होगी। उनके धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय के सिद्धांत इसे पसंद नहीं होंगे। और संभव है, इसी के आधार पर सिकन्दर लोदी के अत्याचारों की कहानी गढ़ ली गई हो। कबीर जैसे वृद्ध संत को, वह भी मुसलमान सूफ़ी समझे जाने वाले संत को, इतनी पीड़ा पहुचाने का साहस सिकन्दर लोदी में भी नहीं रहा होगा। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि कबीर जीवन भर विरोधी बनाते रहे और उन्हें अपने तेज से निरस्त्र करते रहे।

## ज—वृद्धावस्था और मृत्यु

कबीर के काव्य में वृद्धावस्था के अनेक अनभूतिपूर्ण वर्णन हैं। जिसमें पता लगता है कि वे दीर्घायु रहे होंगे। अंत समय में वे मगहर चले आये थे और कदाचित् वे वहीं मृत्यु को प्राप्त हुए। आज भी मगहर में उनका रोज़ा ( क़ब्र ) और समाधि है।

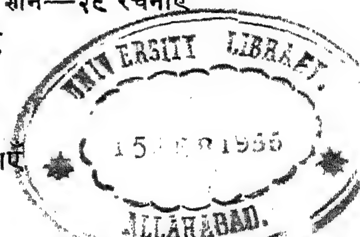
संक्षेप में यह कबीर के जीवन की रूपरेखा है। परन्तु इस रूपरेखा में

कबीर के काव्य के आधार पर उनके व्यक्तित्व, उनकी साधना, उनकी कान्ति और उनके तेज का रङ्ग भरना पड़ेगा। तभी हम उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व को अपने सामने पूर्ति कर सकेंगे।

( २ )

जिन रचनाओं को कबीर-कृत कहा जाता है उनकी संख्या बहुत बड़ी है। नागरी प्रचारणी सभा की खोज - रिपोर्टों के अनुसार कबीर के ग्रंथों की संख्या ६१ तक पहुचती है। विषय-विभाजन के अनुसार ये ग्रंथ इस प्रकार रखे जा सकते हैं :

( १ ) योगाभ्यास — ३ रचनाएँ
( २ ) ज्ञानोपदेश और आध्यात्मिक ज्ञान—३६ रचनाएँ
( ३ ) साधुसंत महिमा—४ रचनाएँ
( ४ ) विनय—३ रचनाएँ
( ५ ) सांप्रदायिक — "
( ६ ) संवाद और गोष्ठी—६ रचनाएँ
( ७ ) नाम-माहात्म्य—३ "




इनमें से ( १ ) ( ५ ) ( ६ ) निश्चय ही कबीर की रचनाएँ नहीं हो सकतीं। कबीर का आग्रह योग की ओर नहीं था, न उन्होंने किसी संप्रदाय की नीव डालो। इसलिए योग-संबंधी ग्रंथ और सांप्रदायिक ग्रंथ कबीर-पंथ की उपज हैं जिसकी प्रतिष्ठा कबीर के शिष्यों ने की थी। संवाद-ग्रंथ भी पंथ ने ही गढ़े होंगे। उनका उद्देश्य कबीर को सर्वमान्य बनाना और उन्हें महान पुरुषों की पंगत में बैठाना ही होगा। अन्य ग्रंथों के संबंध में भी निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। अभी कबीर की सारी सामग्री की तुलनात्मक और ऐतिहासिक परीक्षा नहीं हुई है। वह उसी समय संभव है जब हम निश्चित रूप से कबीर की भाषा और

उनके विचारों को ढूँढ़ निकालें और इस प्रकार उनके ग्रंथों की जाँच के लिए एक मापदंड का निर्माण कर लें।

परन्तु फिर भी कुछ साहित्य ऐसा है जो निश्चित रूप से कबीर का है, या बहुत कुछ कबीर का है :

## अ—बीजक

कबीर-साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग बीजक है। कबीर-पंथ में इस ग्रंथ की मान्यता सबसे अधिक है। बीजक में अनेक गेय छंद (पद) हैं। उनकी भाषा के संबंध में मतभेद है। पादरी अहमद शाह उसे बनारस, मिर्ज़ापुर और गोरखपुर के निकट की भाषा कहते हैं। डॉ० ग्रियर्सन का कहना है कि बनारस, मिर्ज़ापुर और गोरखपुर की भाषा बिहारी भाषा की भोजपुरी बोली का ही रूप है, परन्तु बीजक में भोजपुरी का कोई रूप मिलता ही नहीं। उनके विचार में बीजक की भाषा पुरानी अवधी है जो पश्चिमी मिर्ज़ापुर, इलाहाबाद और अवध की बोली है और जो रामचरित मानस की भाषा से अभिन्न है। कबीर ने अपनी भाषा को 'पूर्वी' कहा है—

मेरी बोली पूरबी

(बीजक, साखी १६४)

बीजक की कविताओं की भाषा अस्पष्ट और कठिन है। बोलचाल, मुहावरे और वाक्यगठन के विचित्र प्रयोग और यमक भाषा-संबंधी कठिनाई को और बढ़ा देते हैं। कबीर के अनेक शब्द अब अप्रचलित हैं। उनके अनेक प्रयोग व्याकरण-संमत भी नहीं हैं। बीजक में २००से अधिक फ़ारसी शब्द पाए जाते हैं, कुछ इस कारण कि कबीर मुसलमान हैं, कुछ इस कारण कि उस समय के साहित्य में हिंदू-मुसलमानों की सम्मिलित शब्द-निधि से काम चलता था, कुछ कबीर की सूफ़ी विचारधारा के कारण।

कबीर ने अपने समय की अपने प्रदेश की जन-प्रचलित भाषा में लिखा फलतः उनकी भाषा अनगढ़ है और उनकी शैली में असमानताएँ बहुत हैं। कबीर ने भाषा को बहती हुई नदी कहा है और संस्कृत को कूपजल। वस्तुतः जिन वर्गों में कबीर अपना संदेश पहुँचाना चाहते थे, उनके लिए संस्कृत अत्यंत दुर्गम थी। देशभाषा के प्रयोग ने ही मध्ययुग के साधकों को लोकप्रिय बनाया। उनका संदेश कालांतर में जनता का निश्चित मत बन गया।

बीजक की कविताएँ छंद-क्रम से संग्रहीत हैं :

१—आदि-मंगल, छोटी, प्राक्कथनात्मक कविता

२—रमैनी—दोहा चौपाई

३—शब्द—पद

४—चौंतीसी—नागरी वर्णमाला के ३४ व्यंजनों के आधार पर धार्मिक विवेचना

५—विप्रमतीसी—ब्राह्मण-धर्म-विरोधी छोटी रचना

६—ककहरा, बसंत, चाँचरी, बैली, बिरहूली, हिंडोला——पद लोकगीतों की शैली की रचनायें जिनकी परम्परा सिद्धों और नाथों की रचनाओं और 'गीत-गोविन्द' में सुरक्षित थी।

७—साखी—दोहे

८—सायर बीजक को पद—अंतिम पद

साहित्य की मात्रा शब्दों और साखियों में ही सब से अधिक है। साखियों मे कबीर की सबसे प्रामाणिक वाणी सुरक्षित है, ऐसा भी मत है। 'आदि मंगल' और 'सायर बीजक के पद' निश्चय रूप से क्षेपक हैं। परन्तु फिर भी, कड़ी अलोचना के बाद भी, बीजक का एक बड़ा भाग ऐसा बच जाता है जो निस्सन्देह कबीर

की रचना होगा। किस रूप में, इसकी विवचेना हम यथा-स्थान करेगें।

## ख—आदि-ग्रन्थ के पद

कबीर की रचनाओं का एक दूसरा परन्तु प्रामाणिक स्रोत आदि ग्रन्थ है। १६०४ ई० में गुरु अर्जुन देव ने इसका संग्रह किया। इसमें गुरु नानक, अगंद, रामदास, अर्जुन, तेगबहादुर और गोविन्द सिंह की रचनाएँ हैं। इन सिख गुरुओं के अतिरिक्त कुछ भक्तों की रचनाएँ भी हैं जैसे, नामदेव, रैदास, कबीर आदि। अन्य व्यक्तियों की रचनाओं में संख्या की दृष्टि से कबीर की रचनायें ही सबसे अधिक हैं। इससे स्पष्ट है कि अर्जुन देव उन्हें सिख विचारधारा के निकट पाते थे। 'आदि ग्रन्थ' के तीन भाग हैं—पहला जप-संबंधी, फिर पद, फिर परिशिष्ट जिसमें पंथेतर भक्तों-संतों की रचनायें हैं। कबीर की रचनाएँ दूसरे-तीसरे भाग में हैं। दूसरे भाग की कविताएं रागों के अंतर्गत संग्रहीत हैं। ३१ राग —रागिनियों में यह बँट गये हैं। कबीर की रचनाओं में इनमें से १६ राग-रागिनियां ही पाई जाती हैं। कबीर की पद-संख्या २२५ हैं। तीसरा खंड भोग कहलाता है। इसमें कबीर की २२४ साखियाँ-संख्या की दो — तिहाई हैं। 'बीजक' और 'आदि ग्रन्थ' की कविताओं में क्या संबंध हैं, यह जानना आवश्यक हैं। कबीर-पंथी ग्रन्थ की रचनाओं को उतना महत्व नहीं देते जितना बीजक को। अमृतसर के सिख गुरुद्वारा में कबीर-फाटक पर जो कबीर-पंथी बैठता है, वह केवल 'बीजक' का ही पाठ करता है। पादरी अहमद शाह का कहना था कि ये कविताएँ कबीर की प्रामाणिक रचनायें नहीं हैं। परन्तु कबीर की आत्मा उनमें अवश्य है। परन्तु कुछ दिन हुए उन्होंने इस विषय में अपना मत बदल दिया है और वह कहते हैं कि 'बीजक' की रचनायें

प्रामाणिक हैं उतनी ही प्रामाणिक वे रचनाएँ भी हैं। परन्तु इन रचनाओं से कबीर के जीवनवृत्त के संबंध में अधिक सामग्री प्राप्त होती है। बीजक की रचनाओं में इस प्रकार के केवल एक-दो उल्लेख मिलते हैं। इनमें सृष्टि-रचना संबंधी रचनायें भी नहीं हैं जो कदाचित् कबीर-पंथ की उपज हैं। 'बीजक' में ५१ रचनाएं ऐसी हैं जिनमें कबीर की छाप नहीं है। 'ग्रन्थ' में ऐसी रचनाएं बहुत कम हैं। बहुत कम रचनाएं ऐसी हैं जो 'बीजक' और 'आदि ग्रन्थ' दोनों में प्राप्त हैं, परन्तु कुछ की तुलना अवश्य हो सकती है। उनमें भी अक्षरशः साम्य नहीं है। 'परिशिष्ट' में हमने इन रचनाओं का निर्देश किया है। 'ग्रन्थ' में जिन रचनाओं को 'सलोक' कहा गया है, उन्हें 'बीजक' में साखी कहा गया है, परन्तु बहुत कम ऐसी हैं जो दोनों में सामान्य रूप से मिलती हैं।

दोनों संग्रहों में इतना कम साम्य आश्चर्य की बात है। परन्तु भाषा-शैली और आत्मा एक ही है। इसमें संदेह नहीं कि इसमें अधिकांश सामग्री कबीर की प्रामाणिक सामग्री है, यद्यपि दोनों में अनेक रचनाएं प्रक्षिप्त भी हैं। कहा जाता है कि कुछ सिख-गुरुओं ने भी कबीर की छाप देकर एकाध रचना उपस्थित की है। कुछ रचनाओं में कबीर को तृतीय बचन में स्मरण किया गया है जैसे रागु, ४ :

> किआ अपराध सन्त है कीन्हा।
> बांधि पोटि कुंजर कउ दीन्हा॥

कुछ कविताओं में एक अंश कबीर की माँ या पत्नी की उक्ति है और दूसरा अंश कबीर का उत्तर है। इस प्रकार की रचनाएं संदिग्ध ही हैं। बसन्तु, ४ में प्रह्लाद की कथा है। ऐसी कुछ और रचनाएं भी मिल सकती हैं।

कबीर के इन दो संग्रहों में विभिन्नताएं क्यों हैं? जान पड़ता है कि कबीर ने कविताएं स्वयं लिपिबद्ध नहीं कीं, बनारस में उन्होंने

अपने शिष्यों और प्रशंसकों को गा-गा कर ये रचनायें सुनाईं। उन्होंने कुछ दिन बाद उन्हें लिपिबद्ध कर लिया। परंतु एक समस्या यह है कि 'आदि ग्रंथ' की रचनाओं में कबीर की घरेलू बोली कहीं अधिक सुरक्षित है। ऐसा क्यों है? भाषा-शैली की दृष्टि में 'बीजक' की रचनाएं 'आदि-ग्रंथ' की रचनाओं से बहुत बाद की जान पड़ती हैं। जो हो, यह निश्चित है कि 'आदिग्रंथ' और 'बीजक' में कबीर की प्रामाणिक रचनायें बहुत बड़ी संख्या में सुरक्षित हैं, यद्यपि उनका रूप बदला हुआ है। 'आदिग्रंथ' की रचनायें अपेक्षाकृत कबीर के अधिक पास हैं।

ग—'कबीर-ग्रंथावली'

'कबीर ग्रंथावली' का मूलाधार संवत् १५६७ (१५०४ ई०) और संवत् १८८१ (१८२४ ई०) की दो पोथियां हैं। इनमें पहली पोथी के पाठ को ग्रंथ का रूप दे दिया गया है और पाठ को दूसरी पोथी के आधार पर सँभाला भी गया है। दूसरी पोथी में ५ अधिक पद और १३१ अधिक दोहे टिप्पणी के रूप में दे दिये गये हैं। सारी सामग्री साखी, पद और रमैणी में विभाजित है जिनकी संख्या क्रमश: ८०९, ४०३ और ७ है। परिशिष्ट में वह सामग्री भी दी हुई है जो 'आदिग्रंथ' से प्राप्त होती है परंतु जिसका उपयोग संपादित सामग्री में नहीं हो पाया है। आदिग्रंथ की जो सामग्री संपादित रूप में दी गई है, उसमें भी १५०४ ई० की पोथी को भाषा का आधार बनाया गया है। 'आदिग्रंथ' ( १६०४ ई० ) के उन्हीं पदों और सलोकु की भाषा कहीं भिन्न है। कदाचित् कबीर-वाणी का यह सबसे बड़ा सम्पादित संग्रह है। यह काफ़ी प्रामाणिक संग्रह माना जा सकता है। यह तो सम्भव है कि उसमें कबीर की मूल भाषा बहुत अंशों में सुरक्षित नहीं हो। राजस्थान केन्द्र में उसका सम्पादन हुआ जान पड़ता है और भाषा में राजस्थानी और पञ्जाबी रूप स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ते हैं। जो हो, जब तक इससे अधिक शुद्ध और सम्पादित

सामग्री हमारे सामने नहीं आती, तब तक यह संग्रह कबीर के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण ही बना रहेगा।

यह कहना कठिन है कि कबीर का सारा साहित्य इन तीन ग्रंथों में आ गया है अथवा इन ग्रन्थों में क्षेपक नहीं है। आगे हम इस विषय पर विस्तार-पूर्वक विचार करेंगे। थिति (तिथी), वार (सतवार), चौंतीसा (ग्यान चौंतीसा), पद और साखी (सब्दी) नाम की रचनाएं गोरख-साहित्य में भी पाई जाती हैं। अंतर केवल इतना है कि गोरखनाथ की सब्दी में दोहे के अतिरिक्त और भी छन्दों का प्रयोग हुआ है। यदि ये रचनाएं प्रमाणिक रूप से कबीर की रचनाएं हैं तो यह स्पष्ट है कि कबीर ने गोरखनाथ की जन-प्रिय शैलियाँ अपना ली हैं। फिर तो हमें कुछ अन्य रचनाओं की भी परीक्षा करनी पड़ेगी जो गोरखवाणी और कबीरवाणी में समान रूप से मिलती हैं जैसे प्राणसंगली, रोमावली, ग्यानतिलक। कबीरपंथी साहित्य में गोरखसाहित्य और उसकी शैलियों का प्रभाव भी बढ़ता गया है और गोरखमछीन्द्र गोष्ठी के आधार पर कबीर-धरमदास गोष्ठियों की कल्पना की गई है। वस्तुत: कबीर पूर्ववर्ती योगियों और सूफ़ियों के साहित्य से पूर्णत: प्रभावित हैं। उनकी भाषा-शैली पर भी गोरखवाणी की भाषा-शैली का व्यापक प्रभाव दिखलाई पड़ता हैं। इसमें संदेह नहीं कि कबीर योगियों (नाथपंथियों) और वैष्णव सगुण भक्तों के बीच की कड़ी हैं और उनका अध्ययन इसी रूप में अधिक लाभप्रद होगा। उन्होंने सारे मध्ययुग की धार्मिक और साहित्यिक चेतना को प्रभावित किया है।

जो हो, इसमें संदेह नहीं कि कबीर का साहित्य काफ़ी बड़ा और महत्वपूर्ण साहित्य है। कदाचित् अभी तक प्राप्त प्रामाणिक सामग्री के अतिरिक्त और भी बहुत सी रचना ऐसी पाई जायेगी जो परीक्षा करने पर कबीर की रचना सिद्ध होगी। उन्होंने लंबी आयु पाई थी और वे अन्य

संत-महात्माओं की तरह अपने जीवन के अंतकाल तक बराबर सतेज और सचेष्ट रहे होंगे। यह शोक का विषय है कि अब तक प्राप्त कबीर की कथित सामग्री की हम पूर्णतः परीक्षा नहीं कर सके हैं, न उनका कोई बड़ा प्रामाणिक संग्रह ही प्रकाशित हुआ है। प्रकाशित सारी सामग्री स्पष्टतः अधूरी और एकांगी है।

---

# ३

## इष्टदेव

कबीर के इष्टदेव अद्वैत निर्गुण ब्रह्म हैं। उनकी साधना और उनके गीतों के लक्ष्य वही हैं। यद्यपि कबीर ने इस अद्वैत निर्गुण ब्रह्म को अनेक नामों से संबोधित किया है[1] परंतु इसमें संदेह नहीं कि उनका इंगित इन नामों के पार झाँकने वाली अद्वय चित्सत्ता से ही है। इन सब नामों में राम नाम उन्हें सबसे प्यारा है। वह स्पष्ट कहते हैं—'हे प्राणी, राम को जप। वही अनन्त जीवन है।

राम शब्द कबीर के लिए ब्रह्म-भाव का ही प्रतीक है। कभी-कभी वह 'राजाराम' शब्द का भी प्रयोग करते हैं, परन्तु इसमें भी दाशरथि राम से उनका तात्पर्य नहीं होता। शुद्ध ब्रह्मभाव ही उनका लक्ष्य है। योगियों की परिभाषा में वह कभी राम को अनाहत का भी प्रतीक मान

---

१ राजा राम अनहद किंगुरी बाजै ( सिरी रागु, २ )
राम राजा नउ निधि मेरै ( रागु भैरउ, २ )
माधव जल की प्यास न जाइ ( रागु गउड़ी, २ )
धंनु गुपाल धंनु गुरुदेव ( रागु गौंड, ११ )
कहि कबीर भजु सारिंगपानी ( रागु गउड़ी, ४ )
अलह राम जीवउ तेरे नाई ( रागु बिभास, २ )
कबीरदास तेरी आरती कीनी निरंकार निरबानी ( वही, ५ )
दुआदस दल अभअंतरि मंत। जह पउड़े स्री कमलकंत ॥
( रागु भैरउ, १६ )

२ रमईआ जपहु प्राणी अनत जीवण ( सिरी रागु, १ )

लेते हैं।[3] परंतु ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं। वह राम की उपमा ऐसे रत्न से देते हैं जिसकी प्राप्ति से (मोह-जन्य) अंधकार का नाश हो जाता है।[4] सब को त्याग कर केवल राम को भजने में ही जीव का कल्याण है।[5] बिना राम-नाम के आज तक किसी ने भी मोक्ष नहीं पाई है।[6] जिन्हें राम से प्रेम नहीं वे यम-लोक की यातना सहते हैं।[7] बिना राम-नाम के जन्म-मरण के चक्र की समाप्ति असम्भव है।[8] यह राम तो रसायन है। इसे पाना ही अंतिम सिद्धि है।[9] यह राम ही

---

३ राजा राम अनहद किंगुरी बाजै।
जाकी दिसटि नाद लिव लागै॥
(सिरी रागु, २)

४ प्रगटी जोति मिटिआ अंधिआरा।
राम रतन पाइआ करत बीचारा॥
(रागु बिभास, प्रभाती, १)

५ सरब तिआगि भजु केवल रामु (रगु गउड़ी, ३)

६ कहु कबीर सुनहु नर भाई।
राम नाम बिनु किनि गति पाई॥
(वही, ४)

७ जउ पै राम राम रति नाही।
ते सभि धरमराइ कै जाही॥
(वही, ५)

८ जउ पै रसना रामु न कहिबो।
उपजत बिनसत रोवत रहिबो॥
(वही, ८)

९ राम रसायन पीउ रे कबीर (वही, ८)

सत्य है, अन्य सब झूठा है।[10] भक्त की तो साधना ही यही है कि राम से ओतप्रोत हो जाये, राम में रम जाये। उस समय का सुख अपूर्व है।[11]

परन्तु यह राम-भाव (भक्ति-भाव) धन से मोल नहीं लिया जा सकता। इसे तो मन, देह, बुद्धि और व्यक्तित्व का संपूर्ण रूप से आत्म-समर्पण कर ही प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु इससे भी बड़ी बात है स्वयं राम का अनुग्रह। जब मन सहज रूप से राम-भाव में स्थित हो जाय, तभी यह समझना चाहिये कि राम ने अपना लिया है। केवल तर्क-वितर्क से यह भक्ति-भाव मिलना असम्भव है। यह भाव तो राम की कृपा से घर बैठे ही, अयाचित ही, प्राप्त हो सकता है।[12]

## निर्गुण राम

जैसा हम ऊपर बताते हैं, कबीर के राम दाशरथि राम नहीं हैं।

---

साकत मरहि संत सभि जीवहि।
राम रसाइन रसना पीवहि ॥ (वही, १३)

१० सति रामु झूठा सभु धंधा (वही, १६)

११ गुरमति रसि रसि हरि गुन गावै।
राम राम रमत सुख पावै (वही, १६)

१२ कंचन सिउ पाईऐ नहीं तोलि।
मनु दे रामु लीआ है मोलि ॥
अब मोहि रामु अपुना करि जानिआ।
सहज सुभाइ मेरा मनु मानिआ ॥
ब्रह्मा कथि कथि अंत न पाइआ।
राम भगति बैठे घरि आइया ॥
कहु कबीर चञ्चल मति तिआगी।
केवल राम भगत निज भागी ॥

वस्तुतः राम शब्द से उन्हें विशेष मोह है परन्तु जिस संदर्भ में वे 'राम' शब्द का प्रयोग करते हैं उस संदर्भ में किसी भी अन्य शब्द का प्रयोग भी किया है। परन्तु वह यह निश्चित हैं कि अवतारवाद और सगुणवाद मिथ्या हैं। वह स्पष्ट कहते हैं कि निरञ्जन ( ब्रह्म ) सङ्कट में नहीं पड़ता, योनि में नहीं आता। उसके न माता है न पिता।[१३] जहाँ-जहाँ वे राम-कृष्ण का सगुण-परक उल्लेख करते हैं, वहाँ वे परम्परा को ही निभाते हैं या सगुण से परे निर्गुण-भाव का इङ्गित भी रख देते हैं।[१४] वास्तव में वहाँ भी कबीर का लक्ष्य निर्गुण ब्रह्म ही है।

यह निर्गुण ब्रह्म एक ही समय पिंड और ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। यह सर्वव्यापिन् भी है और हृदयस्थ भी। हृदय में वह कमल के रूप में निवास करता है। कबीर कहते हैं—शरीर-रूपी सरोवर के भीतर एक सुन्दर कमल है। उसी में परम ज्योति स्वरूप परमात्मा का निवास है जिसके रूप-रेख कुछ भी नहीं।[१५] वह अखंड रूप से प्रत्येक मनुष्य के मर्म में

---

१३ लाख चउरासीह जीअ जोनि महि भ्रमत नन्द बहु थाको रे।
भगति हेति अवतारु लीओ है भागु बड़ो बपुरा को रे॥
तुम जु कहत हउ नन्द को नन्दनु नन्द सु नन्दन का कोरे।
धरनि अकासु दसो दिस नाही तब इहु नन्दु कहा को रे॥
सङ्कटि नही परै जोनि नहीं आवै नामु निरञ्जन जा को रे।
कबीर को सुआमी ऐसो ठाकुरु जा कै भाई न बापो रे॥
( राग गउड़ी, ७० )

१४ बिंदावन मन हरन मनोहर क्रिसन चरावत गाऊ रे।
जा का ठाकुरु सारिंगधरि मोहि कबीरा नाऊ रे॥
( वही, ६६ )

१५ सरीर सरोवर भीतरे आछै कमल अनूप।
परम जोति पुरषोतमो जाकै रेख न रूप॥
( रागु बिलावलु, १० )

विद्यमान है।[१६] सच तो यह है कि यह कहना असम्भव है कि वह मनुष्य और जगत में व्याप्त है या मनुष्य और जगत उससे ओतप्रोत हैं। वह अलख है, देखा नहीं जाता, परन्तु जब हृदय की आँख खुलने पर सब कुछ वही दिखलाई पडता है तब मनुष्य की शङ्का का नाश हो जाता है।[१७] परन्तु बंदा उसे सहज ही दिल (हृदय) में पा सकता है। और जहाँ उसने हृदयस्थ राम के दर्शन कर लिए वहाँ उसे संसार के सारे प्राणी ईश्वर रूप (ब्रह्ममय) ही दिखलाई देंगे।[१८] इसी हृदयस्थ ईश्वर को कबीर योगियों की भाषा में द्वादश दल कमल में भी बसा बताते हैं।[१९] द्वन्दों पर विजय पाते ही इस हृदयस्थ राम से परिचय प्राप्त हो जाता है।[२०]

---

१६-१७ सभ महि सचा एको सोई · · ·
सभ महि एकु खुदाई · · ·
खालिक खलक खलक महि खालक पूरि रहिओ सब ठाँई॥
अलहु अलखु न जाई लखिआ गुरि गुड़ दीना मीठा।
कहि कबीर मेरी संका नासी सरब निरञ्जनु डीठा॥
(राग विभास, ३-४)

१८ दिल महि खोजि दिलै दिलि खोजहु एही ठउर मुकामा।
एते अउरत मरदा साजे ए सभ रूप तुमारे॥
(वही, २)

१९ दुआदस दल अभअंतरि मंत।
जह पउड़े स्री कमलाकन्त॥
(राग भैरउ १९)

२० है हजूरि कत दूरि बतावहु।
दुन्दर बांधहु सुन्दर पावहु॥ (वही, ११)

सूफी भी सर्वव्याप्त और अन्तरर्यामी ब्रह्म को मानते हैं, परन्तु कबीर कदाचित् योगियों से विशेष प्रभावित होने के कारण हृदयस्थ ब्रह्म पर ही अधिक बल देते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि मन मक्का है, देह किबला है, बोलने वाला ही परम गुरु ब्रह्म है।[२१] इसीसे वह परमात्मा की प्राप्ति के लिए कायागढ़ जीतने का रूपक बाँधते हैं।[२२] कबीर जीव-ब्रह्म के एकत्व के पूर्णतय: विश्वासी हैं। अत: ब्रह्म के सर्वव्यापिन् या अन्तर्यामिन् होने की बात उनके लिए विशेष महत्व नहीं रखती। बाहर-भीतर जो है सब ब्रह्म है। उसके सिवा और तो कुछ है ही नहीं। केवल माया के कारण जीव इस परमात्मा को भूल गया है। इसीसे उसे पीछे हृदय की ओर लौटना होता है और पिंड में ब्रह्माण्ड को, जीव में ही ब्रह्म को देखने की अलौकिक दृष्टि विकसित करनी होती है। यही निर्गुण की प्रेम-रहस्य की साधना है। 'हरि महि तनु है तन महि हरि है सरब निरन्तरि सोइ रे।' यह भावना निर्गुण ब्रह्म की भावना का अनुभूति-परक रूप है। यही कबीर की भक्ति और रहस्यवाद की साधना की पृष्ठ-भूमि है। निर्गुण ब्रह्मवाद को व्यक्तिगत इष्ट का रूप देना सरल नहीं था परन्तु कबीर की साधना में यह असंभव भी सम्भव है।

## राम का ऐश्वर्य

राम के ऐश्वर्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—'उनका प्रकाश कोटि सूर्य के प्रकाश के समान है, कोटि महादेवों और कैलाशों के समान है। कोटि दुर्गाएँ उनका चरण दबाती हैं। कोटि ब्रह्मा उनकी प्रशंसा करते हैं। ऐसे राम से ही याचना कर। अन्य किसी भी देवता से तुझे क्या काम! (उसके राजमहल में) कोटि चन्द्रमा दीपक की भाँति

---

२१ राग भैरव, ४

२२ „ „ ,१७

उजाला कर रहे हैं। (उसकी रसोई में) तैतीसों देवता भोजन करते हैं। नवग्रह उसके दरबार में हाथ बाँधे खड़े रहते हैं। धर्म उसका प्रतिहार है। कोटि पवन परिक्रमा करते हैं। बासुकि की करोड़ों सेजें हैं। कोटि समुद्र उसके लिए पानी लाते हैं। 'इत्यादि'। एक दूसरे स्थल पर वह इस ब्रह्म को बाल गोपाल का नाम देकर उसे 'अगम' के झूले में झुलाता है—'उसने अपने लिए अगम और दुर्गम निवास स्थान बना लिया है। उसमें सदा ज्योति प्रकाशित होती रहती है। बिजली चमकती है। आनन्द का स्फुरण होता है। बाल गोपाल उस महल में हिंडोले में झूलते हैं।' परन्तु वह शीघ्र ही बता देते हैं कि ये बाल गोपाल सगुण ब्रह्म नहीं हैं। यह तो एक रूपक मात्र है। वह तो अगम-अगोचर है यदपि वह कदली-पुष्प, धूप और धूलि तक में समाये हैं। वह हृदय के भीतर भी निवास करते हैं, परन्तु इससे उनके ऐश्वर्य में बाधा नहीं पड़ती। यह सब तो उनकी कला (माया) है। ब्रह्म का यह विरोधी-धर्माश्रय रूप उसके अपार ऐश्वर्य का ही द्योतक है। एक दूसरे पद में मुसलमानी दन्त-कथाओं से अपने प्रतीक लेता हुआ वह कहता है—'जिसके सत्तर सौ सालार हैं, सवालाख पैगम्बर हैं, अट्ठासी करोड़ शेख हैं, छप्पन करोड़ खेला-खासी हैं, उसके पास मैं कैसे पहुँच सकूँगा। मुझ गरीब को कौन पूछेगा? उसकी मजलिस में पहुँचना तो दूर है, उसका महल भी मुझे नहीं मिल सकेगा। इसी ऐश्वर्य से प्रभावित हो भक्त अत्यंत विनय-भाव से भगवान की शरण जाता है। वह उसे मेरु पर्वत मानता है और उसकी ओट में रहने में ही अपनी रक्षा समझता है। इस तरह तुलसी की भाँति सेवक-सेव्य भाव की भक्ति का पूर्ण विकसित पक्ष हमें कबीर के काव्य में दिखलाई देता है।

## राम का माधुर्य

परन्तु भक्त का हृदय भगवान के ऐश्वर्य में नहीं रमता। उसे जा

क्षण-क्षण आकर्षित और चकित करने की क्षमता रखता है वह, तो राम का माधुर्य ही है। हृदय की आँखों से देखा जाये तो वह निर्गुण भी कम सुन्दर नहीं है, परन्तु निर्गुण की शोभा को देखने वाले कितने हैं! कबीर कहते हैं—'उन चरण कमलों के सौन्दर्य का कैसे अनुमान करूँ। उसका सौन्दर्य देखने की वस्तु है, वह कहने की चीज़ नहीं है।'[२३] 'देख कर क्या करूँ? कहूँगा तो विश्वास किसे होगा? हरि तो जैसा है तैसा है। हमें तो आनन्द-पूर्वक उसके गुण गाना?'[२४] राम का सौन्दर्य देख कर साधक मुग्ध है। कबीर कहते हैं—'इन दो-दो आँखों से देखा। हरि के बिना और कोई दिखाई नहीं पड़ा। नैत्र उसकी शोभा में ही रमे रह गये। अब उस शोभा का वर्णन नहीं हो सकता।'[२५] इस माधुर्य-भाव की पराकाष्ठा उन पदों और और साखियों में मिलती है जिनमें कबीर ने राम को प्रियतम और भक्त को 'सुहागिनि' माना है। यहाँ राम के रूप का

---

२३ कबीर चरन कमल की मउज को कहि कैसे उनमान।
कहिबे कउ सोभा नही देखा ही परवानु॥
(सलोकु, १२३)

२४ कबीर देखि कै किह कहउ कहे न को पतिआइ।
हरि जैसा तैसा उही रहउ हरखि गुन गाइ॥
(वही, १२२)

२५ दुइ दुइ लोचन पेखा।
हउ हरि बिनु अउरु न देखा॥
नैन रहे रंगु लाई।
अब बेगल कहनु न जाई॥
(रागु सोरठि, ४)

विशेष वर्णन नहीं है, परन्तु प्रसङ्ग से ही माधुर्य-भाव का इंगित हो जाता है।[२६]

## राम का परमानन्द रूप

यह राम आनन्द मूल भी हैं।[२७] सारे सुख और सारे आनन्द उन्हीं से प्रवाहित होते हैं।[२८] जो राम को जान जाता है, उसका व्यक्तित्व भी आनन्द-भाव से ओतप्रोत हो जाता थे। इस आनन्द-भाव को कबीर ने रामरस रूपी मदिरा के विशुद्धकारी प्रभाव के रूप में प्रकट किया है। वह बार-बार इस परमानन्द भाव को प्रकाशित करते हैं।[२९] इस आनन्द का वर्णन करते हुए वे थकते नहीं। आत्मा के इस सर्वभक्षी आनन्द का सबसे सुन्दर निरूपण उन पदों में हुआ है जहाँ कवि विरहिणी का रूपक बाँधता है और प्रिया-प्रियतम के मिलने के चमत्कारिक वर्णन उपस्थित करता है। वस्तुतः राम का परमानन्द

---

२६ देखिये राग आसा ३०, राग गउड़ी ६५, ५०

२७ आनंद मूल सदा पुरखोतमु

(राग गौंड, ३)

२८ सरब सूख को नाइको रामनाम रसु पीउ ॥ (सलोकु ३)

२९ ऐसे गिआन प्रगटिआ पुरषोतम
कहु कबीर रंगि राता।
अउर दुनी सभ भरमि भुलानी।
मनु राम रसाइन माता ॥

(राग सिरी, २)

उआ कउ कहीऐ सहज मतवारा।
पीवत राम रसु गिआन बीचारा ॥

(राग गउड़ी, २७)

रूप उनके माधुर्य का ही विकास है। राम का व्यक्तित्व विरोधी-धर्माश्रय है, फलत: उसमें माधुर्य, आनन्द और ऐश्वर्य के सारे तत्त्वों का एकीकरण हो जाता है।

## भक्तवत्सल राम

कबीर के निर्गुण, अव्यक्त, अनवतारी राम भक्तवत्सल भी हैं। उन्हीं की कृपा से भक्त माया के इन्द्रजाल से बच पाता है। रामभक्ति के अमृत-जाल को भी उन्हीं की अनुकम्पा-द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। कबीर कहते हैं—'मन के शमन के लिये बन में जाने की आवश्यकता नहीं है। बिना भगवत्कृपा वह जल नहीं मिलता जो माया की अग्नि को शान्त कर सके। राम की कृपा से ही यह भवसागर सुखसागर बन जाता है।'[३०] चतुराई से भगवान की कृपा को प्राप्त करना असम्भव है। वह भक्त वत्सल है।[३१] इसी से भक्त बार-बार गद्‌गद् कण्ठ से

---

३० मनु मारण कारणि बन जाईऔ।
सो जल बिनु भगवंत न पाईऔ॥
जिह पावक सुरि नर हैं जारे।
राम उदकि जन जलत उबारे॥
भवसागर सुख सागर माहीं।
पीवि रहे जल निखुटत नाहीं॥

(राग गउड़ी, १)

३१ रे जन मनु माधव सिउ लाईऔ।
चतुराई न चतुरभुज पाईऔ।

(वही, ६)

भगवान के प्रति प्रार्थी होता है।[३२] राम की कृपा पाने पर संसार का रूप ही बदल जाता है।[३३] और यह कृपा पाना कोई कठिन बात नहीं है। भक्त को राम की कृपा पर पूरा भरोसा है। फिर उसे अन्य किसी की ओर ताकने की क्या आवश्यकता है?[३४] वस्तुतः राम का शरणागत और भक्तवत्सल भाव ही भक्त का सबसे बड़ा आश्रय है। कबीर जैदेव, नामदेव, ध्रुव, प्रह्लाद आदि भक्तों के आदर्श को अपने सामने रखते हैं और उन्हें यह निश्चय है कि जिस प्रकार राम ने उन पर कृपा की थी उस प्रकार वह उन पर भी कृपा करेगा। वैष्णव साहित्य में भगवान की भक्त-वत्सलता पर बड़ा बल दिया जाता है। कबीर ने वैष्णवों की चिंता-धारा लगभग पूर्णतयः स्वीकार कर ली

---

३२ कहु कबीर प्रभु किरपा कीजै।
हारि परे अब पूरा दीजै॥
(वही, १३)

३३ जम ते उलटि भए हैं राम।
दुख बिनसे सुख कीओ बिसराम॥
बैरी उलटि भए हैं मीता।
साकत उलटि सुजन भए चीता॥
अब मोह सरब कुसल करि मानिआ।
सांति भई जब गोबिंदु जानिआ॥
(वही, १७)

३४ जाकै हरि सा ठाकुरु भाई।
मुकति अनन्त पुकारणि जाई॥
अब कहु राम भरोसा तोरा।
तब काहू का कवन निहोरा॥
(वही, २२)

है। भक्तवत्सलता का भाव भी उन्होंने वहीं से लिया है। वह कहते हैं—

कवन काज सिरजे जग भीतरि जनमि कवन फलु पाइआ।
भवनिधि तरन तारन चिंतामनि इक निमख न इहु मनु लाइआ॥
गोविंद हम ऐसे अपराधी।
जिन्हि प्रभि जीउ पिंडु का दीआ तिस की भाउ भगति नहीं साधी॥
(राग रामकली, ७)

कभी-कभी कबीर फ़ारसी काव्य-परम्परा से प्रभावित होकर राम (हरि) की उपेक्षा और कठोरता का भी इंगित देते हैं, परन्तु यह भावधारा कबीर के काव्य में अधिक व्याप्त नहीं है।[२५] उनके काव्य में राम की भक्तवत्सलता और उनकी शरणागति का ही विशद निरूपण मिलता मिलता है। राम की करुणा ही तो भक्त का एकमात्र आश्रय है।

## राम के प्रति अनन्य भाव

परन्तु भगवान की अनुकम्पा-प्राप्ति के लिए उनके प्रति अनन्य भाव होना परमावश्यक है। 'सब तज, हरि भज'। कबीर कहते हैं—रे जीव, तू निर्लज्ज है। तुझे लाज नहीं आती। हरि को छोड़ कर तू किसकी शरण जाता है। जिसका ठाकुर इतना बड़ा है, वह क्या

---

२५ कबीर ना मोहि छानि न छापरी ना मोहि घरु नहिं गाउ।
मत हरि पूछै कउनु है मेरे जाति न नाउ॥
कबीर मुहि मरने का चाउ है मरउ त हरि कै दुआर।
मत हरि पूछै कउनु है मरा हमारै बार॥
(सलोकु, ६०६१)

किसी दूसरे के घर जायेगा ?[३६] जीव को तो ब्रह्म के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण कर देना चाहिये। 'न मेरा ही कुछ अस्तित्व है, न कुछ मेरा है। यह तन, यह धन, सारा रस गोविंद तेरा ही है।'[३७] कबीर कहते हैं—'हे दीनदयाल, तेरे ही भरोसे मैंने सारे परिवार को इस बेड़े पर चढ़ा दिया है। जैसा चाहे, हुकुम दे। किसी तरह इस बेड़े को पार लगा।'[३८] इस अनन्यभाव से आत्मसमर्पण करने में अपार सुख है। कबीर कहते हैं—'मैंने यह समझ लिया कि जो मुझे प्राप्त है, वह तेरे कारण है, जो प्राप्त होगा, वह तेरे कारण होगा। जो इस तरह समझ लेता है, वही सहज में समा जाता है। इस धारणा के जाग्रत होते ही सांसारिक संघर्षों का नाश हो गया और मन स्वतः ही ईश्वर

---

३६ रे जीअ निलज लाज तुहि नाही।
हरि तजि कत काहू के जाही॥
जाको ठाकुर ऊचा होई॥
सो जनु पर घर जात न सोई॥

(राग गउड़ी, ३८)

३७ मैं नाहीं कछु आहि न मोरा।
तनु धनु सभु रसु गोविंद तोरा॥

(वही, ६०)

३८ दीन दइआल भरोसे तेरे।
सभु परिवारु चड़ाइआ बेड़े॥
जा तिसु भावै ता हुकमु मनावै।
इस बेड़े कउ पारि लघावै॥

(वही, ६१)

में लीन हो गया।'[३९] एक दूसरे स्थान पर कबीर कहते हैं—'मेरा धन तो हरि का नाम है। इस धन को न मैं गाँठ में बाँध सकता हूँ, न इसका व्यवसाय करता हूँ। यह धन तो व्यय करने से बढ़ता है। नाम मेरी खेती-बाड़ी है। हे मेरे हरि, मैं तुम्हारी शरण हूँ। मैं तुम्हारी भक्ति करता हूँ। न मेरे माया है, न पूँजी। तुम्हें छोड़ कर किसी दूसरे को नहीं जानता। न मेरे भाई-बंधु हैं, न मेरे संगी-साथी-सखा।[४०] 'हे स्वामी, तू मेरा मेरु-पर्वत है। मैं तेरी ही ओट पकड़ता हूँ। न तुम कभी डोलोगे, न मैं अस्थिर रहूँगा।'[४१] कभी-कभी यह

---

३९ जो किछु होआ सु तेरा भाणा।
जो इव बूझै सु सहजि समाणा॥
कहतु कबीरु किलबिख गए खीणा।
मनु भइआ जगजीवन लीणा॥
(राग बिभास, १)

४० इहु धनु मेरे हरि के नाउ।
गाँठि न बाँधउ बेचि न खाउ॥
नाउ मेरे खेती नाउ मेरे बारी।
भगति करउ जनु सरनि तुम्हारी॥
नाउ मेरे माइआ नाउ मेरे पूँजी।
तुमहि छोड़ि जानउ नहीं दूजी॥
नाउ मेरे बंधिप नाउ मेरे भाई।
नाउ मेरे संगि अंति होइ सखाई॥
(राग भैरउ, १)

४१ तूं मेरो मेरु परबतु सुआमी ओट गही मैं तेरी।
ना तुम डोलहु ना हम गिरतै रखि लीनी हरि मेरी॥

अनन्यभाव पराकाष्ठा को पहुँच जाता है जहाँ कबीर अपने को हरि का 'कूकर' (कुत्ता) कहने लगते हैं और इसके सामने बदन फैला कर भौंकने की कल्पना करते हैं। वह कहते हैं—'पूर्व जन्म में हम तुम्हारे सेवक थे। वह सेवकाई अब छोड़ी नहीं जाती। तेरे द्वार पर ही मेरी धूनी है। उसका दाग़ आजतक मेरे माथे पर है।[४२]

## संसार और माया

अद्वैतवाद संसार को ब्रह्म से अलग कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता। यह जो जड़-चेतन का प्रसार दिखलाई देता है, यह ब्रह्म से भिन्न नहीं है, यह ब्रह्म ही है, ऐसा वेदान्ती कहता है। परन्तु भिन्न न होते हुए भी जो भिन्नता दिखलाई पड़ती है, उसके लिये भी थोड़ी व्याख्या चाहिये। वेदांती कहता है कि यह भिन्नता आभास-मात्र है, अध्यास है, यह वास्तव में है नहीं, लगती-सी है। इस भिन्नता का मूल मनुष्य के अज्ञान में है और यह अज्ञान मनुष्य की सीमाओं के कारण है। इसे ही माया कहा गया है। माया के कारण मनुष्य वस्तु-स्थिति को भूल जाता है। यह सारा संसार, ये सारे जड़-चेतन ब्रह्म के ही प्रसार हैं, उसे यह स्मरण नहीं रहता। फलतः अहंभाव का जन्म होता है, और वह ममता के बन्धन में बँध कर कुंठित हो जाता है।

कबीर ब्रह्मवादी हैं। वे अद्वैत ब्रह्म में पूर्ण आस्था रखते हैं।

---

४२ हम कूकरि तेरे दरबारि।
भउकहि आगै बदनु पसारि॥
पूरब जनम हम तुम्हरे सेवक अब तउ मिटिआ न जाई।
तेरे दुआरै धुनि सहज की माथै मेरे दगाई॥

उन्होंने माया को जीवब्रह्म के बीच का महान व्यवधान माना है। माया सत्य हो या असत्य, उसकी शक्ति अपार है और उसके भ्रम में जीव तात्त्विक सत्य को भूल जाता है। कबीर ऐसा मानते हैं। इस भ्रम को तोड़ना बड़ा कठिन है। जैसे-जैसे बालक बड़ा होता जाता है, मा प्रसन्न होती जाती है, बालक बड़ा हो रहा है। वह प्रति क्षण आयु-क्षीण हो रहा है, यह वह नहीं जानती। ऐसा है माया का भ्रम :—

एक सुश्रानु कै घरि गावणा।
जननी जानत सुतु बड़ा होतु है

इतनाकु न जानै जि दिन-दिन अवध घटतु है॥
मोर मोर करि अधिक लाडु धरि देखत ही जमराउ हसै॥

ऐसा तैं जगु भरमि लाइआ।
कैसे बूझै जब मोहिआ है माइआ॥

( सिरी रागु, १ )

इस माया के कारण ही मनुष्य असार को सारवान समझने लगता है और उसके प्रति उसका इतना मोह हो जाता है कि अन्त में वह सत्य को ग्रहण करने की क्षमता ही नहीं रख पाता। बड़ी सुन्दर उपमाओं के द्वारा कबीर माया के इस कोरे आकर्षण को प्रकाशित करते हैं :—

जिउ नलिनी सूअटा गहिओ मन बउरा रे माया इहु बिउहारु।
जैसा रंगु कसुंभ का मन बउरा रे तिउ पसरिओ पसारु॥

( राग गउड़ी, ५७ )

वस्तुतः यह सारा संसार ही माया-जाल में फँस कर अन्धा बन गया है :—

जगु माइआ अंधा ( वही, ६७ )

इस माया को ठगनी का रूपक देते हुए कबीर कहते हैं :—

इकतु पतरि भरि उरकट कुरकट इकतु पतरि भरि पानी ।
आसि पासि पंच जोगिआ बैठे बीचि नकटदे रानी ॥
नकटी को ठनगनु बाड़ा डूँ । किनहि बिबेकी काटी तूँ ।
सगल माहि नकटी का बासा सगल माहि अउहेरी ।
सगलिआ की हउ बहिन भानजी जिनहि बरी तिसु चेरी ॥
हमरो भरता बड़ो बिबेकी आपे संतु कहावै ।
ओहु हमारे माथै काइमु अऊरु हमरै निकटि न आवै ॥
नाकहु काटी कानहु काटी काटि कूट कै डारी ।
कहु कबीरु संतनि की बैरनि तीनि लोक की दिआरी ॥
( रागु आसा, ४ )

—'एक पात्र में खाने के टुकड़े ( उरकट-कुरकट ) हैं और एक पात्र में पानी है। चारों ओर पंच जोगी बैठे हैं और बीच में नकटी रानी। ( पंच इन्द्रियों को कबीर ने पंच जोगी कहा है और नकटी माया है ) वाह, इस नकटी का नखरा बहुत बड़ा हुआ है। ऐ री, किस विवेकी ( ज्ञानबली ) ने तेरी नाक काट ली। इस नकटी माया का निवास सभी स्थानों में है और इसने सभी को अहेर ( शिकार ) बना डाला है। यह ( माया ) सब संसार की बहन और भांजी बन कर बैठी है। किन्तु जिन लोगों ने इसे बरण कर अपनी स्त्री बना लिया उनकी वह दासी हो गई। हमारा गुरु बड़ा विवेकी है। वह बड़े संत के रूप में प्रसिद्ध है। हमारे मस्तक पर उसकी छाया है। इसी से वह नकटी माया हमारे पास भी नहीं आ सकती।'

कभी वे उसे सर्पिणी बनाते हैं :—

सरपनी ते ऊपरि नहीं बलीआ ।
जिनि ब्रह्मा बिसनु महादेउ छलीआ ॥

मारु मारु स्रपनी निरमल जलि पैठी ।
जिनि त्रिभुवणु डसीअले गुर प्रसादे डीठी ।।

परन्तु जो इस सर्पिणी की असारता को जानता है, वह सहज ही में इसको नष्ट कर सकता है। यह तो भ्रम मात्र है। मन का खेल है। मन के द्वारा ही यह नष्ट होगी। इसी से कबीर कहते हैं :

स्रपनी स्रपनी किआ कहउ भाई ।
जिनि साचु पछानिआ तिनि स्रपनी खाई ॥
(रागु आसा, १६ )

इस माया के कारण ही मनुष्य इस स्वप्नवत् जगत को सत्य समझ लेता है और इस प्रकार अपने ज्ञान-रूपी रत्न को खो देता है। कबीर कहते हैं :

जगि जीवनु ऐसा सुपने जैसा जीवनु सुपन समानं ।
साचु करि हम गांठि दीन्ही छोड़ि परम निधानं ॥
बाबा माइआ मोह हितु कीन्ह ।
जिनि गिआनु रतनु हरि लीन्ह ॥
(रागु आसा, २७ )

कंचन-कामिनी और लोभ-मोह एवं क्रोध इसी माया के अंग हैं। इन्हीं के द्वारा इस संसार का व्यापार चलता है। यह सारा संसार ही माया ने बेध डाला है। जहाँ-जहाँ मोह-ममता है, घृणा-द्वेष है, संचय और काम का भाव है, अहंता और मदमत्ता है, वहाँ-वहाँ माया का ही प्रसार है। कबीर माया के इस सर्वव्यापी प्रभाव की बड़ी ही रहस्यमय कल्पना करते हैं : 'पानी में मछली को माया ने बेध दिया है। दीपक की ओर उड़ने वाला पतंगा भी माया से छेदा गया है। हाथी को भी काम की माया व्यापती है। सर्प और भृङ्ग भी माया

में नष्ट हो रहे हैं। हे भाई, माया इस प्रकार मोहित करने वाली है कि (संसार में) जितने भी जीव हैं वे सभी उसके द्वारा ठगे गए हैं। पक्षी और मृग भी माया ही में अनुरक्त हैं। शक्कर मक्खी को संतप्त करता है। घोड़े और ऊँट, चौरासी सिद्ध, छः यती, नव नाथ, सूर्य और चन्द्र, तपस्वी, ऋषीश्वर सभी माया के इन्द्रजाल में फँसे हैं। मृत्यु और पंचेन्द्रियाँ माया के ही दूत हैं। सारे पशु-पक्षी माया के बन्धन में बँधे हुये हैं। देवगण, सागर, इन्द्र, पृथ्वी उसी माया में फँसे हैं। जिसे क्षुधा है, चाहे वह पेट की हो चाहे काम की, उसी को माया संतप्त करती है। यह माया तभी छूट सकती है जब सच्चे साधु की संगति प्राप्त हो।[४३] इस रहस्य के ऐन्द्रजालिक परदे के पार जीवन के सत्य का साक्षात्कार करना सचमुच बड़ा कठिन काम है। गुरु के आशीष और ईश-कृपा के बिना यह असम्भव ही है। इसके लिये मन को जगाकर मैदान में उतारना होगा। मन कभी परमात्मोन्मुख हो जाता है, कभी संसारोन्मुख। इस द्विविधा को उसे छोड़ना होगा। इसी से कबीर मन को उद्बोधन देते हुए कहते हैं :

मन रे छाडहु भरमु प्रगटु होइ नाचहु इआ माइआ के डांड़े।
सूरु कि सनमुख रन ते डरपै सती कि साँचे भांड़े॥

डगमग छाड़ि रे मन बउरा।
अब तउ बारे जरे सिधि पाईऐ लीजो हाथि संधरा॥

(हे मन, तू यह भ्रम छोड़ दे। यदि तू इस माया के दंड से अनु-शासित हो कर नाच ही रहा है, तो निःसंकोच नाच। यह तो माया और तेरा द्वन्द है। क्या शूरवीर कभी सम्मुख संग्राम से डरता है। सती स्त्री क्या कभी संपत्ति का संचय करती है। रे पागल मन, तू अपनी

४३ देखिये, रागु भैरउ, १३

अस्थिरता छोड़ दे। अब तो तूने सिधौरा ले लिया। तुझे इस सत के लिए जल मरना ही सिद्धि देगा।[४४]

परन्तु मन की इस द्विविधा पर उसी समय विजय पाई जा सकती है जब मनुष्य माया की 'ठगौरी' को पूर्णतः हृदयंगम कर ले और अद्वैतभाव में आत्मनिष्ठ हो जाये। वह यह जान ले कि सारा मायाजाल, ये संसार के नाते, मिथ्या हैं। न कोई माता है, न पिता। न कोई जन्मता है, न मरता है। न कोई पत्नी है, न कोई पति है। यह सब हरि की ठग-विद्या है। इस 'ठगहरी' से ही मनुष्य ठगा जाता है। जो उस ठग का स्नेह प्राप्त कर लेता है, उस पर इस 'ठगहरी' का ज़रा भी प्रभाव नहीं पड़ता।[४५] 'यह संसार बाज़ीगर का तमाशा है। डंके की चोट पर बाज़ीगर खेल दिखा रहा है। यह सारा इन्द्रजाल उसका स्वाँग है। वह स्वयं ही अनेक खेलों का रूप धारण कर रहा है। कहने-सुनने से ही यह भ्रम नहीं जाता। इसके लिये गुरु के

---

४४ रागु गउड़ी, ६८

४५ कउनु को पूतु पिता को का को।
कउनु मरै को देइ संतापो॥
हरि ठग जग कउ ठगउरी लाई।
हरि के बियोग कैसे जीअउ मेरी माई॥
कउन को पुरखु कउन की नारी।
इआ तत लेहु सरीर बिचारी॥
कहि कबीर ठग सिउ मनु मानिआ।
गई ठगउरी ठगु पहिचानिआ॥

(रागु गउड़ी, ३६)

उपदेश और आत्मानुभव की आवश्यकता है।[४६] माया से यह शरीर जला जा रहा है। सतगुरु की कृपा से जब भगवान में चित्त स्थिर होगा, तभी यह तपन शान्त होगी। सन्तोष, नामस्मरण, भाव-भगति और सारे विश्व में उसी एक प्रेममय चितसत्ता की चिरव्याप्ति की अनुभूति ही माया के बन्धन को तोड़ सकती है।[४७] परन्तु इनसे अधिक उपादेय है भगवत्कृपा। जिसके भाग्य में बदा होता है, उसे ही यह ईशानुकम्पा प्राप्त होगी। जब राम सहायक होते हैं, तभी जन्म-मरण का बन्धन कटता है। सच तो यह है कि हरि ही भक्त का रखवाला है। सारे जीव माया के मोह में पड़े रहते हैं और इस प्रकार दिन-रात अध्यात्म भाव से क्षीण होते हैं। केवल संत गुरु-प्रसाद और ईशानुग्रह से माया के इन्द्रजाल में नहीं फँसता। स्वयं माया ही उसके

---

४६ बाजीगर डंक बजाई।
सभ खलक तमासे आई॥
बाजीगर स्वांगु सकेला।
अपने रंग रवै अकेला॥

(राग सोरठि, ४)

४७ माइआ तपति बुझिआ अगिआरु।
मनि संतोख नामु आधारु॥
जलि थलि पूरि रहे प्रभ सुआमी।
जत पेखउ तत अंतरजामी॥
अपनी भगति आप ही द्रिड़ाई।
पूरब लिखतु मिलिआ मेरे भाई॥

(राग गउड़ी, ४०)

पीछे दौड़ी-दौड़ी फिरती है परन्तु उसे आकर्षित करने में सफल नहीं होती।[४८]

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि कबीर पारमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्ममात्र को मानते हुए भी लौकिक दृष्टि से इस संसार को माया का प्रसार मानते हैं। उनके लिए माया भ्रम-जन्य है। वह 'बाज़ीगरी' है, 'ठगौरी' है। साधारण मनुष्य उसके भुलावे में भूल जाता है। परन्तु हरि-कृपा और गुरु-प्रसाद से भक्त बचा रहता है। माया चाहे कितना ही आकर्षक रूप धारण करके उसके सामने आये वह उसे छलने में असमर्थ है। 'भगति' के द्वारा माया का बाध होता है। केवल ज्ञान माया के प्रभाव और आकर्षण को पूर्णतः नष्ट करने में असमर्थ है। लोभ, क्रोध, तृष्णा, ममता और काम की शक्ति कम नहीं है। यही माया के आकर्षक रूप हैं। केवल हरि-कृपा से भक्ति का उदय होने पर ही मनुष्य इन निचले तत्त्वों के ऊपर विजय प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार कबीर के काव्य में हम माया के विध्वंसकारी रूप से ही परिचित होते हैं।

---

४८ एक सुहागनि जगत पिआरी।
सगले जीव-जंत की नारी॥
सुहागनि गलि सोहै हारु।
संत कउ बिखु बिगसै संसारु॥
करि सींगारु बहै पीउआरी।
संत की ठिठकी फिरै बिचारी॥
संत भागि ओह पाछै परै।
गुर परसादी मारहु डरै॥

(रागु गौंड, ७)

## ४

# भक्ति-भावना

कबीर का सारा काव्य भक्ति की भावना में ओत-प्रोत है। सगुण भक्तों की भक्ति और इस भक्ति में कोई अंतर नहीं दिखलाई नहीं पड़ता। जन-साधारण सूक्ष्म भेद-प्रभेदों की बात नहीं जानता। वह कबीर को भक्त मानता चला आ रहा है। स्वयं कबीर के काव्य में भक्तिपूर्ण स्थल इतने अधिक हैं कि उनका ब्रह्मवादी का रूप बहुत कुछ आँख की ओट हो जाता है। और यह भक्ति भी साधारण जोड़ से भक्ति या उपासनात्मक भक्ति नहीं है यह वह सर्वभक्षी अग्नि है जिसमें कबीर ने सारा व्यक्तित्व ही होम दिया। वह कहते हैं ;

विदिआ न परउ बादु नहीं जानउ।
हरि गुन कथत सुनत बउरानो ॥
मेरे बाबा मै बउरा सभ खलक सैआनी मैं बउरा।
मैं बिगरिओ बिगरै मति अउरा ॥
आपि न बउरा राम कीओ बउरा।
सतिगुरु जारि गइओ भ्रमु मोरा ॥
(रागु बिलावलु, २)

यह भक्ति साधारण प्रेम-भाव से भिन्न है। जिसके हृदय में राम के प्रेम की तीक्ष्ण 'अनी' भेद बन गई हो, वही उसकी 'पीर' जान सकता है। धन्य हैं उसके भाग ! कबीर कहते हैं :

कत नहीं ठउर मूलु कत लावउ।
खोजत तनु महि ठउर न पावउ ॥

लागी होइ सु जानै पीर।
राम भगति अनीआले तीर॥
एक भाइ देखउ सभ नारी।
किआ जानउ सह कवन पिआरी॥
कहु कबीर जाकै मसतकि भागु।
सभ परिहरि ता कउ मिलै सुहागु॥

( राग गउड़ी, २१ )

परन्तु धीरे-धीरे साधक को इस 'पीर' में ही आनन्द आने लगता है। वह यह 'राम-रसु' पी कर आत्म-विभोर हो जाता है :

उआ कउ कहीऐ सहज मतवारा।
पीवत राम रसु गिआन बीचारा॥
सहज कलालनि जउ मिलि आई।
आनंदि माते अनदिनु जाई॥

( वही, २७ )

वह सचमुच पागल हो उठता है। संसार उसे भले ही बुरा कहे, उसे चिन्ता नहीं। भला 'राम रसु' पीकर भी जो मतवाला नहीं बना, वह कब तक मतवाला बनेगा! तभी तो भावना में डूब कर कबीर गाते हैं :

मेरे बाबा मैं बउरा सभ खलक सैयानी मै बउरा।
मैं बिगरिओ बिगरै मति अउरा॥
आपि न बउरा राम कीओ बउरा।
सतिगुरु जारि गइयो भ्रमु मोरा॥
अबहि न माता सु कबहु न माता।
कहि कबीर रामै रंगि राता॥

( रागु बिलावलु, २ )

यह 'राम-रसु' सगुण रूप की अपेक्षा नहीं करता। यह सारा संसार ही तो राम का प्रसार-मात्र है। सब कुछ राम ही तो है। देखने वाली आँख चाहिये। अनुभव करने वाला हृदय चाहिये। अपने व्यक्तित्व में डूब कर निर्गुण राम के प्रेम में रँग कर, कबीर भीतर-बाहर सब ओर राम के सौन्दर्य की व्याप्ति ही पाते हैं। यह आध्यात्मिक सौन्दर्य-बोध उन्हें नई तृप्ति से भर देता है। वह चिल्ला उठते हैं :

दुइ दुइ लोचन पेखा।
हउ हरि बिनु अउरु न देखा॥
नैन रहे रंगु लाई॥
अब बेगल कहनु न जाई॥
हमरा भरमु गइआ भउ भागा।
जब राम नाम चितु लागा॥
(रागु सोरठ, ४)

इस 'राम-रसु' में इंद्रियों के सारे रसों का बाध है। यह इन्द्रियेतर अलौकिक रस है। इस रस की प्राप्ति पर मनुष्य और सब रस भूल जाता है। कबीर कहते हैं :

राम रसु पीआ रे जिह रस बिसर गए रस अउर
(राग गउड़ी, ६४)

इसे ही कबीर ने 'भाव-भगति' कहा है। साधारण भक्ति और इस 'भाउ-भगति' में महान अंतर है। इसके बिना जप-तप सब वृथा हैं :

किआ जपु किआ तपु संजमो किआ बरतु किआ इसनानु।
जब लगु जुगति न जानिऔ भाउ भगति भगवान॥
(वही, ६४)

सच तो यह है कि मनुष्य-जीवन का सबसे बड़ा तत्व यह भक्ति-तत्व है। जिसके पास यह तत्व नहीं उससे अलग रहना ही अच्छा है। कबीर कहते हैं :

हरि जसु सुनहि न हरि गन गावहि।
बातन हीं असमानु गिरावहि ॥
ऐसे लोगन सिउ किआ कहीऐ।
जो प्रभु कीए भगति ते बाहज तिन ते सदा डराने रहीऐ ॥

(वही, ४४)

उनके भक्ति के आदर्श हैं जयदेव और नामदेव :

गुर प्रसादी जैदेउ नामा।
भगति कै प्रेमि इनही है जाना ॥

(वही, ३६)

ध्रुव और प्रह्लाद :

राम जपउ जीअ ऐसे ऐसे।
ध्रू प्रहिलाद जपिओ हरि जैसे ॥

(वही, ६१)

इन भक्तों का गुण गाते हुए कबीर थकते नहीं। इन भक्तों ने ही 'भाउ-भगति' की महत्ता को पूर्ण रूप से समझा था और उसे अपने जीवन में उतार लिया था। इन भक्तों के पथ पर चलकर ही साधक परम शांति का लाभ कर सकता है। इन्हीं के चरित्र भक्त के लिए प्रेरणा और अश्वासन हैं।

## भाव-भगति

अपनी निर्गुण भक्त को कबीर ने भाव-भगति का नाम दिया है। इस भक्ति का आधार निर्गुण राम है। जहाँ सगण राम में रूप की

भावना का समावेश है, वहाँ इस निर्गुण भक्ति में भावना पर ही अधिक बल दिया जा सकता है। वैसे कभी-कभी भावना के अतिरेक में कबीर सगुण राम के रूप का भी निर्गुण पर आरोप कर देते हैं :

सावल सुन्दर रामईआ।
मेरा मनु लागा तोहि॥
(राग गउड़ी, ५५)

वह उसके चरण-कमल की बात करते हैं, परन्तु संदर्भ से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह केवल भावना के प्रासार के कारण हैं जैसे सर्वव्यापिन् परमात्मा का वर्णन करते हुए भी कबीर लक्ष्मी-पति विष्णु का प्रतीक सामने ले आते हैं :

सो साहिबु रहिआ भरपूरि।
सदा संगि नाही हरि दूरि॥
कवला चरन सरन है जाके।
कहु जानि का नाहीं घर ताके॥
(वही, ३८)

वस्तुतः वह परमतत्त्व अलख है, रूप-रेख-हीन है, निर्गुण है:

अलहु अलखु न जाई लखिआ।
(रागु बिभास, प्रभाती, ३)

वह तो स्वयं हृदय के भीतर प्रतिष्ठित है :

रिदै इखलासु निरख ले मीरा।
आपु खोजि खोजि मिले कबीरा॥
(रागु भैरउ, ७)

इस तत्व को जान कर ही भाउ-भगति की ओर बढ़ा जा सकता है। इस

भाउ-भगति में तिलक, जप-माला और फूल-पत्ती द्वार सेवार्चन को कोई स्थान नहीं मिल सकेगा। जो राम के सच्चे मर्म को पहचान जाता है, वह तो पागल बन जाता है। उसे इन वाह्याचारों से क्या काम। वह तो 'राम का बउरा' है। अहैतुक, फलासक्ति-रहित भक्ति ही सच्ची भक्ति है। कबीर के शब्दों में :

माथे तिलकु हथि माला बाना।
लोगन रामु खिलउना जाना॥
जउ हउ बउरा तउ राम तोरा।
लोगु मरमु कह जानै मोरा॥
तोरउ न पाती पूजउ न देवा।
राम भगति निहफल सेवा॥
सति गुरु पूजउ सदा सदा मनावउ।
ऐसे सेव दरगाह सुखु पावउ॥
लोगु कहै कबीरु बउराना।
कबीर का मरमु राम पहिचाना॥

(रागु भैरउ, ६)

यह निर्गुण भक्ति तो अद्वैतभाव को लक्ष्य में रखती है। साधना के अंत में भक्त भगवान बन जाता है। बड़े अचरज को बात है, परन्तु जो भाउ-भगति की महिमा को जानता है उसे कोई आश्चर्य नहीं होता :

जो जनु भाउ भगति कुछु जानै ताकउ अचरजु काहो।
जिउ जलु जल महि पैसि न निकसै तिउ ढुरि मिलिओ जुलाहो॥

(रागु धनासरी, ३)

जिसे राम-भक्ति का चिंतामणि मिल गया; उसे सब कुछ मिल गया। वह फिर संसार में नहीं आता :

रामु जिइ पाइआ राम।
ते भवहि न बारै बार॥
(रागु मारू, ३)

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर की भक्ति का आदर्श निर्गुण भक्ति या अद्वैत भक्ति ही है। उनके राम निर्गुण ब्रह्म हैं, परन्तु कबीर की प्रेम-भावना ने उन्हें मधुर और सहज ग्राह्य बना दिया है। इस प्रेम-भावना, तन्मयासक्ति और विरह-भाव के कारण ही निर्गुण ब्रह्म में व्यक्तित्व का आरोप हो जाता है। अनेक रूपकों के कारण यह व्यक्तित्व और मधुर बन जाता है। इस भेद को जाने बिना कबीर के मर्मस्थल तक पहुँचना ही असंभव है।

## भाव–भगति के अनेक स्तर

इस 'भाउ-भगति' के अनेक साधन और अनेक स्तर हैं। सबसे पहला साधन है नाम-स्मरण। कबीर ने अनेक पदों में और अनेक साखियों में नाम की महिमा गाई है। नाम की महिमा गाते हुए वे थकते नहीं। सगुण साधक के पास भगवान का रूप है, भगवान की लीला की कथायें हैं, परन्तु निर्गुण साधक के लिए तो नाम ही सब कुछ है। कबीर कहते हैं: 'मेरे पास तो यही धन है, यही हरि का नाम। इसे गांठ में बाँध कर मैं नहीं रखता। मैं तो प्रतिदिन इसे खर्च करता हूँ। पंडितों-पुरोहितों की भाँति मैं नाम-जप का व्यवसाय भी नहीं करता। नाम ही मेरी खेती-बारी है। नाम ही मेरी माया-पूंजी। नाम ही भाई-बंधु। इसी नाम के द्वारा अंत में मुझे सुख की प्राप्ति होगी':

इह धनु मेरे हरि के नाउ।
गाँठि न बांधउं बेचि न खाउ॥

नाउ मेरे खेती नाउ मेरे बारी।
भगति करउ जनु सरनि तुम्हारी ॥
नाउ मेरे माइआ नाउ मेरे पूंजी।
तुमहि छोड़ि जानउ नहीं दूजी ॥
नाउ मेरे बंधिप नाउ मेरे भाई।
नाउ मेरे संगि अंति होइ सखाई ॥
माइआ महि जिसु रखै उदासु।
कहि कबीर हउ ता को दासु ॥

( राग भैरउ, १ )

जोग-ध्यान और वैराग्य से माया का बाध संभव है, परन्तु ये साधन कठिन हैं। राम-नाम का साधन सरल है। उस जैसा सहायक तत्व और कहाँ मिलेगा? इसीसे भक्त के लिए नाम ही सबसे बड़ा आधार है। कबीर के शब्दों में :

ना मैं जोग धिआन चितु लाइआ।
बिनु बैराग न छूटसि माइआ ॥
कैसे जीवनु होई हमारा।
जब न होइ राम-नाम अधारा ॥
कहु कबीर खोजउ असमान।
राम समान न देखउ आन ॥

( राग गउड़ी, ३४ )

एक दूसरे पद में कबीर रामनाम की अमोघ शक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि साधक, सिद्ध और मुनि जब अनेक साधनों से हार गये तो उन्होंने नाम की शरण ली और नाम ने उन्हें तार दिया :

अहिनिसि एक नाम जो जागे।
केतक सिध भए लिव लागे ॥

साधक सिध सगल मुनि हारे।
एक नाम कलिप तर तारे॥
जो हरि हरे सु होहि न आना।
कहि कबीर राम नाम पछाना॥

(वही, ३७)

वास्तव में नाम की महिमा महान है। कबीर का निश्चित मत है :

कोई गावै को सुणै हरि नामा चितु लाइ।
कहु कबीर संसा नहीं अंति परम पद पाइ॥

(वही, ५५)

इसी से कबीर निर्भय होकर हरि-भजन की बात उठाते हैं और राम-नाम को भवसागर से पार उतरने लिए जहाज़ बताते हैं :

निरभै होइ न हरि भजे मन बउरा रे गहिओ न राम जहाजु।

(वही, ४७)

यह नाम-धन न अग्नि में जल सकता है, न डूब सकता है, न चोरी जा सकता है। इसका संचय ही सच्चा संचय है :

अगिनि न दहै पवनु नहीं मगनै तसकरु नेरि न आवै।
राम-नाम-धनु करि संचउनी सो धनु कतही न जावै॥
हमारा धनु माधउ गोबिंदु धारणीधरु इहै सार धनु कहीऔ।
जो सुखु प्रभु गोबिंद की सेवा सो सुखु राज न लहीऔ॥
इसु धन कारणि सिव सनकादिक खोजत भए उदासी।
मनि मुकुंद जिहवा नाराइनु परै न जम की फासी॥

(वही, ५८)

कबीर भगवान से भी राम नाम की ही याचना करते हैं। संसार के और सब धन अस्थिर हैं, यही एक मात्र स्थिर धन है। वह कहते हैं :

इंद्र लोक सिव लोकहि जैबो।
ओछे तप करि बाहुरि ऐबो॥
किआ मांगउ किछु थिरु नाहीं।
राम नाम रखु मन माहीं॥
कहत कबीर सुनत अवर नहिं कामा।
हमारे धन राम को नामा॥

( रागु धनासरी, ४ )

तुलसी की तरह वह बार-बार राम नाम की महत्ता के गीत गाते हैं :

राम सिमरि राम सिमरि राम सिमरि भाई।
राम नाम सिमरन बिनु बूड़ते अधिकाई॥
अजामल गज गनिका पतित करम कीनै।
तेऊ उतरि पारि परे राम नाम लीनै॥
सूकर कूकर जोनि भ्रमे तऊ लाज न आई।
राम नाम छाड़ि अंम्रित काहे बिखु खाई॥

( वही, ५ )

इस प्रकार हम देखते हैं कि कि कवि भक्ति की साधना की पहली सीढ़ी राम-नाम-स्मरण मानता है। नाम के द्वारा ही मन में 'भाव-भगति' का जन्म होता है। उसी के द्वारा भक्ति भाव में दृढ़ता आती है। संसार में आकर यदि मनुष्य ने राम का नाम नहीं लिया तो उसने कुछ भी नहीं किया। न जाने कब यह देह समाप्त हो जाय ? इसलिए कबीर राम-मंत्र को सबसे बड़ा अध्यात्म-साधन बताते हैं।

रामभक्ति का दूसरा स्तर है राम से अनेक सम्बन्धों की स्थापना। कबीर कहीं राम को ठाकुर ( स्वामी ) बताते हैं, कहीं पिता, कहीं बन्धु। उनका कहना है :

जा कै हरि सा ठाकुर भाई।
मुकति अनन्त पुकारणि जाई॥
(राग गउड़ी, २२)

जिसका स्वामी हरि हो, भला वह किस दूसरे का आश्रय लेगा ? कबीर कहते हैं :

रे जीअ निलज लाज तुहि नाहीं।
हरि तजि कत काहू के जाही॥
जाको ठाकुर ऊचा होई।
सो जनु पर घर जात न सोही॥
(राग गउड़ी, ३)

भक्त इस ठाकुर के प्रति पूर्ण रूप से आत्मा-समर्पण कर दे। उनकी आज्ञा में ही अपना निस्तार माने। वह तो बंदा (सेवक) है। अतः उसकी सबसे बड़ी साधना 'बंदगी' (सेवा) ही होना चाहिये। उसकी कृपा - अकृपा की बात भूल कर भी उसकी सेवा करना ही मनुष्य का अन्यतम धर्म है :

फरमानु तेरा सिरै ऊपरि फिरि न करत बिचार।
तुही दरिया तुही करीआ तुझै ते निसतार॥
बन्दे बन्दगी इकतीआर।
साहिबु रोसु धरउ कि पिआरु॥
(वही, ६६)

एक दूसरा सम्बन्ध पिता-पुत्र का है। कबीर कहते हैं :

हउ पूत तेरा तू बापू मेरा।
(राग आसा, ३)

इसी पद में वह इस पिता की प्रशंसा भी इन शब्दों में करते हैं :

बलि तिसु बापै जिमि हउ जाइआ ।
पंचा ते मेरा संगु चुकाइआ ॥
पंच मारि पावा तलि दीने ।
हरि सिमरनि मेरा मनु-तनु भीने ॥
पिता हमारो वड़ गोसाई ।
तिसु पिता पहि हउ किउ करि जाई ॥
सतिगुरु मिले त मारगु दिखाइआ ।
जगत पिता मेरे मन भाइआ ॥

परन्तु कदाचित् पिता की अपेक्षा माता का सम्बन्ध अधिक मधुर है। पिता कठोर भी हो सकता है, दंड भी दे सकता है, परन्तु माता तो क्रोध में भी पुत्र के हित का ध्यान रखती है। वस्तुत: भगवान का सम्बन्ध पुत्र-माता का मधुर और निश्चल सम्बन्ध ही है। इसलिए कबीर कहते हैं :

सुतु अपराध करत है जेते ।
जननी चीति न राखसि तेते ॥
रामईआ हउ बारिकु तेरा ।
काहे न खंडसि अवगनु मेरा ॥
जे अति क्रोप करे धरि धाइआ ।
ता भी चीति न राखसि माइआ ॥

( रागु आसा, १२ )

परन्तु कबीर भावना में और भी आगे बढ़ जाते हैं और राम से पति और प्रेमी का नाता जोड़ते हैं। यह 'भाउ-भगति' की पराकाष्ठा है। मनुष्य के जीवन की सारी साधना, सारी 'भाउ-भगति', सारा पूजा-ठाप

ब्रह्मभाव के आनन्द की भूमिका मात्र है। अद्वैतभक्ति का अन्यतम प्रकाशन इसी शृंगार-प्रधान रूपक के माध्यम में सम्भव है। भावना में विभोर हो कभी कबीर प्रियतम के वियोग के गीत गा उठते हैं :

करि सिंगार मिलन के ताईं ।
हरि न मिले जग जीवन गुसाईं ॥
हरि मेरो पिउ हउ हरि की बहुरिया ।
राम बड़े मैं तनक लहुरिआ ॥
(वही, ३२)

कभी प्रोषित-पतिका नायिका बन जाते हैं :

पंथु निहारै कामनी लोचन भरी ले उसासा
उर न भीजै पगु ना खिसै हरि दरसन की आसा
उडहु न कागा कारे ।
बेगि मिलीजै अपुने राम पिआरे ॥
( राग गउड़ी, ६५ )

भक्त सतवंती नारी की तरह अपना तन-मन-धन प्रियतम के अर्पण कर दे। यही सच्चा सुहाग है। इन्द्रिय-रस रहते हुए भगवत्-रस ( राम-रसु ) मिलना असम्भव है। सुहागिनि एक साथ दो से प्रेम नहीं कर सकती। कबीर के शब्दों में :—

बिनु सत सती होइ कैसे नारि ।
पंडित देखउ रिदै बीचारि ॥
प्रीति बिना कैसे बधै सनेहु ।
जब लग रसु तब लग नहीं नेहु ॥
साइनि सतु करै जीअ अपनै ।
सो रमये कउ मिलै न सपनै ॥

तनु-मनु धनु ग्रिहु सउपि सरीरु ।
सोई सुहागिनि कहै कबीरु ॥

( राग गउड़ी, २३ )

वह प्रियतम भी कोई बाहर नहीं है। वह तो हृदय के भीतर है। सारा व्यक्तित्व ही उससे ओत-प्रोत है। इस कायानिष्ठ परमात्म-भाव से 'भाउ-भगति'-पूर्ण मिलन और वियोग की भावना बड़ी सूक्ष्म भावना है। उसके आनन्द को साधक भक्त ही जानता है। कबीर कहते हैं :

नीचे लोइन करि रहउ ले साजन घट मांहि ।
सभ रस खेलउ पीअ सउ किसी लखावउ नाहि ॥
आठ जाम चउसठि घरी तुअ निरखत रहै जीउ ।
नीचे लोइन किउ करउ सभ घट देखउ पीउ ॥
सुनु सखी पीअ महि जीउ बसै जीअ महि बसै कि पीउ ।
जीउ-पीउ बूझहु नहीं घट महि जीउ कि पीउ ॥

( सलोकु, २३४-६ )

इस अद्वैतभाव को प्राप्त करने के बाद और कुछ पाना नहीं रह जाता। यह जहाँ एक ओर आनन्द की बात है, वहाँ दूसरी ओर 'पीर' की भी बात है। मिलन-वियोग के ये क्षण साधक की सब से बड़ी सम्पत्ति हैं। हृदय में जब यह पीर उठती है तो साधक स्तंभित हो जाता है :

कबीर मारे बहुत पुकारिआ पीर पुकारे अउर ।
लागी चोट मिरंम की रहिओ कबीरा ठउर ॥

( सलोकु, १८२ )

इस पीर, इस वेदना को या तो उसकी आत्मा जाने, या ईश्वर :

कबीर सारी सिरजनहार की जाने नाही कोइ ।
कै जानै आपन धनी कै दासु दिवानी होइ ॥
( स० १७६ )

यही पीर कबीर की सारी साधना का लक्ष्य है । नाम-स्मरण, भाव-भगति और विरह भाव के द्वारा कबीर साधना की इसी ऊँचाई पर उठना चाहते हैं ।

## भक्ति और वैराग्य

कबीर की भक्ति वैराग्य-मूलक है । उन्होंने प्रारम्भ से ही संसार की नश्वरता समझ ली और इसी से वह त्याग और वैराग्य की बात बार बार उठाते हैं । 'सरब तिआगि भजु केवल रामु' (राग गउड़ी, ३) यह उनका महामंत्र है । यह सारा संसार काल का खिलौना है । यह जीवन जैसे तरुवर की छाया है ।[१] 'यह जगत जन्म लेता है, और फिर देखते-देखते नाश को प्राप्त होता है । मनुष्य को लज्जा नहीं आती कि घर को अपना बताता है । जब अन्त आता है, तो उसका कुछ भी नहीं रहता । इस काया को मनुष्य अनेक यत्नों द्वारा सुरक्षित रखता है, परन्तु अन्त में वह अग्नि में भस्म हो जाती है । चाहे चंदन

---

जस देखिऐ तरवर की छाइआ ।
प्रान गए कहु का की माइआ ॥
जस जेती महि जीउ समाना ।
मुए मरमु को का कर जाना ॥
हंसा सरवरु कालु सरीर ।
राम रसाइन पीउ रे कबीर ॥

( राग गउड़ी, ८ )

मलो या सुगन्ध, यह शरीर काष्ठ के साथ जल जाता है।'[२] शरीर की नश्वरता के और भी महत्वपूर्ण चित्र कवि उपस्थित करता है। 'चार दिन अपनी नौबत बजाकर चला जाता है। इतना खटा। इतना इकट्ठा किया। सब मिट्टी हो गया। संग कुछ भी नहीं ले जाता। देहलीज़ तक पत्नी रोती हुई जाती है, मा द्वार तक, कुटम्बी मरघट तक परन्तु आत्मा तो इकेला जाता है। ये नाते-नाती, ये धन-दौलत, ये पुर-पाटन फिर देखने को नहीं मिलेंगे। कबीर कहते हैं, जन्म अकारथ चला जा रहा है। राम का स्मरण क्यों नहीं कर लेता।'[३] मनुष्य है

---

२ उपजै निपजै निपजि समाई।
नैनह देखत इहु जगु जाई॥
लाज न मरहु कहहु घरु मेरा।
अंत की बार नहीं कछु तेरा॥
अनिक जतन करि काइआ पाली।
मरती बार अगनि संगि जाली॥
चोआ चंदनु मरदन अंगा।
सो तनु जलै काठ के संगा॥
कहु कबीर सुनहु रे गुनीआ।
बिनसैगो रूप देखे सभ दुनीआ॥ (वही, ११)

३ चारि दिन अपनी नउबति चले बजाइ।
इतनकु खटीआ गठीआ मटीआ संगि न कछु लै जाइ॥
देहरी बैठी मिहरी रोवै दुआरै लउ संग माइ।
मरहठ लगि सभु लोगु कुटंबु मिलि हंसु इकेला जाइ॥
वै सुत वै बित वै पुर पाटन बहुरि न देखे आइ।
कहतु कबीरु राम किन सिमरहु जनमु अकारथ जाइ॥
(राग केदारा, ६)

क्या ? अस्थि, चर्म, विष्ठा का ढेर ! परन्तु वह कितने गर्व से चलता है।[४] कनक-कामिनी और विषय-भोग को ही उसने सब कुछ समझ लिया है। इस तरह वह जीवन बिता देता है। अन्त में काल उसे ले जाता है।[५] कबीर द्रष्टा की आँखों से देखते हैं कि यह सारा संसार विषय के प्रवाह में बहा जा रहा है। वह कहते हैं :

---

४ काम क्रोध त्रिसना के लीने गति नहीं एकै जानी ।
फूटी आखै कछू न सूझै बूड़ि मुए बिनु पानी ।।
चलत कत टेढ़े टेढ़े टेढ़े ।
असति चरम बिसटा के मूँदे दुरगंध ही के बेढ़े ।।
राम न जपहु कवन भ्रम भूले तुम ते काल न दूरे ।
अनिक जतन करि इह तनु राखहु रहै अवसथा पूरे ।।
आपन कीआ कछू न होवै कीआ को करै परानी ।
जा तिसु भावै सतिगुरु भेटै एकौ नामु बखानी ।।
बलूआ में घरूआ महि बसते फुलवत देह अइआने ।
कहु कबीर जिह रामु न चेतिओ बूड़े बहुतु सिआने ।

( राग केदारा, ४ )

५ टेढ़ी पाग टेढ़े चले बीरे खान ।
भाउ भगति सिउ काज न कछुऐ मेरो कामु दीवान ।।
रामु बिसारिओ है अभिमानि ।
कनिक कामिनी महासुन्दरी देखि देखि सचु मानि ।।
लालच झूठ बिकार महामद इह बिधि अउध बिहानि ।
कहि कबीर अंत की बेर आइ लागो कालु निदानि ।।

( वही, ५ )

बिखिआ बिआपिआ सगल संसारु ।
बिखिआ लै डूबी परिवारु ॥
रे भर नाव चउड़ि कत बोड़ी ।
हरि सिउ तोड़ि बिखिआ संगि जोड़ी ॥
सुरि नर दाधे लागी आगि ।
निकटि नीरु पसु पावसि न भागि ॥
चेतत चेतत निकसिओ नीरु ।
सो जलु निरमलु कथत कबीरु ॥

( राम गउड़ी, २४ )

इस प्रकार कबीर बार-बार विराग-भावना को दृढ़ करना चाहते हैं। वह स्पष्ट कह देते हैं :

कउनु को पूतु पिता को का को ।
कउनु मरै को देइ संतापो ॥

( वही, ३६ )

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य संसार-त्यागी बन जाये, घर-गृहस्थी छोड़ दे, अपने लौकिक कर्तव्य छोड़ दे और गृहत्यागी सन्यासी बन जाये। कबीर के जीवन-वृतांत में ऐसा बहुत कुछ है जो इस गृहत्याग की भावना का विरोध करता है। कबीर जीवन भर सद्‌गृहस्थ बने रहे। सम्भव है, भक्ति के कारण वे कुछ दिन अपने काम-काज की उपेक्षा करते रहे हों परन्तु वे जीवन-पर्यंत सद्‌कर्मी बने रहे। वह स्पष्ट कहते हैं :

हम घर सूत तनहि नित ताना ।

( आ० २६ )

जहाँ कबीर के त्याग और वैराग्य की बात आती है, वहाँ वस्तुतः विषय-त्याग की बात है। कबीर कहते हैं :

कहत कबीर छोडि बिखिआ रस
इतु संगति निहचउ मरणा ॥
( सिरी रागु, १ )

वह काम-क्रोध, लोकाचार और अहंकार को छोड़ने का उपदेश देते हैं, कर्म-मात्र-त्याग का उपदेश नहीं देते :

परहरु लोभु अरु लोकाचारु ।
परहरु काम क्रोधु अहंकारु ॥
करम करत बधे अहंमेव ॥
( राग गउड़ी, ६ )

यदि मनुष्य अहंभाव छोड़कर अपने ऐहिक कर्तव्यों को निभाता जाये तो यह कर्म-संन्यास ही है। वैसे कबीर को सुविधा-जनक जीवन में पूरा विश्वास है। वह स्पष्ट कहते हैं कि भूखे पेट से भजन नहीं हो सकता।[६]

## भक्ति और ज्ञान

कबीर के काव्य में भक्ति और ज्ञान का कोई विरोध नहीं है। ज्ञान भक्ति की पृष्ठभूमि है। ज्ञान के द्वारा माया-जन्य अन्धकार और मोह का शमन होता है। साधक को वस्तु-स्थिति का ज्ञान होता है। यह ज्ञान की साधना श्रम-साध्य है, परन्तु वैराग्य जाग्रत करने के लिये वह बहुत कुछ आवश्यक है। परन्तु कबीर का लक्ष्य ज्ञान नहीं, भक्ति है, यह उनके इस पद से स्पष्ट है :

देखो भाई ज्ञान की आई आँधी ।
सभै उड़ानी भ्रम की टाटी रहै नमाइआ बाँधी ॥

---

६ देखिये, सो०, ११
भूखे भगति न कीजै। यह माला अपनी लीजै ॥

दुचिते की दुइ थूनि गिरानी मोहु बलेड़ा टूटा ।
तिसना छानि परी धर ऊपरि दुरमति भाँडा फूटा ॥
आँधी पाछै जो जलु बरखै तिहि तेरा जनु भीना ।
कहि कबीर मनि भइआ प्रगासा उदै भानु जब चीना ।

( राग गउड़ी, ४३ )

परन्तु इस ज्ञान से कबीर का तात्पर्य शास्त्रीय विद्या या जड़ तर्क-वितर्क से नहीं है ; उन्होंने स्पष्ट कहा है :

बिदिआ न परउ बादु नहीं जानउ

( बिलावलु, २ )

कबीर कागद की ओबरी मसु के करम कपाट ।
पाहन बोरी पिरथमी पंडित पाड़ी बाट ॥
कबीर जिह मारग पंडित गए पाछै परी बहीर ।
इक अवघट घाटी राम की तिह चड़ि रहिओ कबीर ॥
कबीर कोट काठ की दहदिसि लागी आगि ।
पंडित पंडित जलि मूए मूरख उबरे भागि ॥
कबीर संसा दूरि करु कागद देह बिहाइ ।
बावन अखर सोधि कै हरि चरनी चितु लाइ ॥

( सलोकु १३७, १६५, १७२, १७३ )

यह गुरु-मुख से प्राप्त अद्वैत तत्त्व या ब्रह्मवाद का ज्ञान है । यह वह ज्ञान है जिससे मरण-जीवन की शंका नष्ट हो जाती है, आत्मा का सहज परिचय प्राप्त होता है और अंधकार नष्ट हो जाता है । आत्मज्ञान के द्वारा जब दुःख का नाश हो जाता है, तब भक्ति-माणिक का प्रकाश झलमला उठता है ।[७] इस ज्ञान से मनुष्य के अहंभाव की हानि होती

---

७ मरन जीवन की संका नासी ।
आपन रंग सहज परगासी ॥

है और वह भक्ति के लिए तैयार होता है।[८] इस ज्ञान के द्वारा ही मनुष्य माया के इंद्रजाल से परिचित होता है। यह ज्ञान भी पुस्तक से नहीं, साधु-संगति से प्राप्त किया जाता है।[९] परन्तु इस ज्ञान की महत्ता कम नहीं है। यह सहज ज्ञान ही मनुष्य के मोह-बंधन काटता है।[१०] पुस्तक के ज्ञान से यह ज्ञान भिन्न है। कबीर ने बार-बार 'वेद-कतेब'

---

प्रगटी जोति मिटिआ अंधियारा ।
रामरतनु पाइआ करत बीचारा ॥
जह अनंद दुख दूरि पइआना ।
मनु मानकु लिव ततु लुकाना ॥

(रागु विभास, प्रभाती)

८ जब लगु मेरी मेरी करै ।
तब लगु काजु सवु नहीं सरै ॥
जब मेरी मेरी मिटि जाइ ।
तब प्रभ काजु सवारहि आइ ॥
ऐसा गिआनु बिचारु मना ॥

(रागु भैरउ, १४)

९ देखिये, रागु भैरउ, १३
कहि कबीर जिसु उदरु तिसु माइआ ।
तब छूटे जब साधू पाइआ ॥

१० थाके नैन स्रवन सुनि थाके थाकी सुन्दर काइआ ।
जरा हाक दी सभ मति थाकी एक न थाकसि माइआ ॥
बावरे तै गिआन बीचारु न पाइआ ।
बिरथा जनमु गवाइआ ॥

(रागु सूही, ४)

की ज्ञानगरिमा को थोथा बताया है।[११] कबीर किस प्रकार के ज्ञान को उपादेय समझते हैं यह उनके इस पद से स्पष्ट है :—

गुरु चरन लागि हम बिनवता पूछत कह जीउ पाइआ।
कवन काजि जगु उपजै बिनसै कहहु मोहि समझाइआ॥
देव करहु दइआ मोहि मारगि लावहु जितु मै बंधन तूटै।
जनम मरन दुख फेर करम सुख जीअ जनम ते छूटै॥
माइआ फास बंध नहीं फारै अरु मन सुंनि न लूके।
आपा पदु निरबाणु न चीन्हिआ इन बिधि अभिउ न चूके॥
कही न उपजै उपजी जाणै भाव अभाव विहूणा।
उदे असत की मन बुधि नासी तउ सदा सहजि लिव लीणा॥
जिउ प्रतिबिंबु बिंब कह मिलीहै उदक-कुंभु बिगराना।
कहु कबीर ऐसा गुण भ्रमु भागा तउ मनु सुंनि समाना॥

(रागु आसा, १)

उन्होंने इस पद में कई प्रश्न उठाये हैं और ब्रह्मवाद में उनका समाधान किया है। परन्तु अपने समाधान को वह शास्त्र और तर्क द्वारा स्थापित नहीं करते। वह आत्मा की अनुभूति है। जैसे एक दीपक से दूसरा दीपक जलता है, उसी तरह यह अनुभूति भी एक हृदय से दूसरे हृदय में प्रकाश पाती है। कबीर इसी अद्वैतानुभूति को 'ज्ञान' या 'सहज ज्ञान' कहते हैं और यही 'अनुभूति' या 'ज्ञान' उनकी भक्ति का आधार है। जीव-ब्रह्म

---

११ वेदकतेब इफतरा भाई दिल का फिकरु न जाइ।

( रागु तिलंग, १ )

बेद पुरान सभै मत सुनि कै करी करम की आसा।
कलि असत सभ लोग सिआने उठि पंडत पै चले निरासा॥

( रागु सोरठि, ३ )

के एकत्व और अद्वैत के ज्ञान के बाद ही जीवात्मा में ब्रह्म से मिलन-वियोग की अनुभूति जगाई जा सकेगी। अत: स्पष्ट है कि कबीर की साधना में ज्ञान-भक्ति का विरोध नहीं है। ज्ञान भक्ति का पूरक है। ज्ञान की भूमि पर ही सतगुरु द्वारा भगवदभक्ति का बीजारोपण होता है।

---

५

# कबीर का रहस्यवाद

## ( १ )

कबीर के काव्य में उनकी वैयक्तिक साधना का बड़ी सुन्दरता से प्रकाशन हुआ है। यह वैयक्तिक साधना मूलतः अद्वैतभाव और प्रेम-विरह की साधना है। इस साधना में पूर्ववर्ती चिंता-धाराओं और सम-सामयिक अनेक साधना-पद्धितियों का समाहार हो जाता है। परंतु यह निश्चित है कि कबीर ने शास्त्र-ज्ञान के द्वारा अपनी रहस्यवादी साधना को प्राप्त नहीं किया। उन्हें एकांत रूप से स्वत: उसकी खोज करनी पड़ी। इस खोज का एक पक्ष कबीर के दार्शनिक सिद्धांत हैं और दूसरा पक्ष उनकी रहस्यमयी प्रेम-साधना।

कबीर मूलत: दार्शनिक नहीं थे। वह पंडित नहीं थे। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

कबीर संसा दूर करु कागद देह बिहाइ।
बावन आखर सोधि कै हरि चरिनी चितु लाइ॥

( सलोकु, १७३ )

बिदिआ न परउ बादु नहीं जानउ।
हरि गुन कथत-सुनत बउरानो॥

(रागु बिलावलु, २)

कबीर जैसा संत अक्षर-ज्ञान या वाद-विवाद को महत्व दे ही नहीं सकता। वह आत्मानुभूत सत्य का उद्घाटन करता है और जो कहता है,

चाहे वह कितना ही अटपटा हो, वह साहित्य हो जाता है। अतः कबीर के विचारों में हमें किसी दर्शन-पद्धति के आविष्कार की आशा नहीं करनी चाहिये। परंतु खोज करने पर कबीर के दार्शनिक सिद्धान्तों की एक रूपरेखा अवश्य बनाई जा सकती है और उसे 'कबीर का दर्शन' भी कहा जा सकता है यद्यपि यह दर्शन आंशिक रूप से ही कबीर की जिज्ञासा का प्रतिनिधित्व कर सकेगा। कबीर के किसी भी पाठक से यह नहीं छिप सकता कि उनके दार्शनिक विचार मूलतः वेदांती विचारधारा पर आश्रित हैं। वेदांत में जीव-ब्रह्म की अद्वयता की घोषणा की गई है। उपनिषद् कहते हैं —

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत्।

'अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड़-चेतन-स्वरूप जगत है, वह समस्त ईश्वर से व्याप्त है। ईश० १' इस ब्रह्म की परिभाषा उपनिषद इस प्रकार देता है : अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' ( वे परमेश्वर अचल, एक और मन से भी अधिक तीव्र गति-युक्त हैं ; सब के आदि ज्ञान-स्वरूप या सबके जानने वाले हैं ; इन परमेश्वर को इन्द्रादि देवता भी नहीं पा सके या जान सके हैं। वे दूसरे दौड़ने वाले को स्वयं स्थित रहते हुए भी अतिक्रमण कर जाते हैं। उनके होने पर ही उन्हीं की सत्ता से वायु आदि देवता जल बरसा कर जीव की प्राण-धारणादि क्रिया-प्रभृति कर्म संपादन करने में समर्थ होते हैं। ई० ४ ) परन्तु बुद्धि से इस अद्वय सत्ता का पूर्णतयः जानना असम्भव है। इस ब्रह्म का एक विरोधी धर्मी अय रूप भी है जिससे रहस्यवाद की सृष्टि होती है ;

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तद सर्वस्यास्य वाह्यत्॥

(वे ब्रह्म चलते हैं ; वे नहीं चलते ; वे दूर से भी दूर हैं ; वे अत्यंत समीप हैं ; वे इस समस्त जीवन और जगत के भीतर परिपूर्ण हैं और वे बाहर भी हैं ॥ ईश० ५ )

उपनिषद बताते हैं कि आत्मतत्त्व उस परमात्मतत्व से भिन्न नहीं है। 'नित्य ज्ञानस्वरूपा आत्मा न तो जन्मता है और न मरता ही है, वह न तो स्वयं किसी से हुआ है, न इससे कोई भी हुआ है अर्थात् वह न तो किसी का कार्य है और न कारण ही है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं किया जा सकता।' ( कठ० १८ ) जीवात्मा इस अद्वैततत्त्व को जाने, यही उस के लिये सर्वोच्च ज्ञान है ; सर्वोच्च अनुभूति है। इसके लिए हृदय-मन के परिष्करण की आवश्यकता है। उपनिषदों में हृदय-मन के संस्कार के लिए अनेक व्यवस्थाएँ मिलती हैं। परन्तु केवल इतने से ही अद्वयतः की अनुभूति असंभव है। उपनिषद् कहते हैं :

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया बहुनां श्रुतेन।
यमेचैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्मैष आत्मा विवृणुते तनू स्वाम् ॥
( कठ, I, २३ )

'यह परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचन से, न बुद्धि से और न बहुत सुनने से प्राप्त होता है। जिसको यह स्वीकार कर लेता है, उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि यह आत्मा उसके लिए अपने यथार्थरूप को प्रगट कर देता है।' हृदय-मन की साधना के साथ जब साधक विनय-भाव से उस अद्वयतत्त्व के सामने प्रणत होता है, प्रार्थी होता है, गद्गद् होता है, तभी वह तत्त्व उस पर अपना रहस्य खोलता है। यह साधना सरल नहीं है। उपनिषद ने इसे 'क्षुरस्य' धारा कहा है। छुरे की तीक्ष्ण एवं दुस्तर धार के सदृश यह पथ गुह्य और दुर्गम है।

उपनिषद् के बाद इस रहस्यवादी चिंताधारा ने वेदांत, योग, भक्तिवाद इत्यादि का रूप धारण कर लिया, परन्तु मूलाधार एक ही रहा। सच तो यह है कि यह साधना भारतवर्ष की सामान्य साधना के रूप में प्रतिष्ठित हो गई और कबीर ने उसे परंपरा से ही प्राप्त किया, शास्त्रज्ञान से नहीं।

परन्तु प्रत्येक साधक को अपनी साधना को नई पृष्ठभूमि देनी होती है। कबीर के काव्य के अध्ययन से हमें उनकी रहस्यवादी विचार-धारा की पृष्ठभूमि भी मिल जाती है। कबीर माया और काल की भीषणता से आक्रांत हैं। यह सारा संसार माया के चक्कर में पड़ा है और इस फंद से निकलना बड़ा कठिन है। कबीर कहते हैं—

जल महि मीन माइआ के बेधे। दीप पतंग माइआ के छेदे॥
काम माइआ कुंचर कउ बिआपै। भुइअंगन भ्रिंग माइआ महि खापे॥
माइआ ऐसी मोहनी भाई। जेते जीअ तेते डहकाई॥
पंखी म्रिग माइआ महि राते। साकर माखी अधिक संतापे॥
तुरे उसट माइआ महि मेला। सिध चउरासीह माइआ महि खेला॥
छिअ जती माइआ के बंदा। नवै नाथ सूरज अरु चंदा॥
तपे रखीसर माइआ महि सूता। माइआ महि काल अरु पंच दूता॥

माया की कल्पना स्वयं रहस्यवादी कल्पना है। सारा संसार माया के स्वर्ण-पाश में बँधा है। काल भी माया का ही अंग है। जीवन की नश्वरता मनुष्य की सारी साधना पर पानी फेर देती है। कबीर का कहना है :

जोगी जती तपी संनियासी बहु तीरथ भ्रमंना।
लुंजित मुंजित मोनि जटाधर अंति तऊ मरनां॥
तातै सेवीअले रामनाँ।
रसना राम नाम हितु जाकै कहा करै जमना॥

सारा संसार क्षण क्षण मृत्यु का ग्रास बना जा रहा है। मायाकण-कण को नचा रही है। इनसे कैसे बचा जाये?

कबीर इस प्रश्न का उत्तर देते हैं। वे कहते हैं कि माया केवल भ्रम है। वास्तव में उसका अस्तित्व कहीं भी नहीं है। इस सारे संसार में जो ओतप्रोत है वह जीवन है, मृत्यु नहीं। यह सारे जगत में ओतप्रोत जीवन-तत्व ही ब्रह्म कहलाता है। परंतु अद्वैतवादी जिसे ब्रह्म कहते हैं, कबीर उसे राम कहते हैं। जब मनुष्य के भीतर यह ज्ञान, यह अनुभूति पूरी-पूरी जाग पड़ती है, तब वह जीवन्मुक्त हो जाता है। उसे मृत्यु का भय नहीं रहता। वेदांत के अद्वैतवाद से यह विचार -धारा भिन्न नहीं है। परन्तु 'वेदांत' ज्ञान का विषय है। वह साधक को केवल आधी दूर तक ले जा सकता है। इस लिए कबीर को एक अन्य तत्त्व की खोज करनी पड़ी है। यह तत्त्व है भक्ति। इसे ही सूफ़ी इश्क़ कहते हैं।

परंतु भक्ति के लिये साधना की पृष्ठभूमि कीआवश्यकताहै। तीन प्रकार की साधनाएं कबीर के साहित्य में स्वीकृत हैं : योग—,सूफ़ी—, वैष्णव—। परन्तु कबीर केवल आंशिक रूप से ही इन साधनाओं को स्वीकार करते हैं। भगवद्भक्ति तो 'पुष्टि' द्वारा—भगवान के अनुग्रह द्वारा—प्राप्त होती है। इसके लिए भक्त केवल प्रार्थी हो सकता है। उसकी साधना के बाह्यांग हैं—

(१) वाह्याडंबरों का विरोध

(२) ईश्वर के अवतारों और नामों का विरोध

(३) वाह्याचारों का विरोध और साधन-निर्पेक्ष अहेतुक भक्ति (प्रेम) की महत्ता की स्थापना

(४) सब साधनाओं, सब धर्मों के ऊपर आत्म-धर्म ( आत्मसमर्पण-भाव ) की प्रतिष्ठा। कबीर के काव्य में साधना के ये सब बाह्यांग मिल

जाते हैं परन्तु उनकी साधना का आभ्यंतर रूपकों के रूप में प्रकाशित हुआ है। ये रूपक योग, सूफ़ी और वैष्णव मत को एक साथ छूते हैं।

रहस्यवादी कबीर आत्मा को प्रोषित-पतिका के रूप में देखते हैं और राम के मिलन-वियोग के गीत गाते हैं। एक दिन जीव-ब्रह्म का अभेदत्व समाप्त हो गया और जीव को इस संसार में आना पड़ा। यहाँ आकर वह माया के भ्रम में भूल गया वह अभेद-स्थिति। परन्तु अब भी जब कभी उस प्रियतम की स्मृति मन में उमड़ती है तो यह विरहिणी आत्मा आठ-आठ आँसू रोती है। कबीर कहते हैं—

पंथु निहारै कामनी लोचन भरी ले उसासा।
उर न भीजै पगु ना खिसै हरि दरसन की आसा॥
उड़हु न कागा कारे।
बेगि मिलीजै अपुने राम पिआरे॥
कहि कबीर जीवन पद कारनि हरि की भगति करीजै।
एकु अधारु नाम नाराइन रसना रामु रवीजै॥

कभी आगत-पतिका की भाँति आत्मा प्रिय-मिलन की मंगल-भावना में भर जाती है। कवि गाने लगता है:

बनु रैनी मनु पुनरपि करिहउ पाचउ तत्त बराती।
राम राइ सिउ भामरि लैहंउ आतम तिह रङ्ग राती॥
गाउ गाउ री दुलहनी मंगलचारा।
मेरे ग्रिह आए राजा राम भतारा॥
नाभि कमल महि बेदी रचिले ब्रह्म गिआन उचारा।
राम राइ सो दूलहु पाइओ अस बड़ भाग हमारा॥
सुर-नर-मुनि-जन कउतक आए कोटि तेतीसउ जानां।
कहि कबीर मोहि बिआहि चले हैं पुरष एक भगवाना॥

यह संकल्पात्मक दुःख और उल्लास कबीर के काव्य की अन्यतम चीज़ है जो एकदम हमारे प्राणों को स्पर्श करती है। जिन्हें केवल 'दो-दो-चार' का व्यावहारिक ज्ञान है, जिन्होंने इस जीवन में कभी परोक्ष का स्पर्श नहीं जाना उनके लिए यह दुःख और उल्लास रहस्य-सृष्टि है, परन्तु कबीर जैसे साधक के लिए तो यह सत्य से भी अधिक सत्य, स्थूल से भी अधिक स्थूल है। भला इतने आत्मविश्वास के साथ अपने क्षुद्र व्यक्तित्व को विराट में मिला देने की बात कौन कहेगा—

उदक समुंद सलिल की साखिआ नदी-तरंग समावहिंगे।
सुंनहि सुंनु मिलिआ समदरसी पवन रूप होइ जावहिंगे॥
बहुरि हम काहे आवहिंगे।
आवन जाना हुकमु तिसै का हुकमै बूझि समावहिंगे॥

परन्तु कबीर का विश्वास तो डिगना ही नहीं जानता।

इस उच्च अध्यात्म-भाव को भीतर से ही विकसित करना होगा। कबीर इसे जानते हैं। उपनिषदों के ऋषि, योगी और सूफ़ी सब यही बात कहते हैं। कबीर भी कहते हैं :

सरीर सरोवर भीतरे आछै कमल अनूप।
परम जोति पुरषोतमो जाकै रेख न रूप॥
रे मन हरि भजु भ्रमु तजहुँ जगजीवन राम।
आवत कछु न दीसई नह दीसै जात॥
जह उपजै बिनसै नहीं जैसे पुरिवन पात॥

कहीं योगियों की प्राणायाम की साधना का रूपक बाँधते हैं :

तरुवर एकु अनन्त डार साखा पुहुप पत्र रस भरीआ।
इह अंम्रित की बाड़ी है रे तिनि हरि पूरै करीआ॥

जानी जानी रे राजा राम की कहानी ।
अंतरि जोति राम परगासा गुरमखि बिरले जानी ॥
भवरु एकु पुहप रस बीधा बाहर ले उर धरिआ ।
सोरह मधे पवनु झकोरिया आकासे फरु फरिआ ॥
सहज सुंनि इकु बिरवा उपजिआ धरती जलहरु सोखिओ ।
कहि कबीर हउ ताका सेवकु जिनि इहु बिरवा देखिओ ॥

कबीर के समय में योगियों का काफ़ी प्रभाव था और उनकी परिभाषिक शब्दावली जनता में प्रचलित थी । आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने यह सिद्ध किया है कि कबीर के माता-पिता कदाचित् किसी योग-भ्रष्ट सम्प्रदाय से मुसलमान हो गये थे और कबीर के परिवार में योगी-संस्कार चल रहे थे । जो हो, यह निश्चित है कि कबीर ने अपने युग की समस्त धार्मिक सामग्री, सारी धार्मिक साधनाओं और धाराओं से प्रभाव ग्रहण किया । उनके साहित्य के सबसे निकट जो साहित्य है, वह एक ओर योगियों ( नाथ-पंथियों ) का साहित्य है और दूसरी ओर भक्तों का । वैष्णव भक्तों की सारी नैतिक मान्यताएँ उन्हें स्वीकार हैं और उन्हीं की भाँति वह अहैतुक प्रेमा-भक्ति को भी प्रधानता देते हैं, परन्तु योगियों की शरीर-निष्ठ ब्रह्म की प्राणायाम और चक्रभेदन की साधना में भी उन्हें विश्वास है । उनमें योगवाद और भक्तिवाद का बड़ा विचित्र संगम है । सूफ़ी साधना में ही इस प्रकार का सामंजस्य मिल जाता है । वहाँ वेदान्त के ब्रह्मवाद ( अनलहक्क ), कायामध्ये ईश्वर की कष्ट-क्रियाओं द्वारा प्राप्ति, नामस्मरण और रागात्मिका भक्ति ( इश्क़ ) का अद्भुत समन्वय ही दर्शन बन गया है । इस दृष्टि से कबीर सूफ़ी कहे जा सकते हैं । उनके अनेक पदों में स्पष्ट ही सूफ़ी परिभाषिक शब्दावली का प्रयोग हुआ है । दोनों दृष्टिकोण ठीक हैं । वास्तव में कबीर जैसे स्वतन्त्र-चेत्ता, अनुभूति-प्रधान साधक को मत-विशेष की शृङ्खलाओं में नहीं बाँधा जा सकता । जो जैसा चाहे वैसा

कह लें। उन्होंने जहाँ तथ्य देखा, वहाँ से ले लिया। उनका रहस्यवाद उनकी अपनी खोज का फल है। सच तो यह है कि उसमें रहस्य कुछ भी नहीं है। उनकी प्रेममयी रागात्मिका वृत्ति में सगुण निर्गुण, अल्लाह-राम, कायानिष्ठ ईश्वर और सर्वव्यापिन् ब्रह्म, ज्ञान-भक्ति का विरोध जाता रहता है और एक ऐसी असम्भाव्य स्थिति के दर्शन होते हैं जो रहस्य जान पड़ने पर भी रहस्य नहीं है।

( २ )

मध्ययुग का रहस्यवाद मुख्यतः संग्रहात्मक है। उसमें औपनैषिद ब्रह्मवाद, शांकराद्वैत, गीतोपदिष्ठ भक्ति ( निष्काम अहैतुक भक्ति ), योग की चक्र-साधना और सूफ़ी-संतों की 'प्रेम की पीर' का ऐसा संतुलित समन्वय है कि इमें आश्चर्य होता है। इसमें संदेह नहीं कि यह समन्वय रामानन्द के व्यक्तित्व और उनकी आध्यात्मिक साधना द्वारा उपस्थित हुआ। यह असम्भव है कि रामानन्द अपने समय की सूफ़ी साधना और सूफ़ी विचारधारा से परिचित न रहे हों। अत्तार, सादी, जलालुद्दीन रूमी और हाफ़िज़ की रहस्यवादी रचनायें उन दिनों उत्तर भारत को पूर्ण रूप से प्रभावित करने में समर्थ हो गईं थीं। कबीर ने इस समन्वयात्मक रहस्यवाद को आगे बढ़ाया। रामानन्द भले ही सूफ़ी साधना से अपरिचित रहे हों, कबीर के सम्बन्ध में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे सूफ़ी परम्पराओं से पूर्णतयः परिचित थे और कदाचित् शेख़ तक़ी से दीक्षित भी हुये थे। उन्होंने भारतीय रहस्यवाद और सूफ़ियों के मादन-भाव मूलक तन्मयासक्ति-प्रधान व्यक्तिपरक रहस्यवाद को अपने व्यक्तित्व में समेट कर एक नई रहस्यवादी पद्धति को जन्म दिया। उन्होंने कदाचित् सूफ़ी मत, योग और वेदान्तमूलक निर्गुण भक्तिवाद की तीन अलग-अलग दिशाओं

में बहने वाली तीन धाराओं को 'संगम' के रूप में उपस्थित किया है। यह संगम इतना पूर्ण है कि यह कहना कठिन हो रहा है कि कबीर वैष्णव भक्त हैं, या सूफ़ी हैं या योगी हैं। तीनों धाराएँ घुल-मिल कर जैसे एक हो गई हैं। यह केवल प्रभाव की बात नहीं है, विभिन्न संस्कारों के अभिन्न योग-योग की बात है।

हमें यह पता नहीं कि कबीर इस योगायोग तक किस तरह पहुँचे। उनकी साधना के भिन्न २ स्तरों, उनकी विभिन्न मनोदशाओं और उनके आध्यात्मिक विकास के सूक्ष्म तत्त्वों से हम नितांत अपरिचित हैं। उनकी साधना का जो रूप उनकी कविता द्वारा हमें प्राप्त होता है, वह इस साधना की परिणिति को ही उपस्थित करता है—इस परिणिति तक पहुँचने के लिए कबीर को कौन-कौन सी मंज़िलें पार करनी पड़ीं, यह हम नहीं जानते। यह परिणिति ही उनका रहस्यवाद है।

रहस्यवाद की कविता को जहाँ हम एक ओर सांसारिक दुःख-सुख और विषमता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में देख सकते हैं, वहाँ दूसरी ओर उसे अपरोक्ष की परोक्षानुभूति का रूप भी मान सकते हैं। रहस्यवादी इस दृश्यमान जगत में जन्म-मरण, सुख-दुख, सामाजिक और आर्थिक विषमता को देखता है और फलस्वरूप वह एक ऐसी अविच्छिन्न एकता की शरण जाता है जो विश्व भर में व्याप्त है। वह परोक्ष की चीन बन जाता है। रहस्यवादी को अपनी रहस्य-चेतना को दो दिशाओं में उन्मुख करना पड़ता है—एक ओर तो उसका सारा प्रेम-भाव ईश्वर की ओर प्रवाहित होता है, दूसरे ओर वह अनंत के रहस्य को संसार के सारे मनुष्यों तक पहुँचा देखना चाहता है। फल-स्वरूप उसकी रहस्योन्मुख चेतना की अभिव्यक्ति दो स्तरों पर होती है। रहस्यवाद की कविता मुख्यतः शृङ्गार ( प्रेम ) काव्य है यद्यपि वह मूलतः संदेश-मूलक और आध्यात्मिक है।

रहस्यवादी को अपना स्वसंवेद्य अनुभव जनसाधारण तक पहुँचाना होता है। इसीसे वह सामान्य जीवन से अपनी उपमाएं लेता है और सार्वभौमिक अनुभवों की भाषा में बात करता है। उसके रूपक अत्यंत सुगम रहते हैं। वह गुरु-शिष्य, प्रियतम-प्रियतमा, यात्री, यात्रा के सुख-दुख, बधू का प्रियतम के देश को गमन, हंस की ऊर्ध्व उड़ान, पनिहारी-जीवन और चातक की स्वाति-पिपासा जैसे सामान्य उदाहरणों को लेता है और उन्हीं में अपनी परोक्ष अनुभूति भरता है। उसके लिए संसार और प्रकृति और मनुष्य के सारे क्रिया-कलाप प्रियतम की लीला-मात्र हैं। यह जगत बाज़ीगर का खेल है। बाज़ीगर रूप-रङ्ग (नाम-रूपात्मक संसार) के इंद्रजाल के पीछे छिपा हुआ है। उसके रङ्गों-रूपों के खेल को जो समझ जाता है, वही उसके मन को पूर्णतः समझ पाता है। रहस्यवादी के लिए जड़-चेतन और इहलौकिक-पारलौकिक का कोई भेद नहीं रह जाता। सब कुछ उस प्रियतम का ही कौतुक है। सब कुछ उस ब्रह्म का ही प्रसार है, उसी की माया है।

रहस्यवादी को अपनी ब्रह्मानन्द की अनुभूति और तज्जन्य आनन्द के वर्णन का प्रयत्न करना पड़ता है। वह चाहता है कि दूसरे मनुष्य भी इस आनन्द में भाग लें। यह अनुभूति तो 'गूँगे का गुड़' है। इसी लिए इसकी वाणी में प्रतिदिन के जीवन और अध्यात्म की भाषा का विलक्षण योग रहता है। कभी तो उसकी वाणी अत्यंत दार्शनिक हो जाती है, कभी उसमें उसकी व्यक्तिगत अनुभूति इतनी तन्मयता के साथ प्रकाशित होती है कि हमें आश्चर्य होता है। उसकी भाषा-शैली में बड़ी विषमता रहती है, परन्तु स्वयं रहस्यवादी के लिए न उसमें कुछ विलक्षणता है, न कुछ अटपटापन। उसकी रहस्यवादी अंतर्वृत्ति में भीतर-बाहर के अनेक विरोधों का पूर्णतः समाहार हो जाता है। परंतु उसकी वाणी का संपूर्ण रस खींचने के लिये यह आवश्यक है कि हम उसके आध्यात्मिक जीवन की इस द्विविध सत्ता को पूर्ण रूप से समझ लें।

कबीर उन महान रहस्यवादियों में से हैं जिन्होंने उस परमसत्ता का दर्शन कर लिया है, जो विरोधों और द्वन्दों से ऊपर उठ कर सारे संसार में, लोक-लोक में, कण-कण में एक अपरिसीम, सार्वभौमिक, सर्वसंग्रही व्यक्तित्व के रूप में व्याप्त है। उनके इस 'दर्शन' में परमसत्ता के व्यक्तिगत और सर्वसामान्य, अंतर्यामिन् और सर्वव्यापिन्, जड़ और चेतन अंगों का समाहार हो जाता है, वेदान्त का निर्द्वन्द, निष्कल ब्रह्मपर भक्त का प्रेमी बंधु बन जाता है। रहस्यवादी इन विभिन्न और विरोधी तत्त्वों को एक-एक करके नहीं लेता। वह इन द्वन्दों से ऊपर उठ जाता है, वह ऐसी आध्यात्मिक ऊंचाई पर पहुँच जाता है, उसमें ऐसी प्रज्ञा जाग्रत हो जाती है कि ये विरोधी तत्त्व विरोधनष्ट होकर एकतत्व ( एकत्व ) में परिणत हो जाते हैं। ये विरोधी तत्व एक महान इकाई के पारस्परिक पूरक बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में पहुँच कर ब्रह्म की सत्ता दर्शन-मात्र तक सीमित नहीं रहती, वह जीवित, जाग्रत, स्पंदित सम्बन्धों में प्रगट होती है। ब्रह्म प्रेरणात्मक, सर्वाधार, सर्वांतर्यामिन् मात्र नहीं रहता! वह साधक के व्यक्तित्व को अपने व्यक्तित्व से ओत-प्रोत कर देता है। एक ओर उसमें यह सारा जगत सूत्र की भाँति ग्रथित है, दूसरी ओर वह सद्गुरु के रूप में प्रत्येक जीवात्मा को अध्यात्म-पथ पर अग्रसर कर रहा है। परंतु वास्तव में ब्रह्म अपने इन दोनों रूपों से परे है। वही एक मात्र तत्व है जिसमें सारे व्यक्त और सारे अव्यक्त जन्म लेते और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। कबीर ने उसे 'हद और बेहद से परे' कहा है। उस परम तत्व की अनुभूति के बाद सारे विरोधों और अंतर्द्वन्दों का स्वतः नाश हो जाता है।[1]

---

१ कबीर तूं तूं करता तू हूआ मुझ महि रहा न हूं।
लब आपा पर का मिटि गइआ जत देखउ तत तूं॥
(सलोकु २०४)

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर की साधना की भूमि पर निर्गुण, निराकार, निर्द्वन्द, निष्कल ब्रह्म का साधारणीकरण हो जाता है और वह अत्यंत प्रेममय, अत्यंत व्यक्तिगति रूप में उन्हें उपलब्ध होता है। निर्वैयक्तिक ब्रह्म और व्यक्तिगत ईश्वर ( कबीर के 'प्रियतम' ) की यह समाहृत योजना कबीर की साधना और उनके काव्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। कबीर की विशेषता यह है कि वह अपने व्यक्तिगत ईश्वर की प्रेमपरक साधना को अत्यंत संयमित रूप में उपस्थित करते हैं। उनमें अतिवाद नहीं है। सूफ़ियों और चैतन्य सम्प्रदाय के वैष्णवों में अनेक प्रकार में यह अतिवाद घुस आया है और उसने अति-भावुकता, स्वच्छंद रति-भाव और इसी प्रकार के अनेक उत्तेजना-मूलक अंगों को विकसित कर लिया है। वेदांत की शुष्कता भी उसमें नहीं आ पाई है। वेदांत में सिद्धावस्था की प्राप्ति पर जीव-ब्रह्म के भेद का पूर्णतय: नाश हो जाता है। कबीर में ब्रह्म-भाव को प्राप्त होने पर भी जीव के व्यक्तित्व का पूर्णतय: नाश नहीं होता। कबीर जीव-ब्रह्म के महामिलन को सरिता-सागर-संगम के रूप में ग्रहण करते हैं। जीव का व्यक्तित्व ब्रह्म से ओतप्रोत हो जाता है और ब्रह्म जीव के व्यक्तित्व में डूब जाता है। इसमें न जीव का नाश है, न ब्रह्म का एक-रस-भाव। इसे हम न अद्वैतवाद कह सकते हैं, न विशिष्टाद्वैतवाद। यदि यह विशिष्टाद्वैत-वाद है तो यह रामानुज के विशिष्टाद्वैत से भिन्न है। इस उच्च प्रेमभाव तक पहुँच कर यह कहना कठिन हो जाता है कि जीव ब्रह्म में ओतप्रोत है या ब्रह्म जीव में। [२]साधक का सारा व्यक्तित्व एक अलौकिक 'लीला'

---

२ सुनु सखी पीअ महि जीउ बसै जीअ महि वसै कि पीउ।
जीउ पीउ बूझहु नही घट महि जीउ कि पीउ ॥

( सलोकु २३६ )

की क्रीड़ाभूमि बन जाता है और वह आँखों बन्द कर घट में इस प्रेम-लीला का दर्शन करने लगता है।[२]

कबीर ब्रह्म को भक्ति, प्रेम और तन्मयासक्ति का विषय बनाते हैं। यह ब्रह्म ही सद्गुरु है। यही 'अलह' है। यही प्रोषित-पतिका आत्मा का 'प्रियतम' है। कबीर अपने को 'राम की बहुरिया' कहते हैं और उनके मिलन-वियोग की अनुभूतियाँ जगाते दिखलाई पड़ते हैं। इस प्रकार कबीर की साधना में दर्शन की एकरसता का बाध है और हृदय पक्ष की अवहेलना नहीं हो पाई है। वेदांती आचार्यों में ब्रह्म तर्क-वितर्क और पांडित्यपूर्ण वादों-विवादों का विषय है। कबीर न अति-नैतिकतावादी हैं, न अतिबुद्धिवादी। उनके लिए प्रेम परम सत्ता की सब से सुन्दर और सबसे महान अभिव्यक्ति है। इस प्रकार उनकी अनुभूति में अनंत सांत बन जाता है, ज्ञान-भक्ति का विरोध जाता रहता है और वेदांत की सायुज्य मुक्ति और भक्त की सारूप्य मुक्ति में कोई भेद नहीं रहता। उनके लिए जीव-ब्रह्म की एक्य स्थिति परम आंनद, परम उल्लास, परम प्रयत्न का विषय है। कबीर के लिए यह सारी सृष्टि सृष्टा की लीला-मात्र है, ब्रह्म के प्रेम और आंनद का ही चिरजीवित, चिर विकासप्राय, चिर परिवर्तन-शील प्रकाशन है। यह सारा जीवन उसके प्रेम और आनंद का ही विकास है। ब्रह्म निष्क्रिय है। उसकी क्रिया-शीलता का प्रकाश प्रेम और आनंद के रूप में हुआ है। प्रेम ब्रह्म की अभिव्यंजना है, आनंद उसकी सक्रियता का अन्यतम रूप है। सृष्टि के द्वारा वह अपने प्रेम और आनंद को ही व्यक्त रूप प्रदान करता है। इस प्रकार यह सृष्टि ब्रह्म की प्रेम-लीला बन जाती है

---

२ नीचे लोइन करि रहउ ले साजन घटि माहि।
सभ रस खेलउ पीउ सउ किसी लखावउ नाहि॥
(स० २३४)

जो सतत प्रगतिशील है, जो ब्रह्म की क्रमशः प्रगतिमयी अभिव्यक्ति है। वैष्णवों ने इसे ही 'रास' का रूपक दिया है। इस दृष्टिकोण से सृष्टि के भीतर दिखलाई पड़ने वाली गति, उसकी लय, उसके परिवर्तन, उसका विकास—सब उस चित्सत्ता के अभिन्न अंग बन जाते हैं। फलतः जन्म-मरण, सुख-दुख, नाश और सृजन एक ही महान चेतना और आनंद के अंग होने के कारण भय और चिंता के विषय नहीं रहते। रहस्यवादी के लिए यह सारी सृष्टि, यह सारा जीवन चेतनता, आनंद, शक्ति, प्रेम और ज्योति की क्रीड़ा बन जाता है। सामान्य से सामान्य वस्तु असामान्य और अलौकिक बन जाती है। कुछ भी क्षुद्र और हेय नहीं रहता। अपनी इंद्रियों से वह जो कुछ ग्रहण करता है, वह अतीन्द्रिय जगत की संवेदनाओं का संकेत बन जाता है।

कबीर के साहित्य में यह संकेत, यह रहस्यभाव अनेक परिचित-अपरिचित रूपकों के द्वारा अनेक प्रकार से प्रकाशित हुआ है। कहीं-कहीं उसका रूप सांप्रदायिक है, उसकी अभिव्यक्ति योग-साधना और सूफ़ी-साधना के पारिभाषिक शब्दों और प्रतीकों के द्वारा हुई है, परन्तु ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ कबीर की साधना स्वयं उनके स्वसंवेद्य की भूमि पर खड़ी होती है और किसी भी संप्रदाय की न रहकर सब की बन जाती है। यहीं कबीर सबसे महान हैं। यहीं वह मध्ययुग की सामान्य रहस्यवादी धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं जो संसार को ब्रह्म की लीला मानती है और जीवन को उस विराट, प्रेममयी, निर्गुण सत्ता की आनंदपूर्ण अभिव्यक्ति समझती है।

---

## ६

# कबीर की साधना के अन्य पक्ष

कबीर की साधना के भक्ति और रहस्यवाद के महत्त्वपूर्ण पक्षों पर हमने पिछले अध्यायों में विचार किया है। कबीर का भक्ति का आदर्श 'भाव-भगति' (भाउ-भगति) है जिसे उन्होंने एक स्थल पर 'नारदी भक्ति' भी कहा है। इस भक्ति का सर्वोच्च प्रकाशन रति-भाव में होता है। और निर्गुण के प्रति उन्मुख होने के कारण इस प्रकार की भक्ति में गूढ़ता और रहस्यमयता स्वयं ही आ जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रहस्यवाद भाउ-भगति का विकास ही है। वह कोई स्वतन्त्र साधना नहीं है।

परन्तु कबीर की साधना यहीं समाप्त नहीं हो जाती। उसके और भी पक्ष हैं। कबीर के साधना-पक्ष पर अद्वैतवादी भाव-धारा का गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। अनेक पदों में उन्होंने अद्वैतस्थिति का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। कहीं वह कहते हैं—

उदक समुंद सलल की साखिआ नदी तरंग समावहिंगे।
सुंनहि सुंनु मिलिआ समदरसी पवन रूप होइ जावहिंगे॥

बहुरि हम काहे आवहिंगे।
आवन जाना हुकमु तिसै का हुकमै बूझि समावहिंगे॥

(रागु मारू, ४)

कहीं वह आत्मा की चिरनिर्लेपिता की बात उठाते हैं :

ना इहु मानसु ना इहु देउ ।
ना इहु जती कहावै सेउ ॥
ना इहु जोगी ना अवधूता ।
ना इसु माइ न काहू पूता ॥
इत्रा मंदर महि कौन बसाई ।
ता का अंतु न कोऊ पाई ॥

( रागु गौंड, ५ )

कहीं सिद्धस्थिति पर पहुँच कर अद्वय-भाव के आनन्द का वर्णन करते हैं :

जो जनु भाउ भगति कछु जानै ताकउ अचरज काहो ।
जिउ जलु जल महि पैसि न निकसै तिउ ढुरि मिलिओ जुलाहो ॥

( रागु धनासरी, ३ )

कहीं जुलाहा-जीवन से रूपक लेते हुए अद्वैतसाधना के अत्यन्त व्यापक रूप को प्रकट करते हैं :

कोरी को काहू मरमु न जानां ।
सभु जगु आनि तनाइओ तानां ॥
जब तुम सुनिले बेद पुराना ।
तब हम इतनकु पसरिओ ताना ॥
धरनि अकास की करगह बनाइ ।
चंद सूरज दुइ साथ चलाई ॥
पाई जोरी बात इक न तह ताँती मनु मानां ।
जोलाहे घरु अपना चीन्हा घट ही रामु पछानां ॥

कहा कबीरं कारगह तोरी ।
सूतै सूत मिलाए कोरी ॥
( राग आसा, ३६ )

साधक के जीवन में ऐसे क्षण कम नहीं आते जब वह सिद्धि के आनन्द और गर्व से भर जाता है । कबीर के काव्य में ऐसे अनेक क्षणों के दर्शन होते हैं परन्तु जो साधक नहीं हैं वह इन क्षणों के वर्णन को गर्वोक्ति मात्र मान लेते हैं । वस्तुत: साधना की इस ऊँचाई पर उठना असम्भव नहीं है । संसार के साधकों के कथन प्रमाण हैं । इसी तरह जब कबीर कहते हैं :

अब मोहि नाचनो न आवै—
कहि कबीर में पूरा पाइआ
( राग आसा, २८ )

माई मोहि अवरु न जानिओ आना नां ।
( राग गउड़ी, ७४ )

जब हम होते तब तुम नाही अब तुम हहु हम नाहीं ।
अब हम तुम एक भए हहि एकै देखत मनु पतीआही ॥
( वही, ७२ )

तब वह साधना के एक बहुत बड़े पक्ष को ही प्रकाशित करते हैं । इस साधना के आरम्भ में साधक तीव्र जिज्ञासा और वेदना से भर जाता है । उसे लगता है कि सारा विश्व जिस आनन्दामृत से ओतप्रोत है, वह उसका एक कण भी नहीं पा रहा है । उसे जो मिल भी रहा है, वह इतना थोड़ा है कि उससे उसकी तृप्ति नहीं होती । वह चिल्ला उठता है :

माधव जल की पियास न जाइ ।
जल महि अगनि उठी अधिकाइ ॥
तूँ जलनिधि हउ जल का मीनु ।
जल महि रहउ जलहि बिनु खीनु ॥

( राग गउड़ी, २ )

और जब उस अमृत की शीतल धारा उसे मिल जाती है, तब उसका हृदय कृतज्ञता से भर जाता है। वह कह उठता है :

अब मोहि जलत राम जलु पाइआ ।
राम उदकि तनु जलत बुझाइआ ॥

( वही, १ )

या राम के पौराणिक नाम का आश्रय लेकर प्रतीक रूप में अपने हृदय के आनन्द का प्रकाशन करता है :

गाउ गाउ री दुलहनी मंगलचारा ।
मेरे ग्रिह आए राजा राम भतारा ॥
नाभि कमल महि बेदी रचिले ब्रह्मा गिआन उचारा ।
राम राउ सो दूलहु पाइओ अस बड़ भाग हमारा ॥
सुर नर मुनि जन कउतक आए कोटि तैतीसउ जाना ।
कहि कबीर मोहि बिआहि चले हैं परख एक भगवाना ॥

( रागु आसा, २८ )

इस प्रकार हम देखते हैं कि अद्वैतवाद की साधना कबीर की साधना का महत्वपूर्ण पक्ष है। यह साधना जहाँ एक ओर 'भाउ-भगति' को छूती है, वहाँ दूसरी ओर 'रहस्यवाद' को। 'भाउ-भगति' में फिर भी थोड़ी-बहुत द्वैतभाव की छटा दिखलाई देती है, परन्तु बौद्धिक और

साधनात्मक अद्वैतवाद के पथ से बढ़ता हुआ साधक रहस्य-मिलन-वियोग की आनन्द-भूमि पर स्थिर हो जाता है। यह उसकी साधना की पराकाष्ठा है।

अद्वैतवादी साधक का लक्ष्य जीवन्मृत की अवस्था की प्राप्ति है। जीवन्मृत की अवस्था को प्राप्त करके ही साधक सच्चे जीवन की प्राप्ति करता है। सांसारिक जन तो आध्यात्मिक दृष्टि से मृत ही हैं। जीता वही है जो आत्म-तत्त्व को पहचान लेता है, जिसे जिलाने वाला मिल जाता है। कबीर कहते हैं :

अवर मुए किआ सोगु करीजै।
तऊ कीजै जउ आपन जीजै॥
मैं न मरउ मरिबो संसारा।
अब मोहि मिलिओ है जीआवन हारा॥

( रागु गउड़ी, १२ )

यह जीवनमृत की अवस्था उस समय प्राप्त होती है जब साधक अपने मन के वहिर्गमन को रोक देता है, जब वह सुरति या सहज समाधि के द्वारा अपने में स्थित हो जाता है। मन को उलटे मार्ग पर पीछे ले आना होता है जिससे वह अपनी मूल, सनातन, निर्मल स्थिति को प्राप्त कर ले। इस अवस्था का वर्णन कबीर इन शब्दों में करते हैं :

तन महि होती कोटि उपाधि।
उलटि भई सुख सहजि समाधि॥
आपु पछानै आपै आप।
रोगु न बिआपै तीनौ ताप॥

अब मनु उलटि सनातन हूआ ।
तब जानिआ जब जीवत मूआ ।।

( रागु गउड़ी, १७)

मन का 'सहज सुभाइ' में आ जाना, उसका 'सनातन' हो जाना सब साधनाओं की चरम सीमा है। योग-साधना में इसका विस्तारपूर्ण वर्णन है। परन्तु कबीर योग की साधना की अपेक्षा 'सहज साधना' पर अधिक बल देते हैं। इस दशा का आनन्द रहस्य-मिलन के आनन्द से किसी भी प्रकार कम नहीं है।[1] परन्तु इस सिद्धावस्था (आनन्दावस्था) को सब कोई प्राप्त नहीं कर सकते।[2]

---

१ जिह मरनै सभु जगतु तरासिआ ।
सो मरना गुर सबदि प्रकासिआ ।।
अब कैसे मरउ मरनि मनु मानिआ ।
मरि मरि जाते जिन रामु न जानिआ ।।
मरनो मरनु कहै सभु कोई ।
सहजै मरै अमरु होइ सोई ।।
कहु कबीर मनि भइआ अनंदा ।
गइआ भरमु रहिआ परमानंदा ।।

( रागु गउड़ी, २० )

२ कबीर ऐसा एकु आधु है जो जीवित म्रितकु होइ ।
निरभै होइ कै गुन रवै जत पेखउ तत सोइ ।।
कबीर जा दिन हउ मूआ पाछै भइआ अनंदु ।
मोहि मिलिओ प्रभु आपना संगी भजहि गोबिंदु ।।

कबीर 'जीवन्मृत' की साधना का सम्बन्ध नाथपंथियों की विचार-धारा से भी जोड़ देते हैं। नाथपंथ में 'सुंनि' ( सहज शून्य ) या 'उनमनि' की अवस्था साधक का अन्यतम लक्ष्य है। इस साधना की भी अपनी बड़ी लंबी परम्परा है जो सिद्धों ( ७५०-१२०० ) और नागार्जुन ( सातवीं शताब्दी ) तक पीछे चली जाती है। कबीर कहते हैं : 'यह शरीर धारण करते हुए भी सांसारिक सुखों के प्रति मृत हो जा जिससे तू नये आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करेगा। शून्य में समाना ही चाहता है तो इस तरह समा। चारों ओर माया का प्रसार है। इस माया-जाल के बीच में अनासक्ति-भाव से विचर। इस प्रकार सिद्धि प्राप्त होने पर तू फिर इस भवसागर में नहीं आयेगा।...जब मन 'उन्मनि' की अवस्था को प्राप्त होकर शून्य में समा गया तो सारी द्विविधाओं और दुर्मतियों का शमन हो गया। एक नया अनुभव ही प्राणों में जाग उठा। राम नाम से लौ लगी।'[3] जीवन्मृत्त की अलौकिक दशा का वर्णन करते हुए वह कहते हैं—'सहज' की ऐसी विचित्र कथा है जो कही

---

कबीर मरता मरता जगु मूआ मरि भी न जानिआ कोइ।
ऐसे मरने जो मरै बहुरि न मरना होइ॥
( सलोकु ५, ६, २६ )

३ जीवत मरै मरै फुनि जीवै ऐसे सुंनि समाइआ।
अंजन माहि निरंजनि रहीऐ बहुड़ि न भवजल पाइआ॥
मेरे राम ऐसा खीरु बिलोईऐ॥

× × ×

उनमनि मनूआ सुंनि समाना दुबिधा दुरमति भागी।
कहु कबीर अनभउ इक देखिआ राम नामि लिव लागी॥
( राग गउड़ी, ४६ )

नहीं जा सकता। वहाँ न वर्षा है, न सागर, न धूप, न छाया, न उत्पत्ति, न प्रलय। न जीवन, न मृत्यु। न वहाँ दुख का अनुभव होता है, न सुख का वहाँ शून्य की जागृति और समाधि की निद्रा दोनों ही नहीं हैं। वह न तो ली जा सकती है, न छोड़ी जा सकती है। वह न हलकी है, न भारी। उसमें ऊपर नीचे की कोई भावना नहीं है, वहाँ रात-दिन की स्थिति नहीं है। न वहाँ जल है, न पवन। न अग्नि। वहाँ तो सतगुरु ही ा साम्राज्य है। वह अगम है, इंद्रियों में परे है, केवल गुरु की कृपा से ही उसकी प्राप्ति हो सकती है।'[४]

नाथपंथ की षटचक्र-भेदन, लययोग और कुन्डलिनी-साधन की साधनाएँ भी कबीर के साहित्य में आंशिक रूप से स्वीकृत जान पड़ती हैं। परन्तु कबीर की विशेषता यह है कि उन्होंने इन साधनों की कष्ट-कृच्छ्रता को निकाल कर उन्हें 'सहज' बना लिया है और उन्हें राम से संबंधित कर दिया है। उनकी भावना में योग और भक्ति का कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार वह ज्ञान को भक्ति की भूमिका के रूप में स्वीकार करते हैं उसी प्रकार वह यो ा को भी भक्ति की भूमिका ही मानते हैं।

---

४ तह पावस सिंधु धूप नहीं छहीआ तह उतपति परलय नाही।
जीवन मिरतु न दुखु-सुखु बिआपै सुंन समाधि दोउ तह नाहीं॥
सहज की अकथा कथा है निनारी।
तुलि नहीं चढ़ै जाइ न मुकाती हलुकी लगै न भारी॥
अरध उरध दोऊ तह नाही राति दिवसु तह नाही।
जलु नहीं पवनु पावक पुनि नाही सति गुर तहा स माही॥
अगम अगोचरु रहै निरंतरि गुर किरपा ते लहीऐ।
कहु कबीर बलि जाउ गुर अपुने सतसंगति मिलि रहीऐ॥
(वही, ४८)

इससे अधिक नहीं। वह कहते हैं: 'पंडित, एक अचरज सुनो। कुछ कहा नहीं जाता। जिसने सुर, नर, गन्धर्व को मोह लिया है और जो मेखला की भाँति इस त्रिभुवन को घेरे है उस राजाराम की अनहद-किंगुरी बज रही है। जिसकी ओर राम की दृष्टि जाती है उसी की लय लग जाती है। यह देह ही कनक कलश है जिसमें राम रसु की निर्मल धारा चू रही है। यह अनुपम बात भी सुनो कि प्राणायाम के द्वारा ही इस आनन्द का पान किया जा सकता है। पवन ही प्याला है। तीनों भुवनों में ऐसा कौन योगी है जो इस रामरसु का आनन्द ले। परमेश्वर की कृपा से कबीर को ऐसा ज्ञान प्राप्त हुआ। वह रामरसायन पीकर मत्त बन गया। और दुनिया भ्रम में ही भूली रही।'[५] यह स्पष्ट है कि योग के प्रति यह दृष्टिकोण नितांत नया है। कबीर सारग्राही हैं। उन्होंने योग को भक्ति-परक बना लिया है। वैसे जोगियों के बाह्याचारों और उनकी हठयोग की तत्त्वहीन साधना का वह बड़ा विरोध करते हैं। वह कहते हैं—'बिंदु की रक्षा करने से ही जो मुक्ति होती तो हिजड़े तो मुक्त हो

---

५ अचरज एक सुनहु रे पंडीआ अब किछु कहनु न जाई।
सुर नर गण गंध्रब जिनि मोहे त्रिभवन मेखुली लाई॥
राजा राम अनहद किंगुरी बाजै जाकी दिसटि नाद लिव लागै॥
भाठी गगनु सिङिआ अरु चुंङआ कनक कलस इकु पाइआ।
तिसु माह धार चुऐ अति निरमल रस महि रसन चुआइआ॥
एक जु बात अनूप बनी है पवन पिआला साजिआ।
तीनि भवन महि एको जोगी कहहु कवनु है राजा॥
ऐसे गिआन प्रगटिआ पुरखोतम कहु कबीर रँगि राता।
अउर दुनी सम भरिमि भुलानी मनु राम रसाइन माता॥

(सिरी रागु, २)

जाते।'[६] गोरखनाथ की रचनाओं में बिंदुसाधना का जितना महत्व है उसे देखते हुए इस कथन की महत्ता का आभास मिल सकता है। एक दूसरे स्थल पर वह कहते हैं—'मुझे रात-दिन एक शंका रहती है, उसका समाधान कौन करे?—देह के नष्ट होने पर जब पंच तत्व ही नहीं रहते तो यह इडा, पिंगला, सुखमना कहाँ जाती हैं? समाधि टूटने पर ब्रह्मरंध्र शून्य हो जाता है। तब यह प्राण कहाँ रहता है? यह कौन सी स्थिति है जहाँ पिंड, ब्रह्मांड और ब्रह्म तक से नाता टूट जाता है, केवल अतीत से संबंध बना रहता है? कबीर कहते हैं—मेरी दिन रात उस ( राम ) से लौ लग रही है। यह गंभीर समस्यायें सुलझाये नहीं सुलझ सकती है। वह अविनाशी ही इनका भेद जाने।'[७] यह स्पष्ट है

---

६ बिन्दु राखि जौ तरीऐ भाई।
खुसरै किउ न परम गति पाई॥

( राग गउड़ी, ४ )

७ जह कुछ अहा तहा किछु नाहीं पंच ततु तह नाही।
इडा पिंगला सुखमन बन्दे ए अवगन कत जाही॥
तागां तूटा गगनु बिनसि गइआ बोलतु कहा समाई।
एह सन्सा मोकउ अनदिनु बिआपै मोकउ कोन कहै समझाई॥
जह बरमंडु पिन्डु तह नाही रचनहारु तह नाही।
जोड़ण हारो सदा अतीता इह कहीऐ किसु माही॥
जोड़ी जुड़ै न तोड़ी तूटै तब लगु होइ बिनासी।
का को ठाकुर का को सेवक को काहू कै जासी॥
कहु कबीर लिव लागि रही है जहाँ बसे दिनराती।
दुआ का मरमु ओही परु जानै ओह तउ सदा अबिनासी॥

( वही, ५२ )

कि कबीर योग-साधना में उस तरह पूर्ण रूप से विश्वास नहीं करते जिस तरह नाथ-पंथी। उन्होंने योग की नई परिभाषा दी है और अपने को 'वैरागी जोगी' कहा है।—"मेरे राजा, मैं तो बैरागी जोगी हूँ। मैं तो जीवन्मृत्त हूँ, मुझे शोक-वियोग क्या ? श्रुति और स्मृति ही मुझ योगी के कर्णी (कानों के भूषण) और मुद्रा (स्फटिक कुन्डल) हैं। आकाश ही मेरी 'खिंथा' (कंथा = वस्त्र) है। शून्य गुफा (ब्रह्मरंध्र) ही मेरा निवास स्थान है। मेरा पंथ कल्प (कर्मकांड) से रहित है। ब्रह्मांड मेरी शृंगी है और पृथ्वी मेरा बटुआ। यह सारा संसार ही धूलिमय है, अतः यही मेरी भस्म है। मैंने त्रिपलों (भूत, वर्तमान और भविष्यत्) को पलटने के लिए त्राटक लगाई है जिससे माया का 'यह इन्द्रजाल समाप्त हो जाये। ऐसा मैं योगी हूँ।" वे आगे भी कहते हैं—'ऐसा योगी ध्यान ही को सुई बनाकर उसमें शब्द का तागा डालता हैं और ज्ञानरूपी कंथा को सीता है। वह पंचतत्व का तिलक करता है और गुरु के दिखलाए हुए मार्ग पर चलता है।

---

८ सुरति सिम्रित दुइ कन्नी मुन्दा परमिति बाहरि खिंथा।
सुंन गुफा महि आसणु बैसणु कलप बिबरजित पंथा॥
मेरे राजन मैं बैरागी जोगी।
मरत न सोग बिओगी॥
खंड ब्रहमंड महि सिंगी मेरी बटूआ सभु जगु भसमाधारी।
ताड़ी लागी त्रिपलु पलटीऐ छूटै होई पसारी॥
मन पवन दुइ तूंबा करिहै जुग जुग सारद साजी।
थिरु भई तंती तूटसि नाहीं अनहद किंगुरी बाजी॥
सुनि मन मगन भए है पूरे माइआ डोल न लागी।
कहु कबीर ता कउ पुनरपि जनमु नहीं खेल गइओ बैरागी॥
(वही, ५२)

वह दया की फावड़ी चला कर अध्यात्म भूमि साफ़ करता है, माया की धूनी बनाता है और उसमें ज्ञान-दृष्टि की अग्नि जलाता है। उस ब्रह्म का भाव हृदय के भीतर लेकर चारों युगों का त्राटक लगाता है। उसका सबसे बड़ा योग है रामनाम। वही उसका प्राण है। कबीर कहते हैं कि जो उस राम की कृपा को धारण करता है वही सच्चा निशाना लगा सकता है। वही सच्चा योगी है।[९] यही नहीं, जान पड़ता है, योग-साधना के प्रचलित रूप से उनका गहरा विरोध था। एक पद में वह किसी योगी के समाधि लेने पर व्यङ्ग करते हैं—ब्रह्मरंध्र से एक बूंद भी नहीं बरसती और नाद न जाने कहाँ समा गया? जान पड़ता है परब्रह्म (परमेश्वर, माधव) परमहंस को पृथ्वी से उठा ले गये। उनकी देह यहीं रह गई। जो सुरति-निरति, योग-साधन आदि में लगे रहते थे और भाँति-भाँति की कथावार्ता कहते थे वह योगी बाबा क्या हुए?[१०] इसीप्रकार कुंडलिनी-

---

९ बटुआ एकु बहतरि आधारी एको जिसहि दुआरा।
नवैं खंड की प्रिथमी मागे सो जोगी जगि सारा॥
ऐसा जोगी नउ निधि पावै। तलका ब्रह्मु ले गगनि चरावै॥
खिंथा गिआन धिआन करि सूई सबदु तागा मथि घालै।
पंच ततु की करि मिरगाणी गुर के मारग चालै॥
दइआ फाहुरी काइआ करि धूई द्रिसटि की अगनि जलावै।
तिस का भाउ लए रिद अंतरि चहु जुग ताड़ी लावै॥
सभ जोगतण राम नामु है जिसका पिंडु पराना।
कहु कबीर जे किरपा धारै देइ सचा निशाना॥
(रागु आसा, ७)

१० गगन नगरि इक बूंद न बरखै नादु कहा जु समाना।
पारब्रह्म परमेसुर माधो परम हंसु ले सिधाना॥

वाद के भी वे विरोधी हैं। योगी 'सर्पिणी' 'सर्पिणी' चिल्लाते हैं, परन्तु कबीर माया को ही सर्पिणी मानते हैं। वही सच्ची सर्पिणी है, उसे ही मारना है योग की 'सर्पिणी' (कुण्डलिनी) से लड़ना निरर्थक है।[११] कबीर हरिकथा को ही अनाहद बानी मानते हैं।[१२] एक अन्य स्थल पर वह योगियों के सारे बाह्याडम्बरों और साधनों के हेय बता कर उसे हरि-भक्ति की ओर उन्मुख करते।[१३] पिंड में ब्रह्माण्ड की बात को भी वह नये रूप में ही स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि इस शरीर के भीतर

---

बाबा बोलते कहा गए। देही के संगि रहते।
सुरति माहि जो निरते करते कथा बारते कहते॥
(वही, १८)

११ सरपनी ते ऊपरि नहीं बलीआ।
जिनि ब्रह्मा बिसनु महादेव छलीआ॥
मारु मारु स्रपनी निरमल जलि पैठी।
जिनि त्रिभवणु डसीअले गुर प्रसादि डीठी॥
स्रपनी स्रपनी किआ कहहु भाई।
जिनि साचु पछानिया तिनि स्रपनी खाई॥
(वही, १९)

१२ हरि की कथा अनाहद बानी।
हंसु हुइ हीरा लेइ पछानी॥
(वही, ३१)

१३ डंडा मुंद्रा खिंथा अधारी। भ्रम कै भाइ भवै भेखधारी।
आसनु पवनु दूरि करि बवरे। छोडि कपटु नित हरि भजु बवरे॥
जिहि तू जाचहि सो त्रिभवन भोगी।
कहि कबीर केसौ जगि जागी॥
(रागु बिलावलु, ८)

एक अनूप कमल है जिसमें ऐसे परमज्योति-रूपी पुरुषोत्तम का निवास है जिसके न रूप है, न रेख। या कि मन में मुरारी का निवास है।[१४] कबीर मद और कलाली के योगियों के प्रिय रूपक को लेते हैं, परन्तु यह स्पष्ट ही रूपक-मात्र हैं और ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका लक्ष्य भक्तिरस ( रामरसु ) ही है[१५]। 'कायारूपी कलाली

---

१४ सरीर सरोवर भीतर आछै कमल अनूप।
परम जोति पुरषोतमो।जा कै रेख न रूप॥
रे मन हरि भजु भ्रमु तजहु जग जीवन राम॥

( वही, १० )

१५ रागु रामकली १, २

काइआ कलालनि लाहनि मेलउ गुर का सबदु गुड़ु कीनु रे।
त्रिसना कामु क्रोधु मद मतसर काटि काटि कसु दीनु रे॥
कोई है संतु सहज सुख अन्तरि जाकउ जपुतपु देउ दलाली रे।
एक बूंद भरि तनु मनु देवउ जो मदु देइ कलाली रे।
तीरथ बरत नेम सुचि संजम रवि ससि गहनै देउ रे।
सुरति पिआल सुधारसु अंम्रितु एहु महारसु पेउ रे॥
निझर धार चुऐ अति निरमल इह रस मनूआ रातो रे।
कहि कबीर सगले पद छूछे इहै महारसु साचो रे॥

गुड़ु करि गिआनु धिआनु करि महूआ
भउ माठी मन धारा।
सुखमन नारी सहज समानी पीवै पीवनहारा॥
अउधू मेरा मनु मतवारा।
उनमद चढ़ा मदन रसु चाखिआ त्रिभवन भइआ उजिआरा॥

ने आत्मा के लाभ के लिए गुरु का शब्द ही गुड़ किया और उसमें तृष्णा, काम, क्रोध, मद और मत्सर को मिला कर उनका सत निकाला। कोई ऐसा संत है जिसके हृदय में 'सहज' का आनंद है। उसे मैं अपना सारा जप-तप दलाली के रूप में देने को तैयार हूँ। वह मेरे मन और शरीर को उस मद की एक बूंद से ही भर दे। ··· इस रस की निर्मला धारा सतत प्रवाहित है। मेरा मन इसी के रस में मत्त हो गया है। इस महारस के सामने और सब रस सारहीन हैं।' 'ग्यान गुड़ है, ध्यान महुआ है, मन भट्ठी है। इसमें जो मद तैयार होता है उसे कोई पीनेवाले विरला योगी ही पीता है। इस मद को पीकर मेरा मन मतवाला हो गया है।'

एक अन्य स्थल पर जोगी को उपदेश देते हुए कबीर अपये नये योग ( हरि-भक्ति ) की व्याख्या इस प्रकार करते हैं : 'मौन उस योगी की मुद्रा है, दया झोली है, विचार पत्र ( हाथ में पहरने का आभूषण ), तन-मन का संयम ही उसका फटी कंथा का सीना है और नाम ही आधारी ( वह लकड़ी जिसकी टेक देकर गोरख-पंथी साधु पृथ्वी पर बैठते हैं)। हे जोगी, तुम ऐसे योग की सिद्धि करो और गुरुमुख होकर जप, तप और संयम का उपभोग करो। बुद्धि को भस्म करके उसकी विभूति बना लो और 'सुरति' के स्वर में अपनी शृङ्गी का स्वर मिलाओ। तन-नगर में ही बैरागी बने किंगुरी बजाते घूमो।'[१६] एक दूसरे पद में वह निरंजन की व्याख्या कहते हुए कहते हैं :

---

१६ मुंद्रा मोनि दइआ करि झोली पत्र का करहु बीचारु रे।
खिंथा इहु तनु सीअउ अपना नामु करउ आधारु रे॥

ऐसा जोगु कमावहु जोगी।
जपतप संजमु गुरमुखि भोगी॥

'चंद्र और सूर्य ये दोनों ज्योति के स्वरूप हैं। इस ज्योति के भीतर ही उसने अपना विस्तार किया है। निरंजन और अलख रूपी हीरे को देख कर हे संत तू प्रणाम कर। यह हीरा ही राम (ईश्वर, शिव) है।'[१७] परंतु कुछ पद फिर भी ऐसे हैं जिनसे नाथ-पंथ की ओर उनका थोड़ा बहुत रुझान दिखलाई ही पड़ता है। पता नहीं, वे कबीर के ही पद हैं या प्रक्षिप्त अंश हैं, परंतु उनसे कबीर की योग-सम्बन्धी विचार-धारा से कुछ भिन्न विचारधारा ही इसमें प्राप्त होती है। कबीर कहते हैं—'जब गुरु ने (वासनाओं की) अग्नि बुझा दी तो बन्धन में पड़ते-पड़ते ही मुक्ति मिल गई। जब मैंने मन को नखशिख से पहचान लिया तब मैंने अंतरङ्ग होकर स्नान किया। और जब उन्मन मुद्रा में रहकर विशुद्ध हुआ, तब मैंने पवन (प्राणायाम) पर अधिकार प्राप्त किया और मृत्यु, जन्म और वृद्धावस्था से रहित हो गया। जब मैंने शक्ति के सहारे अपनी प्रवृत्तियों को उलट लिया (अंतर्मुखी कर लिया) तब गगन (ब्रह्मरंध्र) में प्रवेश पा सका। जब मैंने कुंडलिनी द्वारा षटचक्र भेद लिये, तब मैंने उस एकाकी स्वामी (ब्रह्म) से भेंट प्राप्त कर ली—इत्यादि'[१८]। योगियों के प्रसिद्ध 'कायागढ़' रूपक का भी कबीर ने

---

तीथि बिभूपि चढ़ावउ अपनी सिंगी सुरति मिलाई।
करि बैरागु फिरउ तनि नगरी मन की किंगुरी बाजाई॥
(वही, ७)

१७ चंदु सूरज दुइ जोति सरूपु। जोति अंतरि ब्रह्म अनूपु॥
करु रे गिआनी ब्रह्म बीचारु। जोति अंतरि धरिआ पसारु॥
हीरा दखि हीरे करउ आदेसु। कहै कबीर निरंजन अलेखु॥
(वही, १

१८ बंधचि बंधनु पाइआ। मुकतै गुरि अनलु बुझाइआ॥
जब नखसिख इहु मन चीन्हा। तब अंतरि मंजनु कीन्हा॥

प्रयोग किया है, परन्तु इससे साधना-पक्ष पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। [१९]

---

पवनपति उनमनि रहनु खरा। नहीं मिटउ न जनमु जरा ॥
उलटीले सकति सहारं। पैठीले गगन मझारं ॥
बेधीअले चक्र भुअंगा। भेटीअलै राइ निसंगा ॥
चूकीअले मोह भइआसा। ससि कीनो सूर गिरासा ॥
जब कुमंकु भरिपुरि लीणा। तह बजे अनहद वीणा ॥
बकतै बकि सबदु सुनाइआ। सुनतै सुनि मंनि बसाइआ ॥
करि करता उतरसि पारं। कहै कबीरा सारं ॥
(रागु रामकली, १०)

१६ किउ लीजै गढु बंका भाई।
दोवर कोट अरू तेवर खाई ॥
पाँच पचीस मोह मद मतसर आडी परबल माइआ।
जन गरीब को जोरू न पहुचै कहा करउ रघुराइआ ॥
कामु किवारी दुखुसुखु दरवानी पापु पुनु दरवाजा।
क्रोध प्रधानु महा बड़ दुन्दर तप मनु मावासी राजा ॥
स्वाद सनाह सोमु ममता को कुबुधि कमान चढ़ाई।
तिसना तीर रहे घट भीतरि इउ गँढु लीओ न जाई ॥
प्रेम पलीता सुरति हवाई गोला गिआनु चलाइआ।
ब्रह्म अगनि सहजे परजाली एकहि चोट सिझाइआ ॥
सतु संतोषु लै लरने लागा तोरे दुइ दरवाजा।
साध संगति अस गुरु की क्रिपा ते पकरिओ गढ़ को राजा ॥
भगवत भीरि सकति सिमरन की काट भै फासी।
दासु कबीरु चढ़िओ गढ़ ऊपरि राजु लीओ अबनासी ॥
(रागु भैरउ, १७)

ऊपर जो लिखा गया है उससे यह स्पष्ट है कि कबीर योगियों ( नाथपंथियों ) की साधना से पूर्णतय: परिचित थे। संभव है उनका संबंध जोग-भ्रष्ट जाति से रहा हो और उनके परिवार में योगियों के संस्कार चले आ रहे हों। आधुनिक विद्वानों का कुछ ऐसा ही मत है। यदि उनका जन्म स्थान मगहर था तो योगियों से उनका परिचित होना असंभव नहीं है। काशी भी नाथ-पंथी जोगियों का एक बहुत बड़ा केन्द्र रहा होगा। फलतः कबीर के लिए योग-साधना से पूर्णतय: परिचित होना नहीं असंभव था। परन्तु कबीर के योग-संबंधी पदों की परीक्षा ज़रा सतर्कता से करनी होगी। कबीर के कुछ पद ऐसे हैं जो 'अवधू' ( अवधू - योगी ) की खिल्ली उड़ाते हैं और उसके वाह्यांडम्बरों के लिए उन्हें लांछित करते हैं। कुछ अन्य पद ऐसे हैं जो योग पर भक्ति की महत्ता की प्रतिष्ठा करते हैं। परन्तु ऐसे भी अनेक पद हैं जिनमें कबीर पूर्णतय: या अंशतः नाथ-पंथी योगी जान पड़ते हैं या कम से कम राजयोग की महत्ता स्वीकार करते हैं। वस्तुत: कबीर से मध्ययुग की उस सामान्य भक्तिधारा का आरम्भ होता है जो योग में विश्वास नहीं करती और भक्ति की तीव्र अनुभूति में शान्ति और मुक्ति का निवास खोजती है। परवर्ती भक्तिकाव्य में ' भ्रमरगीत 'के माध्यम से योग को जो चुनौती दी गई है उसके अंकुर हमें निश्चय ही कबीर में काव्य में मिलने चाहिये।

एक अन्य साधना भी कबीर के काव्य में परिलक्षित है। वह सूफ़ी साधना है। कबीर सूफ़ी प्रसिद्ध हैं। लोककथा शेख तक़ी आदि प्रसिद्ध सूफ़ियों से उनका सम्बन्ध जोड़ती है। एक पद में उन्होंने जौनपुर के किन्हीं पीताम्बर पीर का उल्लेख किया है।[२०] यह पीर स्पष्टतः कोई सूफ़ी

२० हज हमारी गोमती तीर। जहा बसहि पीतंबर पीर।
वाहु वाहु किआ खूबु गावता है। हरि का नामु मेरै मनि भावता है॥

है। जौनपुर उस समय सूफ़ियों का प्रसिद्ध केन्द्र था। जौनपुर का शिया-राज्य मध्ययुग में सूफ़ियों का सबसे प्रधान आश्रय रहा है। कबीर मुसलमान थे परन्तु वह कट्टर मुसल्मान नहीं थे। उन्होंने 'दीन के बउरे'[२१] मनुष्यों की हँसी उड़ाई है। काज़ी, मुल्ला, क़ुरान, रोज़ा-नमाज आदि में उनकी अनास्था है। वह कहते हैं—मुल्ला मीनार पर चढ़ कर क्या बाँग देता है। ख़ुदा तो दिल ही के भीतर है। वह क्या बहरा है![२२] उन्होंने हज-

---

नारद सारद करहि खवासी। पासि बैठी बीबी कवलादासी॥
कंठे माला जिह्वा रामु।
सहंस नामु लै लै करउ सलामु॥
कहत कबीर राम गुन गावउ।
हिंदू तुरक दोऊ समझावउ॥

(रागु आसा, १३)

२१ रोजा धरै मनावै अलहु सुआदति जीअ संघारै।
आपा देखि अवर नहीं देखै काहे कउ झख मारै॥
काजी साहिबु एकु तोही महि तेरा सोचि बिचारि न देखै।
खबरि न करहि दीन के बउरे ताते जनमु अलेखै॥
साचु कतेब बखानै अलहु नारि पुरखु नहीं कोई।
परे गुने नाई कछु बउरे बउ दिल महि खबरि न होई॥
अलहु गैबु सगल घर भीतरि हिरदै लेहु बिचारी।
हिन्दू तुरक दुहूँ महि एकै कहै कबीर पुकारी॥

(रागु आसा, २६)

२२ कबीर मुला मुनारे किआ चढ़हि साई न बहरा होइ।
जा कारन तू बांग देहि दिल ही भीतर जोइ॥

(सलोकु, १८४)

काबे, सबूरी, कुरबानी आदि इस्लामी तथ्यों की आलोचना की है।[२३] वह हलाल को भी नहीं मानते।[२४] उनका अल्लाह हृदय में रहता है।[२५] वही विश्व में ओतप्रोत है और विश्व उसमें ओतप्रोत है।[२६] वह अलख, निरंजन और प्रेम-रूप है।[२७] सूफ़ियों की तरह कबीर खुदी

---

२३ सेख सबूरी बाहरा किआ हज करवै जाइ।
कबीर जा की दिल साबति नहीं ताकउ कहाँ खदाइ॥
कबीर हज करबे हउ जाइ था आगे मिलिआ खुदाइ।
सांई मुझ सिउ लरि परिआ तुझै किन्हि फुरमाई गाई॥
कबीर हज करबै होइ हीइ गइआ केती बार कबीर।
सांई मुझ महि किआ खता मुखहु न बोलै पीर॥

(वही, १८५ १९७, १९२)

२४ कबीर जीव जु मारहि जोरु करि कहते इहि बु हलालु।
दफतरु दई जब काढ़िहै होइगा कउनु हवालु॥

(वही, १९५)

२५ कबीर अलह की करि बन्दगी जिह सिमरत दुखु जाइ।
दिल महि सांई परगटै बुझै बलती नाइ॥

(वही, १८६)

२६ खालिकु खलक खलक महि खालक पूरि रहिओ सब ठाई।

(रागुविभास प्रभाती, २)

२७ अलह अलखु न जाई लखिआ गुरि गुड़ दीना मीठा।
कहि कबीर मेरी संका नासी सरब निरंजन डीठा॥

(वही)

(अहंता) को अध्यात्म-भाव में सब से बड़ा बाधक मानते हैं [२८]। उन्होंने सूफ़ियों की ही परिभाषा में मुल्ला, क़ाज़ी और सुल्तान की नई व्याख्या की की है, और इस्लामी मतवाद के सर्वशक्तिमान एकमात्र ख़ुदा (तौहीद) के स्थान पर सर्वव्यापिन् अल्लाह की घोषणा की है। वह कहते हैं—'मुल्ला वह है जो मन से लड़ता है और गुरु का आदेश पाकर काल से भी भिड़ जाता है। कालपुरुष का मानमर्दन करने वाले उस मुल्ला को सदा सलाम! वह (अल्लाह) क्या कुछ दूर है? द्वन्द्वों को समाप्त कर लो और उसी क्षण तुम उस सुन्दर को पा लोगे। काज़ी वह है जो तत्त्व-विचार करता है और काया (योग) की अग्नि जलाता है, जो सपने में भी ब्रह्मचारी बना रहता है। उस काज़ी को न जरा है, न मृत्यु। सुलतान वह है जिसके पास दो तीर हैं। एक तीर से वह निंद्य भावनाओं को बाहर निकाल देता है और दूसरे से सुन्दर भावनाओं को भीतर ले आता है। वह ब्रह्मरंध्र को जीतता है। उसी का सिर पर छत्र रखना सार्थक है।' [२९] वह मन को मक्का

---

२८ जब लगु मेरी करै।
तब लगु काजु एकु नहीं सरै॥
जब मेरी मेरी मिटि जाई।
तब प्रभ काजु सँवारहि आइ॥

(राग भैरउ, १४)

२९ सो मुल्लाँ जो मन सिउ लरै।
गुर उपदेसि काल सिउ जुरै॥
काल पुरख का मरदै मानु।
तिसु मुला कउ सदा सलामु॥
है हजूरि कत दूरि बतावहु।
दुन्दर बाधेहु सुन्दर पावहु॥

और देह को ही किबला बताते हैं। इंद्रिय-सुख को ही सूफ़ी खाद्य (सबूरी) बनाता है। वह तो अल्लाह का दीवाना है[३०]। भारतीय मुसलमान सूफ़ियों की भाँति कबीर—'अनलहक़' और 'आवागमन' में पूर्णतः विश्वास करते हैं।[३१] सच तो यह है कि उनका सारा साहित्य सूफ़ी विचार-धारा और सूफ़ी पारिभाषिक शब्दों में भरा हुआ है और कितनी ही उक्तियाँ जलालुद्दीन रूमी और हाफ़िज़ की कविताओं की अनुवाद-मात्र हैं। शेख इब्राहीम फरीद ( लगभग १५४० ई० ) की रचनाओं से कबीर की रचनाओं को मिलाने से कबीर के सूफ़ी-तत्त्व के विषय में हम पूर्णतयः निश्चित हो जाते हैं। पंजाब, राजस्थान और पश्चिमी पूर्वी हिंदी प्रदेश मुसलमान सूफ़ियों के सबसे बड़े केन्द्र थे। कबीर के समय ( १३९८—१५१८ ) से लेकर ग़दर ( १८५७ ) तक हमें उत्तरी भारत में सैकड़ों सूफ़ी साधकों का उल्लेख मिलता है। कबीर के दृष्टिकोण से उनका दृष्टिकोण भिन्न नहीं है। वस्तुतः मध्ययुग की सूफ़ी भावना और अद्वैतवादी प्रेम-भक्ति की साधना में कोई भी अंतर नहीं रह गया था। यह स्पष्ट है कि

---

काजी सो जु काइया बीचारै।
काइआ की अगनि ब्रह्म परजारै ॥
सुपनै बिन्दु न देई झरना।
तिसु काजी कउ जरा न मरना ॥

( रागुभैरउ, ११ )

३० मनु करि मका किबला करि देही। बोलन हारु परम गुरु एही ॥
कहु रे मुला बाँग निवाज। एक मसीति दसै दरवाज ॥
मिसिमिलि तामसु परमु कदूरी। भाखि ले पंचै होई सबूरी ॥

( रागु भैरउ, ४ )

मध्ययुग में हिंदू मुसलमानों के बीच में एक सामान्य साधना का विकास हो चला था। कबीर के काव्य में इस सामान्य साधना का पहला स्फुलिंग मिलता है।

कबीर की साधना के कई भिन्न स्तर और पक्ष हैं जो उनके व्यक्तित्व में इतने एकाकार हो गये हैं कि उन्हें अलग करना कठिन ही नहीं, असंभव है। परंतु साधारण रूप से उनकी साधना विनय,[३२] क्षमा,[३३] अहिंसा,[३४] आत्मसमर्पण,[३५] भक्ति[३६] सारग्रहण[३७] को ले कर चलती है। कबीर विषय रस को निंद्य जानते हैं।[३८] वह काम-क्रोध, मनतरंग और इंद्रियासक्ति को साधना में बाधक मानते हैं। मनुष्य बैल की तरह इन्हें 'गून' में रखकर साधना की घाटी से बढ़ रहा है, परन्तु जब तक वह इस बोझ को फेंक कर हलका नहीं हो जाता तब तक लक्ष्य तक पहुँचना उसके लिए असंभव है।[३९] मन को मारे

---

३१—३७ देखिये 'सलोकु'

३८ काम क्रोध त्रिसना के लीने गति नहीं एकै जानी।

(रागु केदारा, ४)

३९ पापु पुंनु दुइ बैल बिसाहे पावन पूजी परगा सिओ।
त्रिसना गूणि भरी घट भीतरि इन बिधि टाँड बिसाहिओ ॥
ऐसा नाइकु रामु हमारा।
सगल संसारु किओ बनजारा ॥
कामु क्रोध दुइ भये जगाती मन-तरङ्ग बटवारा।
पंच ततु मिलि दानु निबेरहिं टाँडा उतरिओ पारा ॥
कहत कबीरु सुनहु रे संतहु अब ऐसी बनि आई।
घाटी चढ़त बैलु इकु थाका चलो गोनि छिटकाई ॥

(राग गउड़ी, ४६)

बिना किसी भी प्रकार की आध्यात्मिक साधना सध नहीं सकती।[४०] आध्यात्मिक साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह मन की अस्थिरता और चंचलता का त्याग कर दे[४१] वह तो शूर होता है।[४२] वह स्तुति-निंदा, मान-अपमान से परे रहता है।[४३] सच तो यह है कि निंदा उसे प्यारी होती है। इससे गर्व का परिहार होता है और साधक को अपने आध्यात्मिक जीवन में शक्ति और दृढ़ता की प्राप्ति होती है। वह निन्दक का निरादर नहीं करता। निन्दक तो उसका प्यारा है।[४४] अभिमान (अहंभाव) साधक का सबसे बड़ा शत्रु

---

४० कबीर मनु मूंडिआ नहीं केस मुंडाए काइ।
जो किछु कीआ सु मन कीआ मूंडा मूंडु अजाइ॥
(सलोकु, १०१)

४१ कबीर डगमग किआ करहि (वही, ३)

४२ कबीर जउ तुहि साध पिरंम की सीसु काटि करि गोइ।
खेलत खेलत हाल करि जो किछु होइ त होइ॥
(सलोकु, २३६)

४३ उस्तुति निंदा दोऊ बिबरजित तजहु मान अभिमाना।
लोहा कंचनु सम करि जानहि ते मूरति भगवाना॥
(रागु केदारा, १)

४४ निंदउ निंदउ मो कउ लोगु निंदउ।
निंदा जन कउ खरी पिआरी॥
निंदा बापु निंदा महतारी॥
निंदा होइ त बैकुंठे जाइऔ।
नामु पदारथु मनहि बसाइऔ॥

है[४५] गुरु-भक्ति और सत्संग उसके दो बड़े साधन हैं।[४६] इनमें उसके आध्यात्मिक जीवन में चिर जाग्रति बनी रहती है। परन्तु वह व्यर्थ के वाद-विवाद में नहीं पड़ता। राम-नाम ही उसका महामंत्र है। इसके बिना और कुछ है वह वितंडावाद ही है। इसी से कबीर का कहना है कि संत मिले तो कुछ कह सुन लीजिये, परन्तु असन्त के आगे अपने हृदय के अनमोल रत्न रखना वृथा है। सन्तों से बोलना-चालना तो उपकार की बात है, मूर्ख से वाद-विवाद करना झख मारना है। उनसे वाद-विवाद करने में विकारों के बढ़ने की आशंका है।[४७] कबीर सन्त की परिभाषा देते हुए कहते हैं—'स्तुति-निंदा दोनों उसके लिए वर्जित हैं। वह अहंभाव को त्याग देता है। वह लोहा

---

रिदै सुध जउ निंदा होइ।
हमरे कपरे निंदकु धोइ॥
निंदा करै सु हमरा मीतु।
निंदक माहि हमारा चीतु॥

(राग गउड़ी, ७१)

४५ हरि है खाँडु रेत महि बिखरी, हाथी चुनी न जाइ।
कहि कबीर गुरि भली बुझाई, कीटी होइ कै खाइ॥

( स० २३८ )

४६ देखिये 'सलोकु'

४७ संतु मिलै किछु सुनीऐ कहीऐ।
मिलै असंतु मुसटि करि रहीऐ॥
बाबा बोलना किआ कहीऐ।
जैसे राम नाम रवि रहीऐ॥

( राग गौंड, १ )

कंचन एक भाव से देखता है। ऐसा सन्त स्वयं भगवान की मूर्ति है। ऐसे हरिजन अनेक नहीं मिलेंगे। वह काम, क्रोध, लोभ और मोह से दूर रहता है। वह गुणों को भेद को भक्ति के परमपद में रमता है। उसे तीर्थ-व्रत संयम-नियम से क्या काम? वह तो सदा निष्काम है। उसकी तृष्णा मिट गई, माया जाती रही, वह तो अपनी आत्मा के सच्चे स्वरूप में स्थित हो गया। उसके हृदय-मन्दिर में ज्ञान-भक्ति रूपी दीपक का प्रकाश हो गया है। फिर अन्धकार कैसा![४८]

संक्षेप में कबीर के आध्यात्मिक जीवन की यह रूपरेखा है। उनकी इस साधना में न जाने कितने आध्यात्मिक तत्व मिल गये हैं और न जाने युग की कितनी साधनाएं मिलकर एकाकार हो गई हैं। यह किस तरह हुआ है इसकी विवेचना हम बाद में करेंगे परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मध्ययुग की सामान्य साधना का सबसे सुन्दर और स्वस्थ रूप हमें कबीर में ही मिलता है। कबीर ने जहाँ व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र में ऊंचे से ऊंचे स्तर पर पहुँचने की चेष्टा की वहाँ उन्होंने अपने युग की समस्याओं को लेकर बड़े-बड़े प्रश्नों को उठाया और उनका सम्यक् समाधान उपस्थित किया। इसमें सन्देह नहीं कि यह समाधान उस युग को देखते हुए नितांत क्रांतिकारी था।

---

देखिये, राग केदारा १

७

# कबीर के काव्य की सामाजिक पृष्ठभूमि

कबीर केवल आध्यात्मिक साधक नहीं थे—उनकी साधना सारे जीवन, सब आस-पास को समेट कर चलती थी। उन्होंने वर्णगत, जातिगत, समाजगत जो भेद-प्रभेद देखे उसके विरुद्ध उन्हें कुछ कहे बिना नहीं रहा गया। उनकी अंतर्दृष्टि जितनी खुली थी, वाह्य चक्षु उतने ही खुले थे। उन्होंने समाज की सारी विषमताओं को ललकारा। रूढ़ियों, परम्पराओं, कर्मकांडों और वाह्याचारों को उन्होंने कड़ी चुनौती दी। उनकी व्यंग और ललकार की वाणी में, उनके समाज-सुधार के तेज में उनकी भीतर की एकान्त साधना जैसे धीमी पड़ गई, परन्तु बाहर वे जो लड़े, उसे भीतर के भाव का ही तो सहारा था। सारे मध्ययुग में कबीर जैसा चेतन, कबीर जैसा बुतशकन, कबीर जैसा तेजवान् व्यक्तित्व और कहीं भी नहीं था। उन्होंने सार-मात्र को ग्रहण किया, उन्हें चाहे वह कहीं मिला हो, रूढ़ियों और परम्पराओं की उन्होंने ज़रा भी चिंता नहीं की। सव्यसाची की तरह वह इकेले चारों ओर के प्रहारों को झेलते रहे परन्तु उनकी दीप्ति कम नहीं हुई। वे सचमुच अपने युग के महारथी थे।

कबीर का युग सामाजिक भेदभाव, रूढ़िवाद और वैषम्य का युग था। जहाँ एक ओर द्विज थे जिनमें वर्णाश्रम की दृष्टि से ब्राह्मण सबसे उच्च थे, वहाँ दूसरी ओर छोटी जातियों के लोग थे जिन पर सब हँसते थे। कबीर इन्हीं छोटी जातियों के प्रतिनिधि थे।[1] जहाँ ज्ञान

---

१ कबीर मेरी जाति कउ सभु को हसनेहारु। (स० २)

में ब्राह्मण सबसे बड़ा था, वहाँ जुलाहा जाति के इस नये पैग़म्बर को कौन पूछता ?[२] यह ब्राह्मण वर्ग संध्या-स्नान-गायित्री को ही सब कुछ समझता था।[३] उसने वेद-स्मृति को शृंखलाओं से सारे समाज को जकड़ रखा था।[४] सूतक-पातक के विचार से सारा जीवन इतना कुंठित हो गया था कि स्वतंत्र-चेता व्यक्ति के लिए कुछ भी करना असंभव था। यह सब फाँसने की विधियाँ थी। छूटने की विधि कोई नहीं बताता था।[५] उन्होंने श्राद्ध और बलि को ही उच्चतम धर्म समझ

---

२ तू ब्राह्मन मैं कासी क जुलहा बुझहु मोर गिआना।
(आ० २६)
तू ब्रह्मनु मैं कासीक जुलहा मुहि तोहि बराबरी कैसे कै बनहि।
(राम० ५)

३ संधिआ प्रात इस्नानु कराहीं।
जिउ भए दादुर पानी माही॥ (राग गउड़ी, ५)

४ वेद की पुत्री सिम्रति भाई।
सांकल जेवरी लैहै आई॥
(राग गउड़ी, ३०)

५ जलि है सूतकु थल है सूतकु सूतक ओपति होई।
जिनमें सूयक मूए फुनि सूतकु सूतक परज बिगोई॥
कहु रे पंडिआ कउन पवीता।
ऐसा गिआनु जपहु मेरे मीता॥
नैनहु सूतकु बैनहु सूतकु सूतकु स्रवनी होई।
ऊठत बैठत सूतकु लागै सूतकु परै रसोई॥
फाँसन की विधि सभु कोउ जानै छूटन की इकु होई।
कहि कबीर रामु रिदै बिचारै। सूतकु तिन्है न होई॥
(राग गउड़ी, ४१)

रखा था।[6] वह जनता को स्वर्गलोक के सुखों का भुलावा देते थे और नरक-भय दिखलाते थे।[7] मूर्ति-पूजा के नाम पर वह स्वयं छप्पन भोग भोगते थे।[8] उन्होंने लोकव्यवहार और तीर्थव्रत में धर्म की पराकाष्ठा समझ रखी थी। वे कदाचित् यह भूल गये थे कि राम इतना भोला-भाला नहीं है कि इस सरलता से बहकाने में आ जाय।[9] उन्होंने प्रसिद्ध कर रखा था कि काशी में मृत्यु प्राप्त होने से मनुष्य सहज में ही मुक्त हो जाता है। इस प्रकार के न जाने कितने ढकोसले हिंदू-समाज के धार्मिक बल को क्षीण कर रहे थे। सारा समाज अनेक देवी-देवताओं को पूजता था। अनेक पौराणिक कथायें जनता में लोकप्रिय हो रही थीं। यह स्पष्ट है कि कबीर हिंदू तत्व-चिन्ता से पूर्णतः परिचित नहीं थे। उन्होंने सामान्य जीवन के हीन तत्वों पर ही अधिक ध्यान दिया। उच्च तत्व-चिन्ता सब के लिए सुलभ भी नहीं थी। जिस प्रकार का रुढ़िवाद सामान्य जनता में चल रहा था, वह मानव-भाव को छोटा करता था।

जिस तरह विशाल हिंदू समाज पंडितों और ब्राह्मणों से शासित हो रहा था जो वेद-पुराण का आश्रय लेकर अपनी सत्ता की धाक जमाये हुए थे, उसी तरह मुसलमान समाज-काज़ी, मुल्ला और क़ुरान ( कतेब ) द्वारा अनुशासित था। मुसलमान अल्लाह को मस्जिद तक ही सीमित

---

६ राग गउड़ी, ४५

७ ,, ,, ,, ६२

८ भातु पहिति अरु लापसी करकरा कासारु।
भोगनहारे भोगिआ इसु मूरति के मुख छारु॥
( रागु आसा, १४ )

६ अन्तरि मैलु जे तीरथ नावै तिसु वैकुंठ न जाना।
लोक पतीणे कछू न हौवै नाहीं रामु अयाना॥
( वही, ३७ )

समझते थे। कहा जाता था कि अल्लाह पच्छिम में रहता है। रोज़ा-नमाज सिजदा, हज,[१०] हिंसा ( क़ुरबानी ) ये ही धर्म के तत्व मान लिए गये थे। यहाँ भी वही सब आडंबर थे जो हिन्दू धर्म में थे। मुल्ला और शेख ने मोहम्मद का स्थान का ले लिया था। सच तो यह है कि जिस तरह हिन्दू धर्म को भूल गये थे उस तरह मुसलमान दीन को भूल गये थे।[११] कबीर ने इस्लामी धर्म के इस वाह्याचार की निन्दा की और उन्होंने लोगो से बाहर से दृष्टि हटा कर अंतर्मुख होने को कहा। उनका यह दृष्टिकोण सूफ़ियों द्वारा बहुत पहले से मुसलमानों में प्रचारित था परन्तु कबीर ने अपनी तेजपूर्ण वाणी द्वारा इस सत्व की पुनरर्थापना की।[१२]

परंतु मुसलमानों का एक वर्ग ऐसा था जो कबीर के सब से निकट था। यह सूफ़ी वर्ग था। कबीर के काव्य में इस वर्ग का स्पष्ट उल्लेख

---

१० रागु विभास प्रभाती, २—३—४

११ दीन बिसारियो रे दिवानी दीनु बिसारिश्रो रे

( रागु मारू, १० )

१२ रोजा धरै मनावै अलहु सुआदति जीअ संघारै।
आपा देखि अवर नहीं देखै काहे कउ झख मारै॥
काजी साहिबु एकु तोही महि तेरा सोचि विचार न देखै।
ख़बरि न करहि दीन के बउरे ताते जनमु अलेखै॥
साचु कतेब बखानै अलहु नारि पुरखु नहीं कोई।
पढ़े गुने नाई कछु बउरे जऊ दिल महि खबरि न होई॥
अलहु गैबु सगल घट भीतरि हिरदै लेहु बिचारी।
हिंदू तुरक दुहूँ महि एकै कहै कबीर पुकारी॥

( राग आसा, २६ )

नहीं है परन्तु उनकी सारी साधना अलक्षित रूप से इसी वर्ग के प्रभाव को इंगित करती है। जौनपुर इस समय सूफ़ियों का एक बड़ा केन्द्र था और कदाचित् वहीं के किसी सूफ़ी के सम्बन्ध में लिखते हुए कबीर कितने आत्मविभोर हो जाते हैं।[१३] यह स्पष्ट है कि स्वयं कबीर इसी 'पीतंबर पीर' की तरह गा-बजा कर हिंदू-तुरुक में साम्यभाव और प्रेम का प्रचार करते थे। कबीर का सारा साहित्य सूफ़ी साधना का सार उपस्थित करता है।

और भी अनेक शक्तियाँ उस समय समाज-क्षेत्र में काम कर रही थीं। कबीर ने जोगी, जंगम, नादी, वेदी, सबदी, मोनी, जती, तपी, संनिआसी, लुंजित, मुंजित, जटार, वैष्णव, शाक्त (साकत) इत्यादि अनेक धर्म-साधकों का उल्लेख किया। इनमें से प्रत्येक कहता था कि उसने सिद्धि प्राप्त कर ली है।[१४] शाक्तों से कबीर को विशेष रूप से चिढ़ है। वह उन्हें धिक्कारते हुए थकते नहीं। कदाचित् शाक्तों का हिंसा-भाव और बामाचार उन्हें पसंद नहीं था। वह उनकी वैष्णव और सूफ़ी प्रेमभावना के सर्वथा विपरीत थे।[१५] परन्तु अन्य साधकों का अहंभाव

---

१३ हज हमारी गोमती तीर। जहाँ बसहि पीतम्बर पीर॥
वाहु वाहु किआ खुब गावता है। हरि का नाक मेरै मन भावता है॥
नारद सारद करहि खवासी। पासि बैठि बीबी कवलादासी।
कहत कबीर राम गुन गावउ। हिंदू तुरक दोउ समझावउ॥
(वही, १३)

१४ जोगी कहहि जोगु भल मीठा अवरु न दूजा भाई।
खंडित-मुंडित एकै सबदी एह कहहि सिधि पाई॥
(रागु गउड़ी, ५१)

१५ कहा सुआन कउ सिम्रित सुनाए। कहा साकत पहि हरिगुन गाए।
राम राम राम रमे रमि रहीऐ। साकत सिउ भूलि नहीं कहीऐ॥

भी उन्हें खलता था। पंडितों को पुराण का गर्व था। जोगी ध्यान-धारणा को ही सब कुछ समझते थे। संन्यासी ब्रह्म बन बैठे थे। तपसी तप के घमंड में चूर थे भक्ति-भाव से किसी को भी काम नहीं था। विनय-भक्ति और दया-क्षमा के महत्व को कोई भी नहीं जानता था।[१६]

कबीर ने इस आचारहीन वाह्याडंबरपूर्ण वातावरण को नैतिकता, सत्य और साधना की प्राण-वायु द्वारा स्वच्छ करना चाहा। उन्होंने सभी धर्मों के सारतत्वों को ग्रहण किया और मनुष्य-मात्र की मूल समता की ओर इंगित किया। उन्होंने अपनी रहस्यात्मक अनुभूति में सब धर्मों को एक बिंदु पर केन्द्रित होते हुए देखा। उनके रहस्यवाद में पूर्व-पश्चिम, हिंदू-मुसलमान, गृहस्थी और संन्यासी, ब्राह्मण और शूद्र, सैयद और जुलाहे सब मानवता, प्रेम और सद्भाव के समान धरातल पर उतर आये।

परन्तु रहस्यवाद तो कबीर के आभ्यंतरिक व्यक्तित्व का विस्फोट मात्र है, उनके व्यक्तित्व का प्रकाशन एक नई सामाजिकता में भी हुआ है जो उनके युग को देखते हुए काफ़ी क्रान्तकारी है। कबीर का युग

---

ककआ कहा कपूर चराए। कह बिसीअर कउ दूधु पीआए॥
सति संगति मिलि बिबेक बुधि होई। पारसु परसि लोहा कंचनु सोई॥
साकतु सुआन समु करे कराइआ।
जो धुरि लिखिआ सो करम कमाइआ॥
अंम्रित लै लै नीमु सिंचाई।
कहत कबीर उआ को सहजु न जाई॥
(रागु आसा, २०)

१६ पंडित माते पढ़ि पुरान। आदि। (रागु बसंत, २)

सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में उच्छृंखलता का युग था। एक ओर थे हिंदू, एक ओर मुसलमान। दोनों के धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न थे। इसीलिए दोनों आपस में झगड़ते थे। उन्होंने दोनों दलों के निर्बल पक्षों को ललकारा और अंतर की सहज एकता का राग गाया। उन्होंने कहा—

अलहु एक मसीति वसतु है अवरु मुलखु किसु मेरा।
हिन्दू मूरति नाम निवासी दुइ महि ततु न हेरा॥
अलह राम जीवउ तेरे नाईं।
तू करि मिहरामति साईं॥
दखन देस हरि का वासा पछिमि अलह मुकामा।
दिल महि खोजि दिलै दिलि खोजहु एही ठउर मुकामा॥
ब्रह्मन गिआस करहि चउबीसा काजी मह रमजाना।
गिआरह मास पास कै राखै, एकै माहिं निधाना॥
कहा उडीसे मजनु कीआ, किआ मसीति सिरु नाऐ।
दिल महि कपटु निवाज गुजारै किआ हज काबै जाऐ॥

इस प्रकार उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के विरोध के तत्वों का परिहार कर उनकी समानता की ओर इंगित किया। उन्होंने जहाँ मुसलमानों की हिंसा की निंदा की, वहाँ हिन्दुओं की छुआछूत की भी भर्त्सना की। उन्होंने कहा :

बेद कितेब कहहु मत झूठे झूठा जो न बिचारै।
जउ सभ महि एक खुदाइ कहत हउ तउ किउ मुरगी मारै॥
पकरि जीउ आनिआ देह बिनासी माटी कहु बिसमिल कीआ।
जोति सरूप अनाहत लागी कहु हलाल किउ कीआ॥

जहाँ एक ओर क़ाज़ी सारे संसार के जीवों में अल्लाह के नूर का प्रसार

मानता है, वहाँ वह हिंसा करते हुए भी संकोच नहीं करता। यह इस्लाम धर्म और पैग़ाम्बर के उपदेशों की कैसी विडम्बना है! उधर हिन्दू ब्राह्मण है जो ब्रह्मवाद को मानता हुआ भी स्पर्श्य-अस्पर्श्य को मानता है। कबीर का उससे कहना है—

माटी एक अनेक भाँति करि साजी साजनहारै।
ना कछु पोच माटी के भाँडे ना कुछ पोच कुँभारै॥

इस शरीर से, जन्म से, व्यवसाय से—किसी भी भाँति से भी क्या मनुष्य-मनुष्य में भेद हो सकता है? इस शरीर का क्या गर्व? मिट्टी-मिट्टी में भेद कैसा! मध्ययुग में यह बात कितनी क्रान्तकारी थी आज के साम्यवाद और विश्व-बन्धुत्व के युग में हम नहीं समझ सकते। कबीर की विशेषता यह है कि उन्होंने धार्मिक और सामाजिक वैमनस्य के उस युग में अत्यन्त आत्मविश्वास के साथ मनुष्य-मनुष्य की समानता की बात उठाई। उन्होंने मनुष्यता की सामान्य भूमि की ओर संकेत किया। उन्होंने वही कहा जो बाद में चन्डीदास ने कहा—

सुनह मानुष भाई।
सबार ऊपर मानूष सत्य ताहार ऊपर नाई॥

उन्होंने कहा—न कोई शूद्र है, न कोई अशूद्र (ब्राह्मण) है। मलेच्छ कौन है! हिन्दू-मुसलमान में क्या भेद है? भेद तो हैं, परन्तु ये भेद ईश्वरकृत नहीं, मनुष्यकृत हैं। अनेक तुच्छ-तुच्छ बातों में मनुष्य व्यापक मनुष्य-धर्म को भूल गया है। वह वाह्याचारों और कुतर्कनाओं के जंजाल में अपनी राह भूल गया है। कबीर निष्ठावान पुरुष थे। वे कुरीतियों और अव्यवस्थाओं से समझौता करनेवाले व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने ललकारा—

जो पाथर कउ कहते देव।
ता की बिरथा होवै सेव॥
जो पाथर की पाईं पाइ।
तिस की घाल अजांई जाइ॥
ठाकुर हमरा सदा बोलता।
सरब जीआ कउ प्रभु दानु देता॥

मध्ययुग के जातिभेद के युग में उनकी यह आवाज़ कितनी क्रान्तिकारी है:

हिन्दू तुरक का साहिबु एक।
कह करै मुलां कह करै सेख॥

युग के सत्य को किस कवि के इतनी तीव्र वाणी दी है :

बुत पूजि पूजि हिन्दू मुए तुरक मुए सिरु नाई।
ओइ ले जाइ ओइ ले गाड़े तेरो गति दुहू न पाई॥

मन रे संसार अंध गहेरा।
चहुदिस पसरिओ है जम जेवरा॥

उन्होंने स्पष्ट कहा :

अंतरि मैलु जे तीरथ नावै तिसु बैकुंठ न जाना।
लोक पतीणे कछू न होवै नाहीं रामु अयाना॥

पूजहु रामु एकु ही देवा।
साचा नावणु गुर की सेवा॥

जल कै मंजनि जे गति होई नित-नित मेंडुक नावहि।
जैसे मेंडुक तैसे ओइ नर फिर-फिर जोनी आवहि॥

कबीर जैसा जिज्ञासु मूलतत्व को लेकर ही चल सकता है। मनुष्य का सबसे बड़ा अभिशाप यह है कि वह मूलतत्व को भुला देता है और

निरर्थक वाह्याचारों में खो जाता है। हृदय की शुद्धि के बिना तीर्थ-व्रत जप-तप से क्या होता है ? जिस मिट्टी की ऐसी महिमा है, जिसमें पीर-पैग़म्बर ऋषि-मुनि सब समा गये, उस मिट्टी में छूत कैसी ! ऐसे वाह्याडंबरों को धिक्कारते हुए कवि का तेज थकता नहीं। वे जीवन को अत्यन्त व्यापक भावना से देखते हैं और मनुष्य की संकीर्णता, मनुष्य की दुर्बलता, मनुष्य की वाह्याचारिता उनसे किंचित भी सहन नहीं होती। जब सब जूठा है, तो फिर जूठा-जूठा चिल्ला कर तिरस्कार करने से क्या ?—

माता जूठी पिता भी जूठा जूठे ही फल लागे।
आवहि जूठे जाहि भी जूठे जूठे मरहि अभागे॥
कहु पंडित सूचा कवनु ठाउ।
जहाँ बसि हउ भोजन खाउ॥
जिह्वा जूठी बोलता जूठा करन नेत्र सभ जूठे।
इन्द्री की जूठि उतरसि नाहीं ब्रह्म अगिनि के लूठे॥
अगनि भी जूठी पानी जूठा जूठी दीनी कारा।
कहि कबीर तेही नर सूचै साची परी विचारा॥

कैसी क्रान्तिकारी वाणी है ! कबीर मुल्ला-पंडित-सूफ़ी-योगी-हिन्दू-मुसलमान सभी के वाह्याचारों, आडम्बरों और युग-पुरातन रीति-रिवाजों का खंडन कर सारी मानवता को प्रेम और सहानुभूति की भूमि पर उतारते हैं। इसी उत्साह में वे संयम को भूल कर तीक्ष्ण व्यंग भी कर बैठते हैं, जैसे—

हृदै कपटु मुख गिआनी।
झूठे कहा बिलोवसि पानी॥
कांइया मांजसि कउन गुनां।
जउ घट भीतरि है मलनां॥

लउकी अठसठि तीरथ न्हाई।
कउरापनु तऊ न जाई॥

या

रोजा धरै मनावै अलहु सुआदति जीअ संघारै।
आपा देखि अवर नहीं देखै काहे कउ भाव मारै॥
काजी साखिबु एकु तोही महि तेरा सोचि बिचारि न देखै।
खबरि न करहि दीन के बउरे ताते जनमु अलेखै॥

या

गज साढ़े तै तै धोतिआ तिहरे पाइनि सग।
गली जिन्हा जपमालीआ लोटे हथि निबग॥
ओइ हरि के संत न आखीअहिं बानारसि के ठग।

ऐसे संत न मो कउ भावहिं।
डाला सिउ पेड़ा गटकावहिं॥

बासन मांजि चरावहि ऊपरि काठी धोइ जलावहिं।
वसुधा खोदि करहि दुइ चूल्हे सारे माणस खावहिं॥
ओइ पापी सदा फिरहि अपराधी मुखहु अपरस कहावहिं।
सदा-सदा फिरहिं अभिमानी सगल कुटुम्ब डुबावहिं॥

परन्तु लक्ष्य यहाँ भी व्यंग नहीं है, मनुष्य-मनुष्य की नितांत समानता और शुद्धाचरण की ओर इशारा है।

इस मनुष्यता की सामान्य भूमि पर ही कबीर ने संतमत को खड़ा किया है जो वास्तव में सामान्य धर्म है। जब मनुष्य-मनुष्य में अंतर नहीं है तो जिनको वे पूजेंगे उन देवताओं में अन्तर क्यों होगा? भेद होगा भी तो नाम-मात्र का। वही अल्लाह है, वही राम है, वही ब्रह्मा

है, वही आदम है। कबीर सामान्य उपास्य की ओर बढ़ते हुए कहते हैं:

अलहु एकु मसीति बसतु है अवरु मुलखु किस केरा।
हिंदू मूरति नाम निवासी दुइ महि ततु न हेरा॥
अलह राम जीवउ तेरे नाईं।
तू करि मिहरामति साईं॥
दखन देस हरी का बासा पछिमि अलह मुकामा।
दिल महि खोजि दिलै दिलि खोजहु एही ठउर मुकामा॥
(रागु बिभास प्रभाती, २)

यह सामान्य धर्म-भाव कबीर ने आँखें खोल कर अपने निजी अनुभवों में प्राप्त किया। समाज में चारों ओर अराजकता फैली हुई थी। प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक संप्रदाय, प्रत्येक धर्म अपनी छोटी-छोटी ढकोसलों की पिटारी लेकर बैठ गया था। मूल मानव-भाव की उसने हत्या कर डाली थी। ऐसे समय में किसी ऐसे मनुष्य की आवश्यकता थी जो मूल तथ्यों की ओर इशारा करता और विशृंखल भारतीय समाज को समन्वय, भ्रातृत्व और प्रेम के सूत्रों में बाँधता। कबीर ने एक नये समाज की कल्पना की जो बाह्य से अधिक आभ्यंतर को देखेगा, जो मनुष्य की सामान्य भाव-भूमि पर स्थापित होगा। वहाँ हिन्दू नहीं होगा, मुसलमान नहीं होगा, ब्राह्मण-शूद्र, क़ाज़ी-मुल्ले, ऊंचे-नीचे, ग़रीब-अमीर, पापी-पुण्य-वान सब का बाध होगा। मनुष्यता की सामान्य भावभूमि पर खड़ी सारी मानवता समान होगी। एक ही धर्म-भाव, एक ही उपास्य, एक ही व्यावहारिकता। इस एक धर्म-भाव को चाहे हिन्दू मत, चाहे मुसलमान मत, चाहे कुछ और कहो, चाहे कुछ भी न कहो। इस एक उपास्य को कबीर रहीम-करीम, अल्लाह-राम, ईसा-मूसा—सब कुछ कह देते हैं। तत्व एक ही है, तो नामों की विविधता से क्या होता

है ? तत्व-चिंतक को तो तत्व को पकड़ना होगा। व्यावहारिकता की भूमि पर भी सब समान हों—बाह्याचारों, बाह्याडम्बरों, निरर्थक रीति-रिवाजों, कर्मकांडों और अनेक भेदोपभेदों ने मानवता को खंड-खंड कर दिया है। यह खंड मानवता फिर अखंडित विश्व-मानवता बन जाये, ऐसा प्रयत्न मध्ययुग में कबीर और उनकी अनुयायी संतों द्वारा हुआ। मानवता के इतिहासकार इस महान् प्रयत्न को भुला नहीं देंगे, ऐसा विश्वास है। आज भी कबीर और अन्य संतों का सपना कब सत्य हुआ है? आज भी मानवता भीतर-बाहर विभाजित है। और जब तक खंड मानवता अखंड विश्वजनीयता की सिद्धि प्राप्त नहीं कर लेती, तब तक कबीर का साहित्य, उनका सपना, उनका क्रांति का संदेश तेजवान बना रहेगा। तब तक मानवता—चाहे वह पूर्व की हो चाहे पश्चिम की—उससे अनुप्राणित होती रहेगी। कबीर ने कहा है—

अनगढ़िया देव, कौन करै तेरी सेवा।
गढ़े देव को सब कोइ पूजैं, नित ही लावैं मेवा॥

यह अनगढ़ देवता—यह सामान्य मानव-भाव आज भी अनगढ़ा है। कबीर की विशेषता, उनकी क्रांति यही है कि उन्होंने रामकृष्ण, रहीम-करीम, ईसा-मूसा जैसे गढ़े देवताओं को छोड़कर इन अनगढ़े सत्य-देवता की झाँकी हमें दी और अप्रगतिशील शक्तियों को इस अनगढ़े भावी जीवन के सपने की ओर उन्मुख किया।

आज चाहे यह बात समझ में नहीं आये, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मध्ययुग के संत और सूफ़ी सच्चे अर्थों में क्रांतिकारी थे। उन्होंने समाज के भेद-भाव के विरुद्ध बहुत कुछ कहा। मूल मानव-भाव तक पहुँच कर वे चुप बैठे रह सकें, ऐसा संभव ही नहीं था। जब उन्होंने बाह्याचारों, रूढ़ियों और वाद-विवादों की व्यर्थता समझ

ली तब वे चुप नहीं रहे। उन्होंने मनुष्य-मात्र की समानता की घोषणा की और मनुष्य की आत्मा के युग-पुराचीन बंधन तोड़ डाले। यह सरल काम नहीं था। उन्हें समाज के सभी वर्गों के घोर विरोध का सामना करना पड़ा। क़ाज़ी-मुल्ला, पंडित-ब्राह्मण, गृहस्थी-बैरागी सभी उनके विरोधी बन बैठे। परन्तु जिसने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है, उसे इसकी क्या परवाह? उन्होंने कहा—'सब बैकुण्ठ जाने की बात कहते हैं परन्तु मैं तो जानता ही नहीं, बैकुण्ठ कहाँ है। जो अपने अस्तित्व का तत्व (रहस्य) ही नहीं जानते वे ही बैकुण्ठ के सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी बातें कहते हैं। ... सच्चा बैकुण्ठ तो साधु-संगति में है।'[1] उन्होंने पंडित-मुल्ला को छोड़ दिया। पंडित-मुल्ला के शास्त्रों में जो लिखा था वह उन्होंने त्याज्य माना। ये दोनों ही झगड़े के मूल थे।[2] उन्होंने मुंडकों, सन्यासियों, नागों, 'बिन्दु-साधक'

---

१ सभु कोई चलन कहत है उहां।
ना जानउ बैकुंठ है कहां॥
आप आपका मरमु न जाना।
बातन ही बैकुंठ बखाना॥
जब लगु मन बैकुंठ की आस।
तब लगु नाहीं - चरन निवास॥
खाई कोटु न परल पगारा।
ना जानउ बैकुंठ दुआरा॥
कहि कबीर अरु कहीऐ काहि।
साध संगति बैकुंठ आहि॥

(रागु भैरउ, १६)

२ हमरा झगरा रहा न कोऊ।
पंडित मुल्ला छांड़े दोऊ॥

हठयोगियों की कड़ी से कड़ी आलोचना की।[३] स्नान-ध्यान, तीर्थ-यात्रा, व्रत-पूजा सबको छोड़कर केवल रामाश्रित तन्मयता-प्रधान भक्ति की ओर उन्होंने संकेत किया।[४] अतिवाद और धार्मिक असहिष्णुता के उस युग में कबीर ने सुकरात की भाँति बड़े-बड़े प्रश्न उठाये और एकबार तो समाज में हलचल ही मचा दी। उन्होंने अपने युग के सैकड़ों आदमियों को गहरा सोचने के लिये मजबूर किया। परवर्ती युग में उत्तर भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक अनेक-अनेक साधकों ने यह सत्य की खोज जारी रखी। नानक ( १४६६—१५३४ ), दादू ( १५४४—१६०३ ), लालदास ( मृ० १६४८ ), बाबालाल ( आ० १६४९ ), वीरभानु ( आ० १६०३ ), धरनीदास ( ज० १६७६ ), मलूकदास ( १६३१-१७३६ ), चरणदास ( १७०३-१७८२ ), गरीबदास

---

पंडित मुल्ला जो लिखि दीआ।
छाड़ि चले हम कछू न लीआ॥
( रागु भैरउ, ७ )

३ नगन फिरत जौ पाइऔ जोगु।
बन का मिरग मुकति सभु होगु॥
किआ नागे किआ बाधे चाम।
जब नहीं चीनसि आतम राम॥
मूंड मुंडाए जो सिधि पाई।
मुकती भेड़ न गईआ काई॥
बिन्दु राखै जो तरीऔ भाई।
खुसरै किउ न परम गति पाई॥
( रागु गउड़ी, ४ )

४ देखिये 'रागु गउड़ी' का पाँचवाँ पद

( १७१७—१७८२ ), पलटूदास ( आ० १७६३ ), प्राणनाथ ( आ० १५५३ ), रामचरण ( ज० १७८ ) और तुलसीदास ( हाथरस वाले निर्गुणी संत, ज० १७८८ ) कबीर के क्रान्तिवाद को १६ वीं शताब्दी के आरम्भ तक ले जाते हैं। कदाचित् संसार के किसी साधक ने जनमन पर इतना प्रभाव नहीं डाला। इन परवर्ती साधकों ने जहाँ अध्यात्मभाव में ऊँचे से ऊँचे तत्वों का आविष्कार किया, वहाँ उन्होंने जनजीवन को भी परिष्कृत किया और समान भाव से मानवमात्र की धर्मोपरिता और महिमा के गीत गाये। आडम्बरों और जाति-कुल-वर्णगत भेदभावों के लिये ये साधक बराबर चुनौती बने रहे। उन्होंने कभी भी रूढ़ियों और परम्पराओं से समझौता नहीं किया। २५० वर्षों तक जनता के अल्प-संस्कारी हीनवर्ण का नेतृत्व कबीर और इन परवर्ती साधु-संतों की तेजमय वाणी ने ही किया। और अब भी कदाचित् उनकी परम्परा समाप्त नहीं हुई है। दयानन्द और गाँधी की सशक्त वाणी में कबीर के साहित्य और उनके चिंतन के अनेक अंग पूर्णतय: गुंफित हैं, इसे कौन अस्वीकार करेगा। वस्तुतः मध्ययुग की औपनैषिदिक चिंता को कबीर ने नया रूप दिया। आचार्यों और विद्वानों ने अनेक प्रकार से उपनिषदों की व्याख्या की और उनके तत्ववाद के सम्बन्ध में अनेक तर्क-वितर्क उपस्थित किये। परन्तु उपनिसद तो जीवनदर्शन है। वह केवल मात्र तत्व-चिंता नहीं है। उसे वही समझता है जो उपनिषद का जीवन जीता है। भक्त, स्थितप्रिज्ञ, जीवन्मृत, जीवनमुक्त, परमहंस, संत— जो कहो, परन्तु तत्व एक ही है। यह तत्व शास्त्रचिंतन में नहीं। इसे प्रतिदिन प्रतिपल के लौकिक जीवन में, लोक-व्यवहार में, इंद्रिय-निग्रह में, सार्वभौमिक प्रेमभाव में ही प्राप्त किया जा सकता है। कबीर ने मध्ययुग की औपनैषदिक चिंता को प्रयोग और अनुभूति का बल दिया और इसी से उनकी वाणी में वह तेज, वह सत्य, वह मर्म अनायास ही आ गया जो उपनिषदों को आज भी सर्वमान्य और सर्वकालीन बनाता है।

परन्तु कबीर की साधना पन्थों में सुरक्षित नहीं है। साम्प्रदायिक वाणियों में उसका तेज कुंठित हो जाता है। वह मध्ययुग के उन संतों में अंशत: मिलेगी जिनका नामोल्लेख इसे अभी-अभी किया है। स्वयं कबीर-पंथ में कबीर अधिक नहीं हैं। कदाचित् कमाल, दादू (१५४४-१६०३), रज्जब (आ० १६५३), बुल्ला साहब (१७००—१७३० के लगभग), गुलाल (१७०० के लगभग), यारी साहब (१६६८—१७२३), बखाना और बुल्लेशाह जैसे सूफ़ी कबीर के अधिक निकट हैं और कदाचित् कबीर के पुत्र कमाल द्वारा अनन्वंतः सम्बन्धित भी हैं। हिन्दू संत और सूफ़ी कबीर की परम्परा के दो अंग हैं जो मूलत: भिन्न नहीं हैं। कबीर के व्यक्तित्व और उनकी साधना के समन्वयात्मक और सनातन रूप को नये ढंग से समझने की आवश्यकता है। तभी हम कबीर की सामाजिक क्रान्ति के संदेश की महत्ता पूर्ण रूप से समझ सकेंगे।

———

८

# कबीर का 'साहित्य'

कबीर का काव्य मन्त्र है, संदेश है, साहित्य है, साधना है। उसे शुद्ध साहित्य हम नहीं कह सकते। परन्तु वह साहित्य नहीं है या साहित्य से कुछ छोटा है, यह कहना स्वयं साहित्य का अपमान करना होगा। आखिर साहित्य क्या है? साहित्य मनुष्य के अन्यतम भावों, विचारों और स्फूर्तियों का सबसे सुन्दर और भावव्यंजक शब्दों में प्रकाशन मात्र ही है। फिर कबीर के काव्य को उच्चश्रेणी का साहित्य कहने में बाधा ही क्या है? भाषा-शैली, मूर्तिमत्ता, छंद और संगीत पर जैसा अधिकार कबीर का है, वैसा कितने कवियों का होगा? साधारणतः कबीर के काव्य को काव्य-गुणहीन बता कर छोटा करने की परिपाटी पड़ गई है, परन्तु सत्य-मात्र की इन्द्र-धनुषी वर्णच्छटा से आभूषित कबीर की वाणी श्रेष्ठतम काव्य के रूप में लाखों-लाखों मनुष्यों को को पिछले पाँच सौ वर्षों से प्रभावित करती रही है। जीवन की नश्वरता, माया की जटिलता, व्यंग और कटाक्ष, रहस्यवादी मिलन और वियोग, मनुष्य-मात्र की समानता—ये कबीर की वाणी के कुछ प्रिय विषय हैं। इन विषयों पर कबीर ने जो कहा है वह आज भी हमें प्रभावित करने ~~करने~~ की क्षमता रखता है। जीवन की नश्वरता का यह चित्र कितना साहित्यिक है :

चारि दिन अपनी नउबति चले बजाइ।
इतनकु खटीआ गठीआ मटीआ संगि न कछु लै जाइ॥

देहरी बैठी मिहरी रोवै दुआरै लउ संग माइ ॥
मरघट लगि सभु लोग कुटुम्ब मिलि हंस इकेला जाइ ॥
वै सुत वे वित वे पुर पाटन बहुरि न देखै आइ ॥
कहत कबीर राम किनि सिमरहु जनमु अकारथ जाइ ॥

अनुभवी ही इस प्रत्येक प्रकार से सरल पद की साहित्यकता को पकड़ सकता है, परन्तु इसकी साहित्यिकता में संदेह ज़रा भी नहीं है। या फिर माया का यह सुन्दर चित्र देखिये—

इकतु पतरि भरि उरकट कुरकट इकतु पतरि भरि पानी ।
आसि पासि पंच जोगिया बैठे बीचि नकटदे रानी ॥
नकटी की ठनगनु बाड़ा डूँ ।
किनहिं बिबेकी काटी तूँ ॥
सगल माहि नकटी का बासा, सगल माहि अउहेरी ।
सगलिआ की हउ बहिन भानजी, जिनहि बरी तिसु चेरी ॥
हमरो भरता बड़ो बिबेकी आपै संतु कहावै ।
ओइ हमारे माथे काइमु अउर हमारे निकट न आवै ।
नाकहु काटी कानहु काटी काटि कूट कै डारी ।
कहु कबीर संतन की बैरिनि तीनि लोकु की पिआरी ॥

इसे कौन असाहित्यिक कहेगा ? सच तो यह है कि कबीर की साहित्यिकता इस प्रकार की है जो कोरी साहित्य-श्रेणी में बँध नहीं पाती। परन्तु उपनिषद्, गीता, भागवत और सुलेमान के पदों की साहित्यिकता भी कुछ इसी प्रकार की है। यहाँ साहित्य की वर्णच्छटा नहीं है परन्तु साहित्य की आत्मा का प्रकाश है। कबीर के साहित्य में प्रतिदिन के परिचित रूपकों में, साधारण सायं-प्रात में, जीवन के क्षुद्रतम अनुभव में, वाणी की अत्यन्त स्वाभाविक भंगिमा में जीवन के गहनतम तथ्य, आत्मा की

भावुकता-पूर्ण पुकार और ज्ञान की ऊँची से ऊँची उड़ान का समावेश हो गया है। यदि यह साहित्य नहीं है तो इसके अतिरिक्त जो वाणी-विलास और कल्पना-चित्रों का इन्द्रजाल है वह भी साहित्य नहीं है।

कबीर चाहे हिंदू माता-पिता द्वारा पोषित रहे हों या मुसलमान, इसमें सन्देह नहीं कि उनकी धार्मिक विचारधारा हिंदू विचारधारा से ओतप्रोत है। वेद, पुराण और स्मृतिग्रंथ उन्हें अमान्य सही, परन्तु कदाचित् अपने चारों ओर के वातावरण से वे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। सैकड़ों वर्षों से हिंदू चिंतन सृष्टि, ईश्वर, ईश्वर-जीव का सम्बन्ध, भक्ति के साधन जैसे गम्भीर विषयों पर विचार करता रहा है, परन्तु कबीर ने इन समस्याओं को अपने ही ढंग पर सुलझाया है। उनके उत्तर एकदम मौलिक नहीं हैं, परन्तु उनमें साहस है और सूझ है। उन्होंने रूढ़ियों का खंडन किया है, व्यर्थ के वितंडावाद से मुँह फेर लिया है और कदाचित् मुख्य प्रश्नों को ही महत्व दिया है।

कबीर की विचारधारा को पूर्ण रूप से स्थापित करना कठिन है। अभी यही निश्चित नहीं हो सका है कि कबीर ने क्या लिखा है, कितना लिखा है, जो उनके नाम पर चल रहा है उसमें कितना उनका है। जो है भी उसमें बहुत कुछ अस्पष्टता है। अनेक पद ऐसे मिलते हैं जिनमें विचारों का विरोध है। फिर अनेक बातों की पुनरुक्ति भी हुई है, एक ही बात कई बार नया बल देकर स्थापित की गई है। इस विषय में सन्देह नहीं। कबीर दार्शनिक थे। वे जिज्ञासु थे। धर्मगुरु थे। प्रतिदिन जैसी समस्यायें आतीं, वैसी उनकी सूझ होती। सम्भवतः उनसे शृंखलित दार्शनिक विचारधारा की आशा व्यर्थ है। जान पड़ता है वह अपने चारों ओर के धर्मों के कटु आलोचक अधिक बड़े थे, कमज़ोरियों पर उनकी दृष्टि खूब जाती थी, परन्तु कदाचित् नये मत के प्रवर्तक के रूप में वे उतने बड़े नहीं थे। उनमें सब कुछ विध्वंसात्मक

ही नहीं है। परन्तु विधानात्मक से विध्वंसात्मक कहीं अधिक है। कदाचित् उन्होंने नई धर्मस्थापना की चेष्टा ही नहीं की। उनकी साधना व्यक्तिगत थी। उनकी खोज व्यक्तिगत थी। इस खोज में उन्होंने प्रत्येक धर्म की आत्मा से परिचय किया। परन्तु उन्होंने देखा कि प्रत्येक धर्म के अनुयायी मूल को भूले हुये हैं। इसलिये उन्होंने वाह्याडंबरों और मिथ्या वादों का विरोध किया। जान पड़ता है, बाद को जब उनके मतवाद को पंथ का रूप दे दिया गया, तब उनके भक्तों ने उनकी छाप देकर बहुत बड़ा साहित्य ही तैयार कर दिया। परन्तु इससे निश्चित ही कबीर के मौलिक मतवाद की हानि हुई है। कबीर जैसे हैं वैसे बहुत बड़े हैं। उनके शिष्य-प्रशिष्य उन्हें छोटा कर देते हैं।

जब हम कबीर के काव्य पर विचार करते हैं और उसके साहित्य-पक्ष की विवेचना करते हैं, तब हम एक ऐसे क्षेत्र में प्रवेश करते हैं जिसकी कबीर की बराबर उपेक्षा की परन्तु जो फिर भी अज्ञात रूप से उपस्थित है। कबीर-वाणी के अनेक अंग ऐसे हैं जो काव्य-समीक्षा के मापदण्ड पर छोटे नहीं उतरते। अनेक स्थलों पर कबीर की कवित्व-शक्ति यथासम्भव अपने उत्कृष्ट रूप में प्रगट हुई है। साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग कवि की अनुभूति की सच्चाई से सम्बन्ध रखता है। कबीर के काव्य में यह सच्चाई सर्वोच्च मात्रा में उपस्थित है। उन्होंने जो देखा, जैसा अनुभव किया, जो विचारा, वही जनजीवन से ग्रहण की हुई उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं और दृष्टांतों के माध्यम से काव्य का रूप ग्रहण करता है। उनके पदों की प्रत्येक पंक्ति में उनकी अनुभूति जड़ित है। कदाचित् तथ्य को काव्य का हृदयग्राही रूप देने की इतनी क्षमता और किसी हिंदी कवि में नहीं है। ऐसे भी अनेक स्थल हैं जहाँ कबीर अपनी रहस्यवादी साधना के इतने ऊँचे स्तर पर उठ जाते हैं जहाँ वाणी मूक रह जाती है और उस अतीन्द्रिय अनुभव को प्रकाशित करने की क्षमता उसमें नहीं रहती। परन्तु कबीर ऐसे स्थलों पर साधारण

कवियों से कहीं अधिक समर्थ सिद्ध होते हैं। उन्होंने अपने युग की भाषा का सबसे अधिक क्षमता से प्रयोग किया है। प्रतीकों के प्रयोग द्वारा उन्होंने अपनी बात को सबसे सुन्दर और समर्थ ढंग से कहा है। वैराग्य की बात हो या संसार की नश्वरता की या राम से मिलन-वियोग की या पिंड में ब्रह्माण्ड की रहस्यमयी अनुभूति की, कबीर उस बात को कुछ इस ढंग से रखते हैं कि हम उसकी ओर सम्पूर्णतः आकर्षित हो जाते हैं। कबीर साहित्य, काव्यकला और भाषा की सूक्ष्म सैद्धान्तिक विशेषताओं से परिचित नहीं थे, वे तत्ववेत्ता थे, उनके लिये उनका संदेश ही प्रमुख था। परन्तु अपने युग के जन-काव्य की सारी शक्ति उनके साहित्य में थी, इसमें संदेह नहीं। उनके साहित्य में उनकी कवित्व-शक्ति का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ है। प्रस्तुत अध्याय में हम उनके काव्य के विभिन्न तत्वों की समीक्षा करेंगे।

## भाव-चित्रण

कबीर के अनेक पदों में भक्तिभावना का अत्यंत सुन्दर प्रकाशन मिलता है। इन पदों से उनकी भावानुभूति की विविधता और विस्तार तथा भावचित्रण की कुशलता का पर्याप्त परिचय मिलता है। अनेक पदों में दैन्य भाव का प्रकाशन हुआ है। कवि सांसारिक जीवन की व्यर्थता और असारता की बात कहता हुआ थकता नहीं। इस शरीर का कितना ही पोषण करो, परन्तु अंत में यह चिता पर चढ़ जाता है। फिर भी मन विषय-विरत नहीं होता। सारा जीवन अकारथ ही चला जाता है। इससे कवि का मन ग्लानि से भर जाता है। परंतु अंत में उसे हरि की 'ठकुराई' का भरोसा है। वह हरिभक्ति को एक मात्र साधन मानता है। माया और काल के अनिष्टकारी प्रभाव से बचने का एक यही मार्ग है। वह कहता है—' भक्ति के बिना जीवन व्यर्थ गया। जैसे बंदर के हाथ में मुट्ठी भर चने आ जाने पर वह उनको छोड़ नहीं पाता, उसी प्रकार वह भी मोह-

माया में फँस गया। लालच के कारण तरह-तरह के काम किये और प्रत्येक बार नये-नये बंधनों में बँधता गया। साधु-संगति और भगवत्-भजन के बिना कहीं भी सुख नहीं होता, इस बात को नहीं समझा। उद्यान में तरह तरह के पुष्प खिले, परंतु उनको किसी ने सूँघा नहीं। इसी तरह जीव नाना योनियों में घूम कर मृत्यु को प्राप्त होता रहा, परंतु भक्तिभाव के फूलों की गंध उसने नहीं ली। यह धन, यौवन, पुत्र और स्त्री केवल देखने मात्र के नाते हैं। मनुष्य को उन्हें इसी रूप में स्वीकार करना है, परंतु वह इंद्रियों की प्रेरणा के वशीभूत हो इन्हीं में उलझ कर रह जाता है। काल अग्नि है। इस देह-रूपी मंदिर को चाहे जितना सजाओ, यह तिनके का महल पल भर में भस्म हो जायेगा।' हरि की भक्ति-वत्सलता ही मनुष्य का बल है। इसी से कबीर बारबार मन को धिक्कारते हैं और उससे रामनाम के स्मरण की प्रार्थना करते हैं। वह बार-बार अपना अपराध स्वीकार करते हैं। वह तो राम के दरबार के 'कूकर' हैं। राम के आगे प्रख्याति ही उनका एक मात्र साधन है। जैदेव, नामदेव, सुदामा और ध्रुव-प्रह्लाद का नाम ले-लेकर वह भगवान की भक्तवत्सलता को जाग्रत करना चाहते हैं।

## कल्पना-सृष्टि और अलंकार-विधान

कबीर ने रूप का आश्रय नहीं लिया है। अतः कृष्ण-भक्त कवियों एवं राम-भक्तों की भाँति उनके काव्य में रूप-चित्रण के प्रसंग नहीं आते। गुण और स्वभाव-चित्रण के प्रसंग भी उनमें नहीं है। उनके काव्य में भावचित्रण ही की प्रधानता है और फलस्वरूप इसी क्षेत्र में हमें कवि की कल्पनासृष्टि और अलङ्कारविधान की योजना मिलती है। अनेक स्थलों पर कबीर की सौन्दर्यप्रियता, उनके प्रकृति-निरीक्षण की सूक्ष्मता और उनके ज्ञान के विस्तार का भी परिचय मिलता है।

जीवन की नश्वरता का वर्णन करते हुए कबीर बड़ी सुन्दर उपमाओं का प्रयोग करते हैं—'मनुष्य को धन-यौवन का गर्व नहीं करना चाहिये जो काग़ज़ की तरह गल जाते हैं।' [1] 'पक कर फल जैसे भूमि पर गिर पड़ते हैं, फिर नहीं लग पाते, उसी तरह यह मनुष्य-जीवन दुर्लभ है।' [2] मनुष्य जीवन को कल्पना के द्वारा वे जर्जर बेड़े से संबन्धित करते हैं' [3] या पेड़ की छाया के उसकी उपमा देते हैं। [4] कभी-कभी वह जगजीवन की उपमा या माया के ताप के लिए अग्नि की उपमा सामने लाते हैं और रामनाम द्वारा उस अग्नि के शान्त होने की कल्पना करते हैं। [5] वह मोह-माया की लिप्सा की उपमा उस बंदर से देते हैं जिसने अनाज से अपनी मुट्ठी भरली है और बर्तन का मुँह छोटा होने के कारण न उसे

---

१ धन जोबन का गरबु न कीजै कागद जिउ गलि जाहिगा ॥
(रागु मारू, ११)

२ कबीर मानस जनमु दुर्लभु है होइ न बारै बार।
जिउ बन फल पाके भुइ गिरहि बहुरि न लागहि डार ॥
(सलोकु, ३०)

३ कबीर बेड़ा जरजरा फूटे छेंक हज़ार (सलोकु, ३५)

४ जस देखीअैं तरवर की छाइआ।
प्रान गए कहु का की माइआ ॥
(राग गउड़ी, ६)

५ माइआ तपति बुझिआ अंगिआरू।
मनि संतोखु नामु आधारू ॥
(वही, ४०)

निकाल पाता है न लालच-वश उसे खोलता ही है।[६] सांसारिक सुखों की असारता की उपमा वह कपास के फूल और तोता ( नलनी के सूअटा ) अथवा कसुंभी रङ्ग से देते हैं।[७]

उदाहरण अलंकार का प्रयोग भी कबीर में प्रचुर मात्रा में मिलता है। विनयशीलता की महिमा का वर्णन करते हुए कवि अध्यात्मतत्त्व (हरि) को रेत में बिखरी हुई खाँड बताता है, गर्वीला हाथी उसे पा नहीं सकता, क्षुद्र चींटी उसे पा जाती है।[८] साधक की उज्ज्वल आत्मा हिरण है जिसके पीछे विषय-वासना के कुत्ते भौंकते हैं, परंतु कृपाशील गुरु उसे छुड़ा लेते हैं।[९] शाक्त के संग को वे केला-बैर का संग कहते हैं।[१०] इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं। कबीर

---

६ मरकट मुसटी अनाज की मन बउरा रे लीनी हाथु पसारि।
छूटन को सहसा परिआ मन बउरा रे नाचिओ घर घर बारि॥
( वही, ५७ )

७ जिउ नलनी सूअटा गहिओ मन बउरा रे माया इहु बिउहारु।
जैसा रंगु कसुँभ का मन बउरा रे तिउ पसरिओ पसारु॥
( वही )

८ हरि है खांडु रेतु महि बिखरी हाथी चुनी न जाइ।
कहि कबीर गुरि भली बुझाई, कीटी होइ कै खाइ॥
( स० २३९ )

९ कबीर कूकरु भउकना करंग पिछै उठि धाइ।
करमी सतिगुरु पाइआ जिनि हउ लीआ छडाइ॥
( स० २०९ )

१० कबीर मारी मरउ कुसंग की केले निकटि जु बेरि।
उह झूलै उह चीरीऐ साकत संगु न हेरि॥
( स० ८८ )

का काव्य नीति-मूलक काव्य है, और नीतिमूलक काव्य में उदाहरण का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता है। इसलिए कबीर के इस अलंकार के प्रचुर प्रयोग से आश्चर्यचकित होने की कोई बात नहीं है।

सांगरूपक[११] अप्रस्तुत[१२] प्रशंसा, विरोधाभास,[१३] असंगति,[१४] असंभव,[१५] विषम[१६] और विशेष[१७] अलंकारों का प्रयोग भी कबीर के काव्य में मिल जाता है। सांगरूपक तो अनेक हैं। आगे हम उनका विश्लेषण करेंगे। तृष्णा, अविद्या, माया इत्यादि के वर्णनों में अप्रस्तुत-प्रशंसा का प्रयोग हुआ है। शेष अलंकार विस्मय-मूलक हैं और उन्होंने कबीर के रहस्यवाद को काव्य की भित्ति देने में सहायता पहुँचाई है। चकई, भृङ्गी और सुवा के प्रति कही हुई कुछ 'अन्योक्तियाँ' भी दर्शनीय हैं।[१८]

उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग कबीर के काव्य में बहुत कम हुआ है। इसका कारण यह है कि कबीर की कल्पना मानव-जीवन और प्राकृतिक व्यापारों के धरातल पर चलती है, वह आसमानी उड़ान लेना पसन्द नहीं करते। कबीर तो 'लहसन' की गंध जैसी साधारण वस्तु से अपनी काव्य-प्रेरणा प्राप्त करते हैं—'शाक्त तो ऐसा है जैसे लहसन की खान। कोने में

---

११ देखिये संदर्भ २२—७८
१२ " राग गउड़ी, ५२
१३ " राग भैरउ १५
१४ " " सूही ४
१५ " " आसा २८
१६ " " गउड़ी ६५
१७ " " भैरउ १६, २०
१८ " " सूही २

बैठ कर खाओ तब भी छिपाये नहीं छिपे'[१९]। जहाँ काव्यकला का यह सर्वजन-सुलभ रूप है, वहाँ साहित्यिक, कल्पना-विजड़ित, कविता-कामिनी का चमत्कृत रूप कहाँ! परंतु आध्यात्मिक अनुभव की अलौकिकता दिखाने में कबीर की कल्पना फिर भी विशेष रूप से जाग्रत है। 'सहज' का वर्णन करते हुए वह कहते हैं—'वहाँ पावस नहीं, सिंधु नहीं, धूप नहीं, छाँह नहीं, उत्पत्ति-प्रलय नहीं। न जीवन है न मरण, न सुख, न दुख, न शून्य, न समाधि। न वहाँ ऊँचा है, न नीचा, न हलका, न भारी, न रात, न दिन। वहाँ जल, पवन और अग्नि भी नहीं है। ऐसे शून्य में वह 'सतगुरु' निकास करता है।'[२०] कहीं २ भेदकातिशयोक्ति का भी प्रयोग है जैसे—'उन चरण-कमलों की शोभा का अनुमान कैसे किया जाये। वह शोभा कहने में आती नहीं। वह तो देखने की ही-

---

अन्योक्तियों के लिए क० ग्रं० विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

१९ कबीर साकतु ऐसा है जैसी लसन की खानि।
कोने बैठे खाईऐ परगट होइ निदान॥

( स० १७ )

२० तह पावस सिंधु धूप नहीं छहीआ तह उतपति परलव नाहीं।
जीवन मिरतु न दुखु सुखु बिआपै सुन समाधि दोऊ तह नाहीं॥

सहज की अकथ कथा है निरारी।
तुलि नहीं चढ़ै जाइ न मुकाती हलुकी लगै न भारी॥

अरध उरध दोऊ तह नाही राति दिवसु तह नाही।
जलु नहीं पवनु पावकु फुनि नाही सतिगुर तहा स माही॥

( राग गउड़ी, ४८ )

चीज़ है।'[२१] इस प्रकार के आलंकारिक प्रयोग अलंकार-शास्त्री की पकड़ में ज़रा कठिनता से ही आते हैं।

कबीर का सबसे प्रिय अलंकार रूपक है। उनके काव्य में अनेक सुन्दर रूपकों का प्रयोग हुआ है। रूपक के द्वारा आध्यात्मिक तत्व को प्रगट करना सरल काम है। जन-जीवन के परिचित लोक-व्यापार को लेकर कवि उस पर आध्यात्मिक तत्व का आरोप करता है। कबीर के रूपकों को हम अनेक श्रेणियों में रख सकते हैं :

१—प्रतिदिन के जीवन और लोक-व्यापार से ग्रहण किये रूपक जैसे अन्न,[२२] आटे,[२३] आम,[२४] आरती,[२५] कसौटी,[२६] कृषकजीवन,[२७] कुम्हार,[२८] खाँड़,[२९] गागर,[३०] गाँव,[३१] गाय,[३२] गूँगे,[३३]

---

२१ कबीर चरण कमल की मउज को कहि कैसे उनमानु।
कहिबे कउ सोभा नहीं देखा ही परवानु ॥

(स० १२१)

२२ सलोकु ६२
२३ " २१५
२४ " १३४
२५ बिभास ५
२६ सलोकु ३३
२७ राग सूही ५
२८ " आसावरी १६, विभास ३
२९ सलोकु २३८, राग रामकली १२
३० सलोकु ७२
३१ राग मारू ७
३२ " बसन्तु ७
३३ " गउड़ी १८

चक्की,[34] चोर,[35] चौपड़,[36] थैली,[37] मथानी,[38] दीपक,[39] दुर्ग,[40], नट[41], नाव[42], न्यायालय[43], पनिहारी[44], परदेशी[45], बंदी[46], बनजारे[47], बाज़ीगर[48], बीज[49], बूँद[50], मद्यविक्रेता[51] आदि के रूपक

२—प्राकृतिक व्यापारों से ग्रहण किये रूपक जैसे आँधी[52], ओले

---

३४ " बसन्तु ८
३५ " गउड़ी ७३
३६ " सूही, ४
३७ सलोकु २२५
३८ राग आसावरी १०, सोरठि ५, सलोकु १८, १९
३९ " " ६, ११
४० " भैरउ १७
४१ " आसा० ११
४२ सलोकु ३५
४३ राग सूही ३
४४ " गौंड ५०
४५ सलोकु ४०
४६ राग सोरठि ५
४७ " गउड़ी ४६
४८ " सोरठि ४
४९ सलोकु २२६
५० " १६५
५१ रामकली १, २; सिरी २, गउड़ी ३७; केदारा ३
५२ गउड़ी ४३

[५३], पके हुए फल [५४], बाँस [५५], मक्खी [५६], मछली [५७] मोती [५८], रत्न [५९], वर्षा [६०], वृक्ष (तरुवर) [६१], सर्प [६२], सर्पिणी [६३], समुद्र [६४], हरिण [६५], हाथी [६६] और बन [६७] के रूपक

२—कवि-प्रसिद्धियों और पौराणिक कथाओं पर आश्रित रूपक जैसे कागज़ की कोठरी [६८], चंदन [६९], चक्रवाक [७०], पारस [७१] इत्यादि के रूपक

---

५३ सलोकु १७०
५४ " ३०
५५ " १२
५६ " ६८
५७
५८ " ११४
५९ विभास १
६० सलोकु १२८
६१ रामकली २, सलोकु २२८, २३०
६२ सलोकु ७६
६३ रागु आसा १६
६४ सलोकु ५०
६५ " ५३
६६ " ५८
६७ " ६०
६८ " २६, १७२
६९ " ११
७० " १२६
७१ " ७७

४—हठयोग[७२] और योगी-जीवन[७३] के रूपक

५—नागारिक रूपक[७४]

६—जुलाहा-जीवन[७५] के अनेक कार्यव्यापारों से ग्रहीत रूपक।

७—मानव-जीवन के अनेक संबंधों[७६], लोकाचारों[७७] और उत्सव-समारोहों[७८] के ग्रहण किए हुए रूपक। इन रूपकों को ध्यान मे देखें तो यह पता चल जायेगा कि कबीर अपने साहित्य के लिए पूर्ववर्ती साहित्य, कवि-परम्परा और शास्त्र के ऋणी नहीं हैं। उन्होंने खुली आँखों से संसार को देखा और स्वयं अपने जीवन, प्रकृति और व्यापार लोकजीवन से ही अपनी काव्य-सामग्री इकट्ठी की। उनकी साहित्यिक चेतना धरती के धरातल पर चलती है, वह परंपरागत संस्कारों और कल्पना पर अधिक आश्रित नहीं होती। वे जुलाहा-जीवन से पूर्णतयः परिचित थे। योग के क्षेत्र में भी उनकी जानकारी कम नहीं थी। कदाचित् अपने जीवन के प्रारम्भिक भाग में वे किसी जोगी संप्रदाय में दीक्षित भी रहे हैं। फलतः उनका साहित्य उनके अनेक अनुभवों से पुष्ट है।

## शैली

कबीर की रचनाओं के कालक्रम की स्थापना अभी नहीं हो सकी है और न उनका पूर्णरूप से संपादित संग्रह ही हमारे सामने उपस्थित

---

७२ गउड़ी ५३, आसा ७, रामकली ७, सलोकु १५२

७३ सलोकु ४८, रामकली १०, भैरउ १०, १६

७४ आसावरी ३०, गौड़ी ७, ८; गउड़ी ५२, सूही २

७५ आसा ३६

७६ आ० ६१

७७ सलोकु ८५, आसा ६, २४

७८ ” ”

है। फलतः कबीर की शैली और उसके क्रम-विकास पर वैज्ञानिक ढंग से विचार करना असंभव है। कबीर का अधिकांश साहित्य साखी, रमैनी और पदों के रूप में प्राप्त है। साखी का छंद दोहा है। कबीर ने इस छंद का कोई कलात्मक रूप हमारे सामने उपस्थित नहीं किया। साखी की शैली में उपदेश और तथ्य-कथन की प्रधानता है। दृष्टांत और उपमा के आधार पर उपदेश और तथ्य में जितना सौन्दर्य लाया जा सकता था, उतना सौन्दर्य साखियों में मिलेगा। लगभग प्रत्येक साखी में किसी चिरपरिचित अनुभव का चित्र उपस्थित मिलता है। पहले चरण में कबीर दृष्टांत देते हैं और दूसरे में तथ्य द्वारा उसकी व्याख्या होती है। भाषा का तद्भव रूप ही कबीर को ग्राह्य है। बिहारी की तरह समस्त पद या सामासिक शैली का ओर कबीर का आग्रह नहीं है। सरल, प्रासादिक चित्रप्रधान शैली उनकी विशेषता है :

> कबीर मनु निरमलु भइआ जैसा गंगा नीरु।
> पाछै लागो हरि फिरै कहत कबीर कबीरु॥
> कबीर परभाते तारे खिसिहि तिउ इहु खिसै सरीरु।
> ए दुइ अखर न खिसहिं सो गहि रहिओ कबीरु॥

रमैनी में चौपाई-दोहे का प्रयोग हुआ है। 'आदि ग्रन्थ' की संग्रहीत रचनाओं में 'रमैनी' नाम की कोई रचना नहीं है। बीजक की कुछ रमैनियाँ यहाँ चौपाई या चौपाई छंद में रागों (पदों) के अंतर्गत स्थान पाती हैं। 'कबीर ग्रन्थावली' और 'बीजक' में दोहा-चौपाई छंदों में एक निश्चित ढंग से रमैनियों की रचना हुई है। कदाचित् कबीर ने गेय छंदों के रूप में ही अपनी रचनाएं उपस्थित की हैं। चौपाई-चौपई मूलतः गेय छंद ही हैं। संगीत-क्षेत्रमें व्यापक रूप से उनका प्रयोग हुआ है। कदाचित् इन्हीं गेय पदों को कबीर के दोहे के साथ रखकर बाद में 'रमैनी' का प्रचलन हुआ। संभव है, इस प्रकार की

रचनाएं तुलसीदास की रामायण का प्रभाव सूचित करती हों। इन छंदों में साहित्य की मात्रा विशेष नहीं है। वर्ण्य-विषय संसार की नश्वरता, काल की शक्ति, अद्वैतस्थिति, कर्मकाण्ड का विरोध, योगपरक रहस्यवाद आदि हैं। इनमें अधिकांश विषय तर्क-वितर्क-प्रधान और ज्ञानमूलक हैं। अतः इनमें भाषा के सरल, साहित्यिक और अलंकारपूर्ण प्रयोग की संभावना कम है। संगीत की दृष्टि से भी रमैनियाँ अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं। वे केवल वर्णनात्मक और तथ्य-प्रधान हैं। 'ककहरा', 'वार', 'थिति' और इस प्रकार की दूसरी शैलियों में इसी शैली का निम्न रूप प्राप्त होता है।

शैली की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण रचनाएं पद हैं जो संगीत की विभिन्न राग-रागिनियों को दृष्टि में रखकर रचे गये हैं। उनमें गेयता की मात्रा विशेष है। यही कबीर की सबसे अधिक लोकप्रिय सामग्री है। इनमें हमें शैली-भेद भी मिलेगा। साहित्य की दृष्टि से भावचित्रण-संबंधी गेय पद सबसे अधिक उत्कृष्ट हैं। जिन पदों में कबीर ने दाम्पत्य रति का प्रतीक-रूप में प्रयोग किया है, उनमें भाव-गंभीरता, मधुरिमा और आकर्षण अपेक्षाकृत विशेष है। मिलन और वियोग-संबंधी पदों में एक ही सी भावों की सूक्ष्मता, तीव्रता, व्यापकता और सघनता मिलेगी। इसमें संदेह नहीं कि कबीर के व्यंग, विनोद और ज्ञान-तेज के पीछे एक अत्यंत भावप्रवण, भावुक और कोमल व्यक्ति का हृदय-स्पंदन छिपा हुआ है।

अनेक पद तत्व-चिंता, गुरु-महिमा, योगी की अनुभूति और आत्म-कथन से संबंधित हैं। इन पदों में कबीर ज्ञान-गरिमा से मंडित हैं और साधक की अनुभूति-गम्य गहराई से बोलते हैं परन्तु कबीर के व्यक्तित्व का सबसे सुन्दर प्रकाशन उन पदों में हुआ है जिनमें वह सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करते हैं या 'अवधू', 'जोगी', 'ब्राह्मन', 'मौलाना' आदि की हँसी उड़ाते हैं। माया-संबंधी उनके कुछ पद सर्वश्रेष्ठ साहित्य

में स्थान पा जायेंगे। इनमें सांगरूपक अथवा अन्योक्ति का बड़ा सुन्दर प्रयोग मिलता है।

## भाषा-समृद्धि

कबीर भाषा के पंडित नहीं थे। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह भाषा की शक्ति से परिचित नहीं थे और उन्होंने उसका पूर्णतः सफल प्रयोग नहीं किया। हम बता चुके हैं कि कबीर की शक्ति जनता की शक्ति थी। फलतः भाषा के क्षेत्र में भी उन्होंने जन-भाषा का ही प्रयोग किया। उनका शब्द-भंडार काफ़ी बड़ा है और उन्होंने शब्दों के अत्यन्त सार्थक और सफल प्रयोग किये हैं। परन्तु साहित्य उनकी प्रेरणा नहीं था। अतः उन्होंने साहित्यिक-असाहित्यिक और शिष्ट-अशिष्ट का कोई विचार नहीं किया। जो शब्द जहाँ से हाथ लगा, वह उनका इतना अपना हो गया कि हमें उसमें कोई भी विचित्रता नहीं मालूम होती। उन्होंने भाषा के सारे उपकरणों को अपनाया और निःसंकोच भाव से अपने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि की। भाषा के विषय में यह अबाधित स्वतंत्रता कबीर के काव्य की विशेषता है। इससे कहीं-कहीं उनकी भाषा का रूप ग्रामीण और असंस्कृत भी हो जाता है। परन्तु कबीर को अपना संदेश देना था, उन्हें किसी भी प्रकार की सज्जा और कैसे भी संस्कारों की आवश्यकता नहीं दिखलाई पड़ी। इन सब कारणों के कारण उनकी भाषा बड़ी अटपटी, परंतु साथ ही बड़ी आकर्षक हो गई है। हिन्दी के उस आदि काल में भाषा का एक निर्बाध और समर्थ प्रवाह सचमुच कबीर की महान प्रतिभा और उनकी अंतःस्फूर्ति का द्योतक है। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है—"भाषा पर कबीर का ज़बरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है,—बन गया है सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नज़र आती है। उसमें

मानों ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके। और अकह-कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताक़त कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है। असीम अनन्त ब्रह्मानन्द में आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणी के अगोचर,—पकड़ में न आ सकने वाली ही बात है। पर 'बेहद्दी मैदान में रहा कबीरा सोय' में न केवल उस गम्भीर निगूढ़ तत्त्व को मूर्तिमान् कर दिया गया है बल्कि अपनी फक्कड़ाना प्रकृति की मुहर भी मार दी गई है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य-रसिक काव्यानंद का आस्वाद कराने वाला समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। फिर व्यंग करने में और चुटकी लेने में भी कबीर अपना प्रतिद्वन्दी नहीं जानते। पंडित और क़ाज़ी, अवधू और जोगिया, मुल्ला और मौलवी,—सभी उनके व्यंग से तिलमिला जाते हैं। अत्यंत सीधी भाषा में वे ऐसी गहरी चोट करते हैं कि चोट खाने वाला केवल धूल झाड़ के चल देने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं पाता। इस प्रकार यद्यपि कबीर ने कहीं काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है।" (कबीर, पृ० २१६-७) कबीर की वाणी को परवर्ती युग की क्षेपकों और संपादकों के प्रभाव ने और भी अटपटा बना किया है और यह भ्रम हो गया है कि उनकी भाषा ही क्या! इस भ्रम का निराकरण होना चाहिये। कदाचित् केवल मात्र सत्य को कम से कम शब्दों में, निरलंकार वाणी में, अत्यंत आकर्षक और सशक्त शैली में इतने अच्छे ढङ्ग से और किसी हिन्दी कवि ने उपस्थित नहीं किया। वह कवि की वाणी में नहीं लिखते। वह द्रष्टा और तत्त्वदर्शी की भाषा में अनुभूत तथ्य को अपनी आत्मा की सारी दीप्ति और अपने व्यक्तित्व का सारा तेज देकर प्रकाशित करते हैं।

## तत्सम शब्द

तत्सम शब्दों की ओर कबीर का आग्रह अधिक नहीं है। उन्होंने भाषा को 'बहता हुआ नीर' और संस्कृत को 'कूप-जल' कहा है। अतः उनकी भाषा में अपभ्रंश की तद्भव परम्परा ही अधिक मात्रा में ग्रहीत हुई है। क० ग्रं० और बीजक में तत्सम शब्दों की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक है। कबीर सामान्यतः उन्हीं तत्सम शब्दों का प्रयोग करते हैं जो संदर्भ के साथ स्वतन्त्र रूप में आ जाते हैं या हिन्दू-साधना और हिन्दू-जीवन से सम्बन्धित हैं। उनमें तद्भव प्रवृत्ति ही अधिक बलवती है और कदाचित् इसी के कारण उनके कुछ ठेठ पद समझ में नहीं आते। तत्सम शब्दों के प्रयोग से काव्य में व्यापकता आ जाती है, परन्तु कबीर कदाचित् प्रचार के चक्कर में पड़े नहीं। उन्होंने अपने चारों ओर के जन-समाज को अपने संदेश का श्रोता बनाया और उसी की भाषा को अपनाया।

## तद्भव शब्द

तद्भव शब्दों से तो कबीर का सारा साहित्य भरा पड़ा है। यही उनके साहित्य की मूल भित्ति है। भाषा में तद्भव शब्दों की संख्या अधिक होनी ही चाहिये। ऐसे शब्द ही कबीर की शक्ति हैं। उन्होंने सामान्य अवधी को मार्मिक, व्यंजनापूर्ण, गंभीर और सूक्ष्म भावों का ~~समाध्य~~ बना दिया है। भाषा का सहज सौन्दर्य उनके काव्य का अत्यंत आकर्षक अंग है। अनेक ग्राम्य और च्युतसंस्कृति शब्दों का प्रयोग भी कबीर ने किया है, परन्तु उनके दृष्टिकोण को देखते हुए यह क्षम्य है। वे ध्वंस करना चाहते थे, इसलिए कि नवनिर्माण के लिए भूमि तैयार हो। वह रूढ़ियों और परंपराओं से किसी भी प्रकार समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे। इसी लिए उन्होंने भाषा के स्वाभाविक और तेजस्वी

रूप को ही ग्रहण किया। कुछ तद्भव शब्द इस प्रकार हैं—निखुटत, तिखा (तृष्णा), पाज, भाउ (भाव), सूद (शूद्र), उरबारि, अनभउ (अनुभव), पसरिआ, लूकट, द्रिढ़ीआ, ठगउरी, उपाइआ (उत्पत्ति की) हरीआ मारता, खीरु बिलौवै, बनज (वाणिज्य), हिरानी, लूठे, छुकाना, सुत्ति सुत्ति, जेवरी, सिघउरा, दाधी (दग्ध), ठौरु इत्यादि। तद्भव शब्दों के बहुल प्रयोग के कारण ही कबीर अपने उच्च और सूक्ष्म भावों को सफलता पूर्वक अभिव्यंजित कर सके हैं। केवल तत्सम शब्द उनकी 'बिरह की पीर' को इस सुन्दरता से प्रकाशित नहीं कर सकते।

## विदेशी शब्द

कबीर ने प्रचलित विदेशी—अरबी-फ़ारसी—शब्दों का प्रयोग स्वतंत्रतापूर्वक किया है, विशेषतया: उन पदों में जहाँ वे मुल्ला-क़ाज़ी को संबोधित करते हैं या सूफ़ी दृष्टिकोण से अपनी बात कहते हैं। परंतु उन्होंने इन शब्दों की ध्वनियों को हिन्दी ध्वनिओं का रूप दे दिया है और कहीं-कहीं तो इस प्रकार परिवर्तन कर दिया है कि तद्भव रूप से तत्सम शब्द को पहचानना ही कठिन हो जाता है जैसे 'कालब्द' शब्द 'कालबूत' बन गया है। कुछ शब्द ये हैं—पिआला, लगामु, जीनु, असवारी, चाबुक, हवाल, हुकमु, साहिबु, फुरमानु, दरीआ, बंदे, बंदगी, इकतीआर, गुलामु, कुंजी, कुलफु, गाफलु, फील, रबाबी, नीसाना, तुरकु, राह, कवादे, भिसत, दोजक, कतेब, सुंनति, खुदाई, अउरत, जुलम, पीर, खवासी, बीबी, सलामु, मसकीन, अलह, अवलि, दीनु, जोरु, फुरमावै, काजी, रोजा, निवाज, गुजारै, कलमा, सतरि, काबा, अकल, मुसला, सरीकी, खसमु, रोज़ा, गैबु, जुलाहा, बुत, बाजीगर, खलक, तमासे, इफतरा, दिल, फिकरु, टुक दम करारी, हाजिर, हजूर, रोज, परेसानी, सिहरु, दसतगीरी, दरोगु,

खुसी, बेखबर, खालकु, हकु, खलक, मिश्राने, आसमान, लहंग दरीआ, दरबारि, खजानै, हुसीआर, गुसीअत, मका, किबला, मुलां, बांग, मसीति, दरवाजः, मिसिमिलि, सबूरी, सेख, दिवाना, सुरतानु, लसकरु, सलार, पैकाबर, गरीब, मजलसि, महलु, आदम, सैतानी, पनह, नजीकि, मुलखु, मिहरामति, मुकामा, मह, रमजाना, हज, मीराँ, बिसमिल, उजू, पाकु, नापाकु, नउबति, इलाहु। ये शब्द आदिग्रंथ से संग्रहीत हैं। कबीर-ग्रंथावली और बीजक में विदेशी शब्दों की संख्या और भी अधिक है। यह स्पष्ट है कि कबीर मुसलमानी संस्कारों से पूर्णतः परिचित थे और उनका सूफी-साधना-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान कम नहीं था।

## अर्थ-गम्भीरता

अनेक प्रकार के लाक्षणिक और व्यंग प्रयोगों के द्वारा कबीर ने अपनी वाणी में अर्थ-गाम्भीर्य लाने का प्रयत्न किया है। उनकी अनेक उक्तियों में लोक का अनुभव जैसे बँध ही गया है। आज भी कबीर की वाणी लोकोक्ति के रूप में चलती है। स्वयं उनके काव्य में मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रचुर प्रयोग मिलता है जैसे मरमु भुलावा, अंतरि लिव लागै, अब जानहुगे जब उघरैगो पाज, चतुराई न चतुरभुज पाईऐ, लागी होइ सु जानै पीर, हरि ठग जग कउ ठगउरी लाई, फासन की बिधि सभु कोउ जानै छूटन की इकु कोई, काइआ मिथिआ काची गगरी, काची गगरी रहै न पानी। ऐसे सैकड़ों प्रयोग मिल जायेंगे। परवर्ती काव्य ऐसे प्रयोगों के लिए कबीर का ही ऋणी है। सूर और कबीर के काव्य का अध्ययन करने से यह पता लग जाता है कि कबीर के काव्य ने किस प्रकार परवर्ती काव्य को प्रभावित किया है। गोरखनाथ के साहित्य में अर्थ-गम्भीरता विशेष नहीं मिलती। उसमें शुद्ध तत्त्व-निरूपण ही साहित्य

बन गया है। परंतु कबीर के साहित्य में तत्वदर्शन के साथ-साथ साहित्य की छटा भी पूर्ण मात्रा में मिल जाती है, परंतु इस छटा को सब नहीं देख सकते। इसे देखने वाली आँखें चाहिये। सच तो यह है कि कबीर के साहित्य ने मध्ययुग के साधना-परक साहित्य को रूपक, प्रतीक, लाक्षणिक प्रयोग, मुहावरे, कहावतें—क्या नहीं दिया। लोकोक्तियाँ और मुहावरों के प्रयोग से ही साहित्य की शास्त्रीय जड़ता दूर होती है और वह युगों-युगों के अनुभवों से रससिक्त और रससिद्ध हो जाता है। कबीर का साहित्य हिंदी में ऐसा पहला साहित्य है जो प्रत्येक पग पर जन-भाषा और जन-मन से शक्ति ग्रहण करता है। उनके साहित्य में उच्च से उच्च कोटि के भाव रूपकों और प्रतीकों के द्वारा जन-मन के धरातल पर उतार दिये गये हैं।

## छंद

कबीर का सारा काव्य गेय काव्य है। अतः उसमें गेय पदों की ही प्रधानता है। परन्तु यह सारे गेय पद किसी न किसी छंद की सीमा के अंतर्गत आ जाते हैं। अधिकांश पदों में किसी निश्चित छंद को टेक, ध्रुव या ध्रुवक के साथ प्रयोग में लाया गया है। यह ध्रुवक संगीत और लय की योजना के लिए आवश्यक है। इससे भावना और संगीत के उत्कर्ष में सहायता मिलती है। परंतु ध्रुवक को छोड़ कर शेष भाग छंद-शास्त्र के आधार पर ही चलता है। कबीर के आलोचकों का कहना है कि कबीर छंदः-शास्त्र से अनभिज्ञ थे और उन्होने खंजरी बजा-बजा कर या इकतारे की झंकार पर जो गा दिया उसमें छंद की योजना देखना मूर्खता है। परंतु वास्तव में यह बहुत बड़ी भ्रांति है। पाठ की अशुद्धता और मौखिक रूपांतर के कारण अनेक पद स्पष्ट रूप से भ्रष्ट हो गये हैं, परन्तु यह निश्चित है कि कबीर के काव्य में छंदशास्त्र का पूर्ण रूप से पालन हुआ था। इसके लिये कबीर को शास्त्र के पन्ने नहीं

उलटने पड़े होंगे। वस्तुतः साधु-संतों की मंडली में, नाथपंथियों और सूफ़ियों में जो छंद चल रहे थे, कबीर ने उन्हें ही अपने गीत का माध्यम बनाया।

## 'सलोकु' या 'साखी' का छंद

'आदि ग्रंथ' में 'सलोकु' शीर्षक से जो रचनाएँ उपलब्ध हैं, वही अन्यत्र 'साखी' रूप में चल रही हैं। इनका छंद प्रसिद्ध दोहा छंद है। अपभ्रंश काव्य में जो महत्ता 'गाहा' छंद को प्राप्त है, वही हिंदी में दोहा छंद को। जान पड़ता है, दोहा उस युग का प्रसिद्ध गीत-छंद था। अब भी लोक-छंदों में से अनेक छंदों में किसी न किसी रूप में दोहा छंद का प्रयोग होता है। इस छंद में १३, ११ के विराम से २४ मात्राएँ होती हैं। दोहे के अनेक भेद हैं और खोज करने पर कबीर के साहित्य में कितने ही भेद मिल जायेंगे। नाथों के साहित्य में भी उपदेश और अनुभूति के प्रकाशन के लिए इसी छंद का प्रयोग हुआ है। पदों में से कुछ में भी इस छंद का प्रयोग किया गया है। कई दोहे साथ-साथ रख दिये गये हैं। अंतिम दोहे में कवि की छाप है। और इन दोहों को ध्रुवक की किसी एक पंक्ति से जोड़ दिया गया है। इस शैली से दोहों को रखने से संगीत का विशेष आयोजन हो जाता है। जहाँ दोहा-छन्द में कवि 'छाप' का उपयोग करता है, वहाँ कहीं उसे छन्द से अलग रखता है और कहीं छन्द में ही गूँथ देता है। जैसे—

कबीर माटी के हम पूतरे मानसु राखिउ नाउ

में 'कबीर' छाप छन्द से स्वतन्त्र है, परन्तु

कबीर कूकरु राम को मुतीआ मेरो नाउ

में वह छन्द के अंतर्गत ही आती है। कहीं-कहीं छन्द के दूसरे चरण

में एक मात्रा कम भी हो गई है और 'उपमान' छन्द ( १३, १० ) का रूप निकल आया है—

( कबीर ) डूबा था पै उबारिओ गुन की लहरि झबकि ।
( जब) देखिओ बेड़ा जा जरा (तब) उतर परिओ हउ फरकि ॥
( सलोकु ६७ )

इस प्रकार की अनेक असावधानियाँ कबीर के साहित्य में मिल जाती हैं। परन्तु इससे यही प्रगट होता है कि कबीर तत्व-पारखी थे, साहित्य-जीवी नहीं।

## 'रागु' या पद

कबीर का अधिकाँश साहित्य भिन्न-भिन्न रागों में गाये जाने वाले पदों के रूप में है। परन्तु, जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, इन रागों ( पदों ) में अनेक छन्दों का प्रयोग हुआ है। जिन छन्दों का प्रयोग हुआ है उनमें सबसे अधिक प्रयुक्त छन्द १५ और १६ मात्राओं वाले 'चोबाला', 'चौपई' और चौपाई है। चौपई और चौपाई छन्द में कबीर अधिक भेद नहीं करते। संगीत की मौज में चौपाई गाते-गाते वे चौपई पर उतर आते हैं और चौपई गाते २ चौपाई पर चढ़ जाते हैं। इन छन्दों के चार चरणों के नियम का भी ध्यान नहीं रखा गया है। कहीं-कहीं इन छन्दों में 'पादाकुलक' का रूप भी निकलता दिखाई देता है परन्तु कदाचित् कबीर ने जान-बूझ कर ऐसी कोई योजना नहीं की होगी। 'चौंतीसी', 'थिंती' और 'वार' में भी इन्हीं छन्दों का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः १६ मात्रा का छंद हिंदी का सबसे सरल छन्द है। सिद्धों के काव्य से बराबर उसकी परम्परा चली आती है। परन्तु कबीर की विशेषता यह है कि उन्होंने इस छन्द को ध्रुवक के साथ अत्यन्त सुन्दर गेय रूप में उपस्थित किया है। कहीं ध्रुवक है, कहीं नहीं भी है, परन्तु संगीतमयता सब जगह मिलेगी।

संगीत शैली की प्रधानता के कारण कहीं-कहीं कवि किसी-किसी पद को छोटा भी कर देता है जैसे—

हृदै कपटु मुख गिआनी । (१२)
झूठे कहा बिलोवसि पानी ॥ (१६)
काँइआ माँजसि कउन गुनाँ । (१४)
जउ-घट भीतरि है मलनाँ ॥ (१४)
लउकी अठसठि तीरथ न्हाई । (१३)
कउरापनु तऊ न जाई ॥ (१४)
कहि कबीर बीचारी । (१४)
भव-सागरु तारि मुरारी ॥ (१६)

इस प्रकार के और भी सुन्दर उदाहरण दिये जा सकते हैं।* कबीर के छंद बड़े सप्राण हैं और वह किसी एक साहित्यिक रूप पर आँख बन्द

---

* दुइ दुइ लोचन देखा ।
इउ हरि बिनु अउरु न देखा ॥
नैन रहै रंगु लाई ।
अब बेगल कहनु न जाई ॥
हमरा भरमु गइआ भउ भागा ।
जब रामनाम चितु लागा ॥
बाजीगर डंक बजाई ।
सभ खलक तमासे आई ॥
बाजीगर स्वांगु सकेला ।
अपने रंग रवै अकेला ॥

( रागु सोरठि, ४ )

कर चलना नहीं जानते। 'चौबोला' और 'चौपाई' के तो अनेक मिश्रण मिल जाते हैं। कहीं-कहीं चौपाई छंद में एक मात्रा और जोड़ दी गई है जैसे

घसि कुकुम चंदनु गारिआ।
बिनु नैनहु जगतु निहारिआ॥
(राग सोरठि, ६)

१६ मात्रा के टुकड़ों का जिन छंदों में प्रयोग किया गया है, ऐसे छंद कवि को अधिक प्रिय हैं। ऐसे छंद हैं विष्णु पद (१६, १४) सरसी (१६, ११), हरिपद (१६, ११), सार (१६, १२) लावनी (१६, १४), वीर (१६, १५), समान सवैया (१६, १६) और मत्त सवैया (१६, १६)। इनमें विष्णुपद, सरसी, सार और लावनी का प्रयोग कुछ अधिक हुआ है। पहले तीन छंदों में क्रमशः एक मात्रा की वृद्धि हो जाती है, परन्तु 'लय' में कोई परिवर्तन नहीं होता। विष्णु पद में दूसरे चरण में १० मात्राएँ होती हैं। अंत में एक गुरु। सरसी में दूसरे चरण में ११ मात्राएँ और अंत में लघु-गुरु। सार में दूसरे चरण में १२ मात्राएँ होती हैं। चरणांत में दो गुरु होते हैं और कभी-कभी लघु-गुरु और दो गुरु भी होते हैं। तीनों छन्दों के उदाहरण इस प्रकार हैं :

पहिली करूपि कुजाति कुलखनी साहुरै पेईऐ बुरी।
अब की सरूपि सुजाति सुलखनी सहजे उदरि धरी॥ (विष्णुपद)
हसतो जाइ सु रोवतु आवै रोवतु जाइ सु हसै।
बसतो होइ होइ सो ऊजरो ऊजरु होइ सु बसै। (सरसी)
अगनि न दहै पवनु नहीं मगनै तसकरु नेरि न आवै।
रामनाम धनु करि संचउनी सो धन कतही न जावै॥ (सरसी)

लावनी ताटंक का एक उपभेद है जिसमें १६; १४ के विराम से २८ मात्राएँ होती हैं। अन्त में गुरु। कबीर में इसका रूप इस प्रकार है :

जेते जतन करत ते डूबे भवसागरु नहीं तारिओ रे।

इन छन्दों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रयुक्त छन्द हैं उपमान (१३,१०), हीर ( ६, ६, ११ ), तोमर ( १२, १२ ), शोभन ( १४,१० ) और रूपमाला। परन्तु ये छन्द कवि को विशेष प्रिय नहीं जान पड़ते क्योंकि उसने इनका अधिक प्रयोग नहीं किया है। यथा,—

पेवकड़े दिन चारि है, साहुरणै जाणा।
अंधा लोकु न जाणई मूरखु एआणा॥ (उपमान)
एक जोति एका मिली किंबा हरि महोइ।
जितु घटि नामु न ऊपजै फूटि मरै जनु सोई॥ (हीर)
(संतहु) मन पवनै सुखु बनिआ।
किछु जोगु परापति गनिआ॥ (तोमर)
फुरमानु तेरा सिरै ऊपरि फिरि न करत बीचार।
तुही दरिआ तुही करिआ तुझै ते निस्तार॥
बंदे बंदगी इकतीयार।
साहिबु रोसु धरउ कि पिआरु॥
नामु तेरा आधारु मेरा जिउ फूलु जई है नारि।
कहि कबीर गुलामु घर की जीआइ भावै मारि॥
( शोभन, रूपमाला )

दोहा ( १३, ११ ) को गेय पद बना कर कवि ने अनेक रूप से उपस्थित किया है। वस्तुतः ये छन्द बड़े आकर्षक और कलात्मक छन्द हैं। कुछ पदों में कवि पहले दोहे के बाद ध्रुवक के रूप में १३, १३

मात्राओं के दो तुकान्त टुकड़ों का प्रयोग करता है और फिर तीन दोहे और देता है। अन्तिम दोहे में छाप रहती है। कहीं दोहे के बाद भिन्न तुकान्त एक चरण ध्रुवक के रूप में रख देता है। इसके बाद वह दो या तीन दोहे और रखता है। कहीं-कहीं दोहे के पहले-दूसरे और तीसरे-चौथों चरणों के बीच में दो मात्राओं या कई मात्राओं की एक धुन डाल कर वह उसे और भी आकर्षक बना देता है। वस्तुतः गाने में इस प्रकार की 'धुनों' का समावेश स्वतः ही हो जाता है। एक स्थान पर कवि ने ८ मात्राओं की एक 'धुन' का आकर्षक प्रयोग किया है :

कलबूत की हसतनी ( मन बउरा रे ) चलतु रचिओ जगदीस ।
काम सुआइ गज बसि परे ( मन बउरा रे ) अंकुस सहियो सीस ॥
बिखै बाचु हरि राचु समझु ( मन बउरा रे ) ।
निरभै होइ न हरि भजै ( मन बउरा रे ) गहिओ न राम जहाजु ॥
( राग गउड़ी, ५७ )

कभी-कभी कबीर आरम्भ में टेक के रूप में विष्णुपदी का एक पद रख कर शेष ४, ५ पदों में दोहे रख देते हैं ( दे० रागु मारू, १० )। कहीं-कहीं भिन्न छन्द के बीच में एक दोहा आ जाता है ( रागु रामकली, ४ )।

क० ग्रं० और बीजक में और भी अनेक छंद मिल जाते हैं, परन्तु अधिकांश कबीरवाणी में उपरोक्त छन्दों का ही प्रयोग हुआ है। यह स्पष्ट है कि ये अनेक छन्द मूलः दोहा और चौपाई छन्दों का ही विकास हैं और उनकी परम्परा अपभ्रंश काल से चली आ रही है। हिंदी गीति-परम्परा के विकास की दृष्टि से ये छन्द अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। कबीर ने इन्हें सीधे अपभ्रंश परम्परा से नहीं ग्रहण किया, परन्तु सिद्ध-साहित्य और नाथवाणी से वे पूर्णतः परिचित जान पड़ते हैं। उनका साहित्य

साखी हैं। ये छन्द उन्होंने वहीं से लिये। वैसे जन-साहित्य में इनका प्रचुर प्रयोग उस समय हो रहा था।

## निष्कर्ष

पिछले पृष्ठों में हमने कबीर के साहित्य के शुद्ध साहित्य-पक्ष पर विचार किया है। जनता में यह भ्रम फैला हुआ है कि साहित्य की दृष्टि से कबीर महत्वपूर्ण नहीं हैं और खंजरी बजा-बजा कर या इकतारे की झंकार पर उन्होंने जो कुछ लिख दिया, वह अत्यन्त नगण्य है। ऊपर हमने कबीरवाणी की जो विवेचना की है, वह इसी को दृष्टि में रख कर की है। परन्तु कबीर-वाणी की साहित्यिकता समझने के लिये छन्द-शास्त्र, अलंकार-शास्त्र और नायिका-भेद के पृष्ठ नहीं उलटना पड़ें तो हमें दुःख होने की कोई बात नहीं है। ऐसे कथित साहित्य के उपासक कबीर नहीं थे। उनका 'साहित्य' समाज सुधार, अध्यात्म-साधन और 'उनमनि' की प्राप्ति का एक महान अस्त्र था। उसे 'साहित्य' श्रेणी देने से साहित्य छोटा नहीं हो जाता। उसकी सीमाएँ बढ़ जाती हैं। वह 'हद' छोड़ कर 'बेहद' की खबर लेने लगता लगता है। ऐसा पुष्ठ, सत्य की ऐकांतिक ज्योति से प्रतिभासित, विराग, भक्ति और आंतरिक साधना में एकनिष्ठ साहित्य और कहाँ है? उपनिषदों की वाणी, धम्मपद, सूफ़ी कवि जलालुद्दीन और ईसा-मुहम्मद की साहित्यिक परम्परा ही कबीर में प्रतिध्वनित हो उठी है। वह संतों और साधकों की सार्वभौमिक साहित्यिक परम्परा है। यदि हम संसार के साहित्य से उपनिषद, धम्मपद, सूफ़ी काव्य, क़ुरान और न्यू टेस्टामेंट हटा लें तो उसमें जो बचेगा वह निःसंदेह उतना बड़ा नहीं रह सकेगा। कबीर का साहित्य उनकी महान साधना, उनके प्रेममय परन्तु क्रांतिकारी व्यक्तित्व, उनकी एकमात्र सत्य-निष्ठा, उनके अक्खड़पन और उनके युग की जनशक्ति का संपूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व करता है।

आज के जनशक्ति के पुनरुद्धार के धुन में कबीर की वाणी कदाचित् हमें सबसे अधिक प्रेरणा दे सकेगी। इसमें संदेह नहीं कि आज हमें कबीर के व्यक्तित्व, उनकी साधना और उनके साहित्य का नया मूल्यांकन उपस्थित करना होगा, परन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि इससे कबीर छोटे नहीं होंगे।

---

६

# 'कबीर-ग्रन्थावली'

'कबीर ग्रंथावली' (१६२८) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित और डॉ० श्यामसुन्दरदास द्वारा संपादित कबीरवाणी का प्रमाणिक संग्रह कहा जाता है। सम्पादन के लिए मुख्यत: दो पोथियों का आधार लिया गया है। इनमें से एक संवत् १५६१ (१५०४ ई०) और दूसरी संवत् १८८१ (१८२४ ई०) को लिखी हुई है। दोनों पोथियों में ३२० वर्ष का अंतर है जो काफ़ी बड़ा अंतर है परन्तु 'फिर भी दोनों में पाठ-भेद बहुत ही कम है। संवत् १८८१ की प्रति में सम्वत् १६६१ वाली प्रति की अपेक्षा केवल १३१ दोहे और ५ पद अधिक हैं।' इन दोनों पोथियों में से भी पहली पोथी को ही सपादन का आधार बनाया गया है। इस पोथी के सम्बन्ध में विद्वान सम्पादक लिखते हैं—'यह प्रति खेमचन्द के पढ़ने के लिए मलूकदास ने काशी में लिखी थी। यह पता नहीं लगा कि ये खेमचन्द और मलूकदास कौन थे। क्या ये मलूकदास कबीरदास जी के वही शिष्य तो नहीं थे जो जगन्नाथपुरी में जाकर बसे और जिनकी प्रसिद्ध खिचड़ी का वहाँ अबतक भोग लगता है तथा जिनके विषय में कबीरदास जी स्वयं कहा है—'मेरा गुरु बनारसी चेला समंदर तीर'? यदि ये वही मलूकदास हैं तो इस प्रति का महत्व बहुत अधिक है। यदि यह न भी हो, तो भी इस प्रति का मूल्य कम नहीं है। जैसा कि इस संस्करण की प्रस्तावना में सिद्ध किया गया है, कबीरदास जी का निबंध संवत् १५७५ में हुआ था। यह प्रति उनकी मृत के १४ वर्ष पहले की लिखी हुई है। अंतिम १५ वर्षों में कबीरदास जी ने जो कुछ कहा था यद्यपि वह इसमें

सम्मिलित नहीं है, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि सम्वत् १५६१ तक की कबीरदास की समस्त रचनाएँ इसमें संग्रहीत हैं।' (भूमिका, पृ० २) संग्रह की भाषा के संबन्ध में वे लिखते हैं—'(यह) भाषा-विज्ञान की दृष्टि से कबीरदास के समय के लिए बहुत उपयुक्त है और वह हिन्दी के १६ वीं तथा १७वीं शताब्दी के रूप के ठीक अनुरूप है।' परन्तु फिर भी भाषा के पंजाबीपन की उन्होंने शिकायत की है—'कबीरदासजी की भाषा में पंजाबीपन बहुत मिलता है। कबीरदास जी ने स्वयं कहा है कि मेरी बोली बनारसी है। इस अवस्था में पंजाबीपन कहाँ से आया? ग्रंथ साहब में कबीरदास जी की वाणी का जो संग्रह किया गया है, उसमें जो पंजाबीपन देख पड़ता है, उसका कारण तो स्पष्ट रूप से समझ में आ सकता है, पर मूल भाग में अथवा दोनों हस्तलिखित प्रतियों में जो पंजाबीपन देख पड़ता है, उसका कुछ कारण समझ में नहीं आता। या तो यह लिपिकर्ता की कृपा का फल है, अथवा पंजाबी साधुओं की संगति का प्रभाव है। कहीं-कहीं तो स्पष्ट पंजाबी प्रयोग और मुहावरे आ गये हैं जिनको बदल देने से भाव तथा शैली में परिवर्तन हो जाता है। यह विषय विचारणीय है। मेरी समझ में कबीरदास जी की वाणी में जो पंजाबीपन देख पड़ता है उसका कारण उनका पंजाबी साधुओं से संसर्ग ही मानना समीचीन होगा' (वही, पृ० ६-७)।

परन्तु इधर विद्वानों ने मूल प्रति की प्रामाणिकता पर ही संदेह किया है। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं—"···एक बाधा है। नागरी प्रचारिणी सभा की प्रकाशित पुस्तक में उक्त प्रति के अंतिम पृष्ठ का फोटो दिया गया है। उसमें जो संवत् लिखा हुआ है वह बाद की लिखावट जान पड़ती है। एक बार 'इतिश्री कबीर जी की वाणी संपूरण समाप्तः ॥···' इत्यादि लिखकर फिर से अपेक्षाकृत मोटी लिखावट में 'संपूर्ण सं० १५६१' इत्यादि लिखना क्या संदेहास्पद नहीं है। पहली बार का 'संपूरण' और दूसरी बार का 'सम्पूर्ण' काफ़ी संकेतपूर्ण है। एक ही शब्द के ये

दो रूप,—हिज्जे और आकार प्रकार में स्पष्ट ही बता रहे हैं कि ये एक हाथ से लिखे नहीं हैं। ऐसा जान पड़ता है कि अंतिम डेढ़ पंक्तियाँ किसी बुद्धिमान की कृति हैं। इसीलिए मुझे इस पुस्तक के सं० १५६१ में लिखित होने में काफ़ी सन्देह है, पर, इसकी प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं है। यह पुस्तक १५६१ सम्वत् के बहुत बाद की लिखी हुई होने पर भी काफ़ी प्राचीन जान पड़ती है।" परंतु कुछ ही बाद के इस 'काफ़ी प्राचीन' की व्याख्या करते हुए कहते हैं—'वस्तुतः यह पुस्तक परवर्ती काल की लिखी हुई है। सम्भवतः इसका लेखन-काल अट्ठारहवीं शताब्दी का आदि या मध्य भाग है।' ( कबीर, पृ० १६-२० )

ऊपर कबीर ग्रंथावली' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह सचमुच विचारणीय है। पहली बात तो यह है कि इस ग्रंथ में कबीर की साखियों को ५६ अंगों में बाँट दिया गया है। इसके बाद पद आते हैं जो रागों के अंतर्गत दिये गये हैं। ये राग हैं गौड़ी, रामकली, आसावरी, सोरठि, कैदारौ, मारू, टोडी, भैरूं, बिलावल, ललित, बसन्त, माली गौड़ी, कल्यान, सारंग, मलार, धनाश्री। इसके बाद रमैणी आती हैं जो राग सूहौ में गाई जाती हैं। 'आदिग्रंथ' (१६०४ ई०) की रचनाओं में यह क्रम नहीं मिलता। सन्त-वाणी का यह क्रम कदाचित् सब से पहले रज्जब के 'अगबंध' में मिलता है जो दादू-वाणी का संग्रह है। इसमें दादू के साहित्य को ३७ अंगों और २७ रागों के अंतर्गत रखा गया है। कहा जाता है कि दादू की मृत्यु से १० वर्ष पूर्व रज्जब ने यह सग्रह उपस्थित कर लिया था। दादू का समय १५४४ ई०–१६०३ ई० है। अतः 'आदि-ग्रंथ' से एक दशक पहले एक ऐसा संग्रह उपस्थित हो गया था जिसमें सन्तवाणी को एक विशेष ढंग से उपस्थित किया गया था। कदाचित् इससे पहले संग्रह का यह ढंग प्रचलित नहीं था। यह भी निश्चित है कि गुरु अर्जुन जी को यह संग्रह प्राप्त नहीं था और वह सन्त-वाणी के सम्पादन के इस ढङ्ग से परिचित नहीं थे। होते तो वे दादू की

सुन्दर रचनाओं को इस ग्रंथ में अवश्य स्थान देते और कदाचित् उसके सम्पादन में भी उसका प्रभाव ग्रहण करते। अतः इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि सं० १५६१ (१५०४ ई०) वाली पोथी वस्तुतः बहुत बाद की रचना है। १५६३ ई० से पहले इस ग्रंथ की कल्पना भी असंभव है। इसी से उसमें राजस्थानी और पंजाबी का प्रभाव मिलता है। दादू-पंथ का केन्द्र राजस्थान था और मध्य युग में राजस्थानी और पंजाबी का बहुत कुछ आदान-प्रदान बराबर चला करता था। पंजाब के अनेक साधक दादूपंथ में दीक्षित थे या उनसे प्रभावित थे। इनमें से पंजाब के प्रसिद्ध सूफ़ी कवि शेख फ़रीद का भी नाम लिया जा सकता है जिनकी कुछ रचनाएँ 'आदिग्रंथ' में संग्रहित हैं। दादू (१५४४-१६०३) पश्चिमी इस्लामी सूफ़ियों के लिए आकर्षण और प्रेरणा का विषय बन गये होंगे। फलतः उनके शिष्यों द्वारा संग्रहीत कबीरवाणी में पश्चिमी भाषा (राजस्थानी पंजाबी और हिन्दवी) का मिश्रण हो जाना आवश्यक है। यह स्पष्ट है कि यह संग्रह किसी लिखित प्रति के आधार पर नहीं किया गया। 'आदिग्रंथ' की रचनाओं की भाषा में जिस प्रकार की एकरूपता है उस प्रकार की एकरूपता 'कबीर ग्रंथावली' की भाषा में नहीं है। 'आदिग्रंथ' की यह एकरूपता किसी निश्चित प्रति की सूचना देती है जो कदाचित् काशी से प्राप्त की गई होगी और जिसमें कबीर की वाणी अधिक से अधिक प्रामाणिक रूप में सुरक्षित रही होगी। 'कबीर ग्रंथावली' के सम्पादक इस संग्रह की भाषा के सम्बन्ध में लिखते हैं—"क्रियापदों के रूप अधिकतर ब्रज भाषा और खड़ी बोली के हैं। कारक-चिन्हों में से कै, सन, सा आदि अवधी के हैं, कौ ब्रज का है और थे राजस्थानी का।" (कबीर-ग्रंथावली, पृ० ६७) ग्रंथ की पुस्पिका में जिन मलूकदास का नाम लिया गया है, वह कड़े के प्रसिद्ध सन्त मलूकदास (१५७४-१६८२) भी हो सकते हैं। उनकी एक गद्दी जयपुर में है, एक मुलतान में। यह स्पष्ट है कि वह दादूपंथ और दादूवाणी से पूर्णतः परिचित रहे होंगे और कदा-

चित् उन्होंने यह प्रति किसी दादू पंथी से ही प्राप्त की होगी। रज्जब की 'सर्वाङ्गी' में कबीरवाणी भी संग्रहीत है और यदि 'कबीरग्रंथावली' की सामग्री की 'सर्वांगी' की सामग्री से तुलना की जाये तो कदाचित् इस प्रति के विषय में कोई महत्त्वपूर्ण बात जानी जा सके। यदि यह मलूकदास प्रसिद्ध मलूकदास ही हैं तो यह प्रति १७वीं शताब्दी की मानी जा सकती है। इसमें संदेह नहीं कि यह संग्रह 'बीजक' से पहले का है। कम से कम दोनों संग्रहों की भाषा के अध्ययन से यही सूचित होता है।

'आदिग्रंथ' (१६०४) में संग्रहीत कबीर की रचनाओं से 'कबीरग्रंथावली' की रचनाओं की तुलना करने पर यह पता चलता है कि 'आदिग्रंथ' में 'रमैणी' नाम की कोई निश्चित रचना नहीं है। बीजक में हमें ८४ रमैनियाँ प्राप्त हैं, परन्तु आदि ग्रंथ में इनमें से कई स्वतंत्र गेय पदों के रूप में अनेक रागों, विशेषतय: रागु गउड़ी (गौड़ी) के अंतर्गत मिलती हैं। नाभादास ने भक्तमाल (१५७५ ई०) में कबीर की रचनाओं में स्पष्टतय: 'रमैनी', शब्द और साखी का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि कबीर की वाणी का कोई ऐसा संग्रह उनके पास रहा होगा जिसमें 'रमैणी' को भी स्थान मिला होगा। संभवत: वह 'कबीर-ग्रंथावली' जैसा कोई संग्रह रहा होगा। इसमें तो संदेह ही नहीं रहता कि 'आदिग्रंथ' में कबीर की संपूर्ण रचनाएँ नहीं हैं। 'रमैणी' उसमें स्थान नहीं पा सकी है। इससे यह अनुमान होता है कि कबीर के कुछ समय बाद ही उनकी रचनाओं के कई मौखिक संस्करण चलने लगे थे। कदाचित् ये संस्करण कालांतर में लिपिबद्ध भी हो गए हों। एक संस्करण का सम्बन्ध उनके प्रचार-केन्द्र काशी से रहा होगा और कदाचित् दूसरा संस्करण उनके पुत्र कमाल के द्वारा राजस्थान पहुँचा होगा। यह दूसरा संस्करण ही दादू के समय में लिपिबद्ध हुआ होगा, परन्तु उसमें क्षेपक भी निश्चय रूप से आ गये होंगे। पहले संस्करण की पर्याप्त सामग्री 'आदिग्रन्थ' में सुरक्षित है।

किंवदन्ती एक तीसरी मौखिक परम्परा का भी निर्देश करती है जो भगवानदास (भग्गूदास) द्वारा पहले बघेलखंड और फिर धनौटी (बिहार) ले जाई गई। यह परम्परा कबीर की मृत्यु के १८५ वर्ष बाद (१७०० ई० के लगभग) पूर्व में ही लिपिबद्ध हुई। इसकी भाषा इसकी अर्वाचीनता और पूर्वीयता की साक्षी है। यही परम्परा 'बीजक' के रूप में कबीरपंथों को मान्य हुई। कदाचित् पश्चिमी परम्पराओं से 'बीजक' के सम्पादक परिचित नहीं थे और उन्होंने अपनी सामग्री केवल पूर्व की मौखिक परम्पराओं पर ही आश्रित की जिनमें धर्मसंप्रदाय, शाक्तमत और सहज संप्रदाय की अनेक विचारधाराएँ भी गुंफित हो गई थीं। यह आश्चर्य की बात है कि काशी की कबीरपंथी शाखा ने कबीर की वाणी को अपने मौलिक रूप में अक्षुण्ण नहीं रखा। काशी और छत्तीसगढ़ की शाखाओं ने धनौटी की भगवानदास (भग्गूदास) वाली परम्परा को क्यों ग्रहण किया, यह भी कहना कठिन है। काशी केन्द्र पहले मगहर में स्थापित हुआ था और कदाचित् १८ वीं शताब्दी के पहले चरण में वह काशी में स्थानांतरित हुआ। जनश्रुति उसके प्रवर्तन का श्रेय कबीर के शिष्य सुरतगोपाल को देती है जिनकी प्रमुख रचना 'सुखनिधान' कही जाती है परन्तु यह निश्चय रूप से १७२९ ई० के लगभग की रचना है। जान पड़ता है इसी समय के लगभग 'बीजक' का आविर्भाव हुआ। छत्तीसगढ़ शाखा का धर्मदासी साहित्य भी लगभग इसी समय लिखा गया है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 'बीजक' भी इस शाखा में इसी समय के आसपास स्वीकृत हुआ होगा।

जो हो, ऊपर के तथ्यों और अनुमानों से 'कबीरग्रंथावली' की प्रमाणिकता और प्राचीनता एकदम संदिग्ध नहीं हो जाती। उसकी रचनाओं को कम से कम उतनी प्राचीनता तो मिल ही जायेगी जितनी 'आदिग्रंथ' की रचनाओं को यद्यपि उसमें प्रक्षिप्त रचनाएँ भी निश्चय रूप से विद्यमान हैं और उसकी भाषा पर भी सम्पादन के केन्द्र की भाषा का प्रभाव

पड़ा है। 'आदिग्रन्थ' की बहुत बड़ी सामग्री परिवर्तित या अपरिवर्तित रूप में 'कबीर ग्रंथावली' में मिल जाती है। उसमें पाठ-भेद तो मिलेगा, परंतु कदाचित् इस पाठभेद से कबीर की साधना और उनकी विचारधारा में कोई भेद नहीं पड़ता। यहाँ हम 'कबीर-ग्रंथावली' की उन्हीं रचनाओं पर विचार करेंगे जो 'आदिग्रंथ' में किसी न किसी रूप में प्राप्त नहीं हैं।

## पद

पहले हम 'कबीर ग्रंथावली' में पदों का अध्ययन करेंगे।

'कबीर-ग्रंथावली' में कबीर के जो पद संग्रहीत हैं, उनसे कबीर की सामान्य विचारावली की ही पुष्टि होती है, परन्तु कुछ पद ऐसे हैं जिनमें ऐसे प्रसंगों को पुष्ट किया गया है जो या तो कबीर को अमान्य रहे हैं या जिनका कबीर-साहित्य में केवल उल्लेख मात्र है। ये पद हठयोग और निरञ्जन-साधना से सम्बन्धित हैं जिनका केन्द्र राजपूताना रहा है। कबीर सामान्यतः हठयोग के विरोधी हैं। वह अवधू (अवधूत=योगी) को सहज योग का उपदेश देते हैं जो 'भाउ-भगति' से अभिन्न है। जहाँ वे योग की परिभाषा का उपयोग भी करते हैं, वहाँ भी वे उसे भक्तिपरक ही बना देते हैं। 'कबीर-ग्रंथावली' की रचनाओं में योग और निरञ्जन-साधना की स्वीकृति-सी है। योग-सम्बन्धी कुछ पदों में 'नरहरि' का नाम आया है। सम्भव है, वे पद किसी नरहरिदास की रचना हों। 'नरहरि' छाप के कुछ अन्य पद हैं —

राम ऐसौ ही जानि जपौ नरहरी (३७४)

नरहरि सहजै ही जिनि जानां।
गत फल फूल तत तर पलव, अंकूर बीज नसांना ॥टेक ॥

प्रगट प्रकास ग्यांन गुरगमि थैं, ब्रह्म अग्नि प्रजारी।
ससि हर सूर दूर दूरन्तर, लागी जोग जुग तारी।
उलटे पवन चक्र षट बेधा, मेर-डंड सरपूरा।
गगन गरिजि मन सुंनि समांनां, बाजे अनहद तूरा॥
सुमति सरीर कबीर बिचारी, त्रिकुटी संगम स्वामी।
पद आनन्दकाल थैं छूटै, सुख में सुरति समानी॥
(पद, ७)

ऐसा ध्यान धरौ नरहरी (पद, ३२५)
इहि बिधि सेविये श्री नरहरी (पद, ३२६)

कुछ पदों पर गोरखवाणी का प्रभाव स्पष्ट ही दिखलाई पड़ता है। उदाहरण-स्वरूप, गोरखनाथ की एक रचना है—

तत बेली लो तत बेली लो, अवधू गोरखनाथ जाणीं।
डाल न मूल पहुप नहीं छाया, बिरधि करै बिन पाणीं॥
काया कुंजर तेरी बाड़ी अवधू, सतगुर बेलि रूपाँणीं।
पुरिष पाणती करै धणियांणीं, नीकैं वलि धरिआणीं॥
मूल एह्वा जेह्वा ससिहर अवधू, पांन एह्वा जेह्वा माणे।
फल एह्वा जेह्वा पूनिम चंदा, जोउ जोउ जाँण सुजाणें॥
बेलड़िया दौं लागी अवधू, गगन पहूती झाला।
जिम जिम बेलीं दाझवा लागी, तब मेल्है कूंपल डाला॥

इसे क० ग्रं० पद १६३ से मिलाइये—

रांम गुन बेलड़ी रे, अवधू गोरखनाथि जाणीं।
नाति सरूप न छाया जाकै, बिरध करै बिन पाणीं॥ टेक॥

बेलड़िया द्वै अणीं पहूँती, गगन पहूँती सैली।
सहज बेलि जब फूलण लागी, डाली कूपल मेल्ही ॥
मन कुँजर जाइ बाड़ी बिलंव्या, सतगुर बाही बेली।
पाँच सखी मिलि पवन पयंप्या, बाड़ी पाँणीं मेल्ही ॥
काटत बेली कूपले मेल्हीं, सींचताडी कुमिलाँणीं।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, सहज निरंतर जाणीं ॥

तथा 'हुभि परि वारी हो अणवडीया देवा' (पद, ५८) जो बखना और कबीर के काव्य में लगभग उसी तरह प्राप्त होता है। निरंजन, निर्गुण आरती, कायागढ़, चक्रभेद और कुण्डलनी आदि के संबन्ध में लिखे पद लगभग दोनों साधकों में एक ही प्रकार मिल जाते हैं। यह जान पड़ता है कि गोरखनाथ की विचारधारा कालांतर में कबीर के प्रशंसकों और अनुयायियों में लोकप्रियता पाती गई और उन्होंने गोरखवाणी को कुछ बदल पर कबीरवाणी की छाप देकर प्रचारित कर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि कबीर में योग के संस्कार जीवन के प्रारम्भिक दिनों में ही आ गये थे और पूर्वीय प्रदेश में योगियों की मान्यता विशेष होने के कारण वे उनकी साधना के किसी भी अङ्ग से अपरिचित नहीं थे। परन्तु दृष्टि-कोण की समानता होने पर भी यह संभव नहीं था कि वे गोरख के पद अपने नाम से प्रचारित करते। कबीर की रचनाओं में साखियां विशेष रूप से प्रमाणिक जान पड़ती हैं। उनमें क्षेपक अधिक नहीं है। गेय पद ही अधिक लोकप्रिय रहे हैं और उनमें निरन्तर जोड़-तोड़ होते रहे हैं। साखियों का वैज्ञानिक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें कबीर का आग्रह योगमत की ओर नहीं है। योग-परक रूपकों और योग-साहित्य की शैलियों और शब्दावलि का प्रयोग उन्होंने इसलिए किया कि इससे उन्हें जनता तक पहुँचने में सुविधा थी और इससे उनकी बात का प्रचार भी अधिक होता था। जन-भावना अबतक उन्हें गोरखनाथ के प्रतिद्वन्दी के रूप में ही मानती है।

जो गोरख मत के संबन्ध में कहा गया है, वह निरञ्जन मत के संबंध में भी कहा जा सकता है। स्वयं गोरख-साहित्य में निरञ्जन कम नहीं है परन्तु कबीर ने निरञ्जन की भी नई व्याख्या की है। कबीर-पंथ के परवर्ती साहित्य में तो निरञ्जन ने शैतान का स्थान ग्रहण कर लिया है।

इन दो प्रकरणों को छोड़ कर 'कबीर-ग्रंथावली' के पदों की सामग्री में विशेष अंतर नहीं आता। 'आदिग्रंथ' के पदों में कबीर की साधना और विचारधारा का जो रूप मिलता है, उसी की पुष्टि यहाँ होती है। उदाहरण के लिए, आत्मा के शृङ्गारिक मिलन-वियोग के बहुत पद 'आदिग्रंथ' में नहीं। एक पद में वियोगिनी आत्मा का वर्णन है और दो पदों में आध्यात्मिक मिलनानन्द का। 'ग्रंथावली' में इस प्रसंग के कुछ और पद भी मिलते हैं जैसे—

बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाये,
भाग बड़े घरि बैठे आये ॥ टेक ॥

मंगलाचार माँहिं मन राखौं। राम रसांइण रसना चाखौं ॥
मंदिर-माँहि भया उजियारा। ले सूती अपनां पीव पियारा ॥
मैं रनि रासी जे निधिपाई। हमहि कहा यहु तुमहि बड़ाई ॥
कहै कबीर में कछू न कीन्हाँ। सखी सुहाग रांम मोहि दीन्हा ॥

अब तोहि जांन न देहूँ रांम पियारे,
ज्यूँ भावै त्यूँ होइ हमारे ॥ टेक ॥

( पद, २—३ )

सो मेरा राम कबै घरि आवै। ता देखें मेरा जिय सुख पावै ॥
विरह अग्नि तन दिया जराई। बिन दरसन क्यूँ होइ सराई ॥

निज बासुर मन रहै उदासा। जैसैं चातिक नीर पियासा॥
कहै कबीर अति आतुरताई। हमकौं बेगि मिलौ रांमराई॥
(पद, २२५)

यह स्पष्ट है कि यह कबीर की महत्वपूर्ण विचारधारा है जो स्पष्टतयः सूफ़ी दृष्टिकोण से प्रभावित है। 'आदिग्रंथ' में जिस प्रकार की रचनाएँ संग्रहीत हैं उनमें शृंगारमूलक भक्ति को प्रधानता नहीं मिली है। सिक्ख-गुरु सेवक-सेव्य भाव की भक्ति को प्रधानता देते थे। गुरु नानक की रचनाओं पर सूफ़ी प्रभाव की अपेक्षा वैष्णव-प्रभाव ही अधिक दिखलाई देता है। अतः सम्पादक की रुचि-विशेष के कारण कबीर की इस प्रकार की कविताओं को 'आदिग्रंथ' में अधिक स्थान नहीं मिला है। कबीर कहते हैं—

कब देखूँ मेरे राम सनेही,
जा बिन दुख पावै मेरी देहीं॥टेक॥
(पद, २२४)

कभी उसके पाने पर उल्लास प्रगट करते हैं—

अब मैं पायौं राम सनेही,
जा बिन दुख पावै मेरी देहीं॥ टेक॥
(पद, २८३)

वस्तुतः ये मिलन-वियोग के क्षण साधक की अनुभूति के अन्यतम पक्ष हैं। जीवन में ऐसे अनेक क्षण आते हैं जब मन किसी अव्यक्त दुख से भर जाता है, अन्तर में न जाने कैसी टीस उठती है, लगता है जैसे सब विशृङ्खल हो गया है। मन दूर का प्यासा हो जाता है। स्थूल और दृश्य में उसको ज़रा भी आकर्षण नहीं मिलता। इस वेदना का आध्यात्मिक

रूप कबीर के अनेक पदों का विषय है। वह आत्मा को चिरविरहिणी, चिरप्रवासिनी मानते हैं—

विरहिनी फिरै है नाथ अधीरा।
उपजि बिनां कछू समझि न पाई,
बाँझ न जानैं पीरा॥ टेक॥
(पद, २८४)

प्रियतम के विरह में विभोर हो आत्मा चिल्ला पड़ती है—

हो बलियाँ कब देखोंगी तोहि।
अहनिसि आतुर दरसन-कारनि, ऐसी व्यापै मोहि॥
(पद, ३०५)

उसे उस दिन की प्रतीक्षा है जब वह प्रियतम आयेगा, जब उसके व्यक्तित्व से तन-प्राण ओतप्रोत हो जायेंगे। न जाने, राम कब यह मनोरथ पूरा करेंगे—

वै दिन कब आवैंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंगि लगाइ॥
हौं जानूं जे हिलिमिलि खेलूँ, तन मन प्रांन समाइ।
या कामनां करौ परपूरन, समरथ हौ राम राइ॥
(—३०६)

दिन बीतते जाते हैं परन्तु विरहिणी की यह आशा पूरी होती दिखलाई नहीं पड़ती। उसके दुःख की कोई सीमा नहीं रहती। बार-बार वह प्रणत होकर प्रार्थना करती है—

बाल्हा आव हमारे ग्रेह रे। तुम्ह बिन दुखिया देह रे॥ टेक॥
सब कोइ कहै तुम्हारी नारी मोकौं इहै अदेह रे।
एकमेक है सेज न सोवै तब लग कैसा नेह रे॥

आन न भावै नींद न आवै, ग्रिह बन धरे न धीर रे।
ज्यूँ कामी कौं काम पियारा, ज्यूँ प्यासे कूँ नीर रे॥
है कोई ऐसा पर-उपगारी, हरि सूँ कहै सुनाइ रे॥
ऐसे हाल कबीर भये हैं, बिन देखे जीव जाइ रे॥

(पद. ३०७)

एक दूसरे पद से कबीर की 'विरह की पीर पर' यथेष्ठ प्रकाश पड़ता है। कबीर कहते हैं—राम (के प्रेम का) बाण तो बड़ा तीक्ष्ण (अनियाला) है। इसकी पीर तो वही जाने जिसके हृदय को इसने बेध दिया है। परन्तु इस तीर का प्रहार भीतरी है। तन-मन खोजता हूँ परन्तु कहीं भी चोट दिखलाई नहीं देती। फिर कहाँ लगाऊँ औषधि? कहाँ लगाऊँ संजीवनी? ये सारे संसार के प्राणी उस एक प्रियतम की ही तो अनेक नारियाँ हैं। मैं कैसे जानूँ इनमें से कौन प्रियतम को प्यारी है। प्रियतम जिसे अपना प्रेम दे, वह धन्य है, वही सच्ची सुहागिनी है।[१] परन्तु प्रत्येक नारी का लक्ष्य तो यही है कि वह अधिक से अधिक प्रियतम का प्रेम प्राप्त करे। कबीर की विरह की साधना यही आभ्यंतरिक प्रेम की साधना है। उनका मिलन मानसिक मिलन है। विरह-मिलन की यह अनुभूति सगुण कवियों में भी मिलती है। विद्यापति और सूरदास के पदों में राधाकृष्ण के प्रेम का रूपक लेकर इसी का प्रकाशन किया गया है। तत्वतः कबीर की साधना और इन सगुण कवियों की साधना में

---

१ राम बांन अन्ययाले तीर। जाहि लागे सो जानै पीर॥टेक॥
तन मन खोजौं चोट न पांऊँ। ओषद मूली कहा घसि लांऊँ॥
एकही रूप दीसै सब नारी। ना जानौं को पीयहि पियारी॥
कहै कबीर जा मस्तकि भाग। ना जानूँ काहू देइ सुहाग॥

(पद, ११६)

विशेष भेद नहीं है। केवल भेद इतना है कि निर्गुण कवि राधा-कृष्ण के रूपकों का आश्रय नहीं लेता और स्पष्ट रूप से अपनी बात कहता है। उसे रूप-गुण-लीला का सहारा नहीं है। परन्तु इससे उसकी बात छोटी नहीं हो जाती।

ब्रह्म-ज्ञान, सहज-समाधि और विट्ठल-भक्ति के संबंध के कुछ पद भी कबीर-ग्रंथावली में ऐसे मिलते हैं जो कबीर की सामान्य विचार-धारा का पूर्णतः प्रतिनिधित्व नहीं करते। यहाँ भी हमें 'नरहरि' की छाप मिलती है। परन्तु ये पद कबीर की विचारधारा से इतने दूर नहीं हैं कि हम उन्हें एकदम अन्य की कृति मान लें। आदिग्रंथ में केवल एक पद ऐसा है जिसमें बीठल का नाम आया है। नामदेव और रैदास के पदों में प्रतीक रूप में विट्ठल ( बीठल, बीठुला ) का नाम मिलता है। अतः कबीर में इसका पाया जाना असंभव नहीं है। परन्तु यहाँ या तो भक्ति को योगपरक बना दिया गया है ( दे० पद, ४ ) या उसे एकदम सगुण भक्ति के धरातल पर उतार दिया गया है ( दे० पद, ५ )। अनेक कूटपद ऐसे मिलते हैं जिनका आभास भी आदिग्रंथ में नहीं मिलता। आदिग्रंथ में केवल ६ कूट-पद ( उलटबाँसियाँ ) प्राप्त हैं परन्तु कुछ परिश्रम करने पर उनका अर्थ खुल जाता है और उनसे आध्यात्मिक साधना या जीव-ब्रह्म के अभेदत्व या आत्मा के अहम्भाव के नाश का संदेश ही मिलता है। 'कबीर-ग्रंथावली' में कूटों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। 'बीजक' में इनका अनुपात और भी बढ़ गया है। अनेक रूपक ऐसे भी हैं जिनमें न कोई साहित्यिक सौन्दर्य है, न वह किसी बड़े आध्यात्मिक सत्य की व्यंजना करते हैं। जान पड़ता है, जनता कबीर की उलटबाँसियों से आकर्षित थी। वह युग चमत्कारों का युग था और इन अटपटी बानियों के सहारे कबीर के शिष्यों और प्रशंसकों ने जनता पर कबीर के चमत्कारों की धाक बिठाने की चेष्टा की होगी। संभव है, सिद्धों और नाथों के 'संध्यागीत' और 'गोरख-धंधे' परवर्ती युग में कबीर से संबंधित

हो गए हों। कबीर जैसा तत्ववेत्ता और विचारक जनता को भ्रम में डालना चाहेगा, ऐसा असम्भव है। वैसे समय की प्रवृति को देखते हुए अथवा पंडित-वर्ग को चमत्कृत करने के लिए कबीर ने इस क्षेत्र में भी थोड़ी-बहुत रचना अवश्य की होगी, परन्तु कूटवाणी का विशेष विस्तार तो कदाचित् कबीर के बाद हुआ। कहा जाता है कि कूटवाणी धरमदास ने प्रचारित की। छतीसगढ़ी ग्रंथों और 'बीजक' में कूटवाणी का आधिक्य इस संदेह को पुष्ट करता है।

'ग्रंथावली' में जुलाहा-जीवन से संबन्धित अनेक रूपकों का प्रयोग मिलता है। ये पद निश्चय ही कबीर की रचनायें है। भक्तिवाद और सूफी सिद्धांत परक रचनायें भी अधिक हैं। आदिग्रंथ में भक्तिप्रधान रचनायें ही अधिक मिलती हैं। सूफी रचनायें कम हैं, विशेषतः वह जिनमें सूफी पारिभाषिक शब्दावली का प्रवेश है। फलस्वरूप, यदि 'आदिग्रंथ' के आधार पर ही कबीर का मनोवृत्ति की व्याख्या की जाये तो हम उन्हें वैष्णव भक्त ही कहेंगे।—या अधिक से अधिक निर्गुण भक्त। इस प्रकार 'ग्रंथावली' में कबीर के व्यक्तित्व का कुछ अधिक संतुलित रूप हमें मिलता है। कर्मकांड, वाह्याचार और आडंबर-विरोधी रचनाएं दोनों संग्रहों में समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। उनमें हमें कबीर का परिचित रूप ही मिलता है।

संक्षेप में, यह 'कबीर-ग्रंथावली' की परिस्थिति है। यह शोक का विषय है कि कबीर के इस महत्वपूर्ण संग्रह का संपूर्ण और तुलनात्मक अध्ययन अभी प्रस्तुत नहीं हो सका है।

## रमैणी

रमैणियां कबीर की सैद्धांतिक रचनायें हैं जिनमें दोहा-चौपाई छंद

का एक विशेष क्रम से प्रयोग हुआ है। 'कबीर-ग्रंथावली' में सात रमैणियाँ संग्रहीत हैं। प्रत्येक रमैणी एक विशेष प्रबन्ध है। प्रत्येक रमैणी में एक विशेष विषय उठाया गया है और उसकी विस्तारपूर्वक विवेचना की गई है। ४, ५, ८, १२ चौपाइयों के बाद एक दोहा आता है और इस सब को एक 'पद' की संज्ञा दी जाती है। कहीं-कहीं अनेक चौपाइयों के बाद भी एक दोहा आता है। प्रत्येक रमैणी में दो या दो से अधिक पद होते हैं जैसे द्विपदी रमैणी, सतपदी रमैणी, अष्टपदी रमैणी, बारहपदी रमैणी। बीजक की रमैनियों में यह शैली नहीं मिलती। उनमें कहीं-कहीं चौपाइयाँ मात्र ही हैं। जहाँ कई चौपइयों के बाद एक दोहा आ जाता है वहाँ एक स्वतंत्र रमैनी बन जाती है। कबीर-ग्रंथावली का रमैनी का ढंग ही अधिक वैज्ञानिक जान पड़ता है। कुछ रमैणियों में राम-तत्त्व की व्याख्या है और कदाचित् इसी से इनका नाम "रामायणी" या 'रमैणी' पड़ गया।

कबीर के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धांतों को समझने के लिए इन रमैणियों का अध्ययन अनिवार्य हो जाता है। कबीर उस परमतत्त्व को अचिंत्य और अनिर्वचनीय मानते हैं, चाहे उसे किसी नाम से याद कर लो। पीर-मुरीद, काज़ी, देवी-देव, सुर-नर, गन्धर्व, ब्रह्मा, विष्णु, शिव कोई भी उसके भेद को नहीं जानते[1]। वह स्वयं आनन्द-स्वरूप है, पल्लवों के रूप में उसने गुणों का विस्तार किया है, तत्त्व की शाखायें, ज्ञान के

---

१ तूं सकल गहगरा, हफसफा दिलदार दीदार ॥
तेरी कुदरति किनहूँ न जानीं, पीर मुरीद काजी मुसलमानां ॥
देवी देव सुर नर गण गंध्रप, ब्रह्मा देव महेसुर ॥
तेरी कुदरती तिनहूँ न जांनीं ॥ टेक ॥
(रमैणी, राग सूहौ)

पुष्प, रामनाम का फल। मनुष्य को इसी हरि-रूपी वृक्ष पर बसेरा करना चाहिये।[२] यह जगत केवल नाम रूप मात्र है, परंतु मनुष्य भ्रमवश इस तत्त्व को समझ नहीं पाता। सत-रज-तम रूपी गुणों का विस्तार उसकी माया का ही प्रसार है। वस्तुतः ये गुण भी उसी का रूप हैं। वह स्वयं अपने में अपने को छिपा लेता है।[३] इस संसार-विटप के रूपक को कबीर और भी आगे बढ़ाते हैं।[४] परन्तु इसके भ्रम की बात को भी वह नहीं भूलते। वह इस सारे प्रपंच को बाज़ीगर के खेल की तरह माया-जन्य मानते हैं[५] आवागमन[६] और कर्मबन्धन[७] जीव की दो बड़ी

---

२ ते तौ आसि अंनद स्वरूपा। गुन पल्लव बिस्तार अनूपा॥
साखा तत थैं कुसुम गिआंना। फल सो आछा रांम का नांमां॥
( सतपदी रमैंणीं )

३ कहन सुनन कौं जिहि जग कीन्हा। जग भुलान सो किन्हूँ न चीन्हाँ॥
सत रज तम थैं कींन्हीं माया। आपण माँझै आप छिपाया॥
( वही )

४ सूक बिरख यहु जगत उपाया। समझि न परै बिखम तेरी माया॥
साखा तीनि पत्र जुग चारी। फल दोइ पाप पुंनि अधिकारी॥
स्वाद अनेक कथ्या नहीं जाहीं। किया चरित सो इन मैं नाहीं॥
( वही )

५ जिनि नटवै नटसारी साजी। जो खेलै सो दीसै बाजी॥
( वही )

६ भ्रंमि भूले नर आवै जाँहीं
( वही )

७ करम का बांध्या जीयरा, अहनिसि आवै जाइ।
मनसा देही पाइ करि, हरि बिसरै तौ फिर पीछैं पछिताईं॥
( वही )

लाँछनाएँ हैं। इन्हें नष्ट करने का उपाय केवल यही है कि मनुष्य अपने निरंजन, निराकार, अपरम्पार, अपार रूप को जान ले जो ब्रह्म के अनादि-अनंत रूप से भिन्न नहीं[८] और राम-भक्ति का आश्रय ले।[९]

राम-भक्ति के जिस रूप को कबीर-मान्य मानते हैं वह भावभगति है। यह भावभगति स्वतः पूर्ण है। इसके स्वाद को पाकर फिर कुछ पाना नहीं रह जाता। इससे जन्म-मरण की साध मिट जाती है।[१०] जब तक जीव भावभगति नहीं करता तब तक भावसागर को तरना उसके लिए असंभव ही है। भगवान के प्रति अडिग आस्था और भाव-भगति जीव के संशय का नाश करते हैं। वही मुक्ति के मूल हैं।[११] भक्त

---

८ निज सरूप निरंजनाँ, निराकार अपरम्पार अपार।
राँम नीक ल्यौ लाइस जियरे, जिमि भूलै बिस्तार॥
(वही)

९ भगति को हीन जीवन कछू नाँहीं।
अगति हीन अस जीवनाँ, जन्म-मरन, बहु काल।
+ + + सब दुख-खडन रांम को नांमां॥
राँम-नाम संसार में सारा। रांम-नांम भौ तारनहारा॥
भौ सागर अथाह जल, तामैं बोहिथ राँम अधार।
कहै कबीर हम हरि सरन, तब गोपद खुर विस्तार॥
(वही)

१० भाव भति सूं हरि न अराधा। जनम मरन की मिटी न साधा॥
(चौपदी रमैणी)

११ जब लग भाव भगति नहीं करिहौ। तब लग भवसागर क्यूं तिरिहौ॥
भावभति बिसवास बिन, कटै न संसै सूल।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मुकति नहीं रे मूल॥
(वही)

अपने को भगवान का सेवक जाने और उसकी सेवा में अपने को पूर्णतयः भूल जाये।[१२] उसके लिए राम गुंसाई की महर (कृपा) ही सब कुछ है। परंतु यह कृपा उस समय तक प्राप्त नहीं होती जब तक भक्त में दृढ़ आस्था का उदय नहीं होता और वह एकचित्त नहीं बन जाता। रामनाम इस भक्ति का सोपान है।[१३] कबीर जीव (हंस) को बार-बार चेतावनी देते हैं कि वह मनुष्य-देह पाकर यौनियों के बंधन काटने की चिंता करे। मनुष्य-जन्म से अधिक उत्तम अवसर उसे कब मिलेगा? वही सयाना है जिसने राम को जान लिया। जब जन्म बीत ही गया तो फिर चेतने से क्या होगा? जो भक्ति को सुख का मूल जानता है उसे और सब दुःख नहीं व्यापते। उसे केवल रांम अमृत लगता है, और सब विष का भंडार है। वह राम में रमण करके ही प्रसन्नता को प्राप्त होता है और सब विषय काम की माया लगते हैं। यही सार है और सब

---

१२ सेवग जन सेवा कै ताईं। बहुत भाँति करि सेवि गुसाँईं॥
तैसी सेवा चाहौ लाई। जा सेवा बिन रह्या न जाई॥
सेवा करंता जो दुख भाई। सो दुख-सुख बरि गिनहु सवाई॥
सेव करन्ता सो सुख पावा। तिन्य सुख-दुख दोऊ बिसरावा॥

सेवग सेव भुलाँनिया, पन्थ कुपंथ न जांन।
सेवग सो सेवा करै, जिहि सेवा भल मांन॥

(बारह पदी रमैंनी, २)

१३ दुख खंडण मही मंडणाँ, भगति मुकति बिश्राम।
बिधि करि भेरा साजिआ, धर्‍या रांम का नाम॥

जिनि यहु भेरा दिढ़ करि गहिया। गये पार तिन्हौं सुख लहिया॥
दुयनाँ है जिनि चित्त डुलावा। कर छिटके थैं थाह न पावा॥

(वही, ४-५)

असार। सारा संसार अनहित है, केवल राम हित हैं। राम के अतिरिक्त और सब कुछ उत्पत्ति-विनाश के चक्र में पड़े रहने के कारण झूठा है। यह रांम-तत्त्व सहज-प्राप्य भी है। उसकी साधना कोई कष्ट-साधना नहीं है। मनुष्य केवल ईर्ष्या-द्वेष, मोह-माया और अहंभाव को छोड़ दे। उसे राम का निहोरा प्राप्त हो जायेगा। जहाँ राम की कृपा है, वहाँ आनन्द है। वह सहज ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है, संसार के सारे रहस्य उस पर खुल जाते हैं। जो भ्रम में भूले हुए हैं, उन्हें यह पद कहाँ प्राप्त! परन्तु इस प्राणनाथ, जग-जीवन, प्यारे राम को पाना अत्यन्त दुर्लभ है। १४

---

१४ सुंनि हंसा मैं कहूँ बिचारी। त्रिजुग जोनि सबै अंधियारी॥
मानिषा जन्म उत्तिम जौ पावा। जांनूं रांन तौ सयांन कहावा॥
नहीं चेतै तौ जनम गंमावा। पर्यौ बिहांन तब फिरि पछितावा॥
सुख करि मूल भगति जौ जांनैं। और सबै दुख या दिन आनैं॥
अंमृत केवल रांम पियारा। और सबै बिष कै भंडारा॥
हरिख आहि जौ रमियैं रांमां। और सबै बिसमां के कांमां॥
सार आदि संगति निरबानां। और सबै असार करि जांनां॥
अनहित आहि सकल संसारा। हित करि जांनियैं राम पियारा॥
साच सोई जे थिरह रहाई। उपजै बिनसै झूठ ह्वै जाई॥
मीठां सो जो सहजैं पावा। अति कलेस थैं करू कहावा॥
नां जरियै ना कीजै मैं मेरा। तहाँ अनंद जहाँ राम निहोरा॥
मुकति सोज आपा पर जांनैं। सो पद कहा जु भरमि भुलानै॥

पांननाथ जग जीवनां, दुरलभ रांम पियार।
सुत सरीर धन प्रग्रह कबीर, जीये रे तरवर पंख बसियार॥

(अष्टपदी रमैंणीं)

रमैणियों में रामतत्त्व की विस्तृत व्याख्या मिलती है। यह राम दाशरथि राम नहीं हैं : यह अलख-निरञ्जन हैं। इनको कोई भी देख नहीं पाता। यह निर्भय-निराकार हैं। इन्हें न शून्य कहा जा सकता है, न स्थूल। ये रूप-रेख, वर्ण-अवर्ण से परे हैं। फिर भी ये प्रत्येक प्राणी में व्याप्त हैं। इनका आदि-मध्य-अंत नहीं। ये अकथ अनिर्वचनीय हैं। यह न जन्म को प्राप्त होते हैं, न नाश को। किसी भी युक्ति से इनको पूर्णतय: जानना असम्भव है। वह परम तत्त्व तो जैसा है, वैसा है। कहने-सुनने से भक्त के हृदय में आनंद अवश्य होता है[१५]। ब्रह्म निर्गुण है, या सगुण—यह प्रश्न कबीर के लिए अचिंत्य है। यदि उसे निर्गुण कहा जाये तो क्या कहा जाये ! यदि सगुण कहें तो फिर मनुष्य अपनी सीमित बुद्धि से किन गुणों की कल्पना कर सकता है ? उसे तो केवल उस परम-तत्त्व की अनुकंपा पर आश्रित होना पड़ता है। गुण-निर्गुण सब का दाता वही राम है। अत: इन दार्शनिक पचड़ों को छोड़ कर साधक अपनी भक्ति द्वारा भगवान को द्रवित करने का प्रयत्न करे।[१६] बारहपदी रमैणी में निर्गुण राम का पूरा

---

१५ अलख निरञ्जन लखै न कोई। निरभै निराकार है सोई ॥
सुंनि असथूल रूप नहीं रेखा। द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यौ नहिं पेखा ॥
बरन अबरन कथ्यौ नहीं जाई। सकल अतीत घट रह्यौ समाई ॥
आदि अंत ताहि नहीं मधे। कथ्यौ न जाई आहि अकथ ॥
अपरम्परा उपजै नहीं बिनसै। जुगति न जानियै कथियै कैसै ॥
जस कथियै तस होत नहीं, जस है तैसा सोइ।
कहत सुनत सुख उपजै, अस परमारथ होइ ॥
(वही)

१६ जानसि नहीं कस कथसि अयांनां। हम निरगुन तुम्ह सरगुन जांनां ॥
मति करि हीन कवन गुन आंहीं। लालच लागि आसिर रहाई ॥
(वही)

ब्यौरा मिलता है। कबीर उसे 'साहिब' कहते हैं और बड़ी तत्परता से अवतारवाद का खंडन करते हैं। राम, कृष्ण, वामन, मत्स्य, परशुराम, इत्यादि सारे अवतारों को वे एकदम अस्वीकार कर देते हैं। वह किसी से किसी प्रकार सम्बन्धित भी नहीं है। न उसके जाति-पाति है, न छूत-अछूत. वह आवागमन से भी मुक्त है। उसे दूर मत खोजो क्योंकि वह तो कण-कण में ओतप्रोत है। इस संसार में वह तो एक मात्र सत्ता-रूप में विराजमान है। वही रमता राम इस देह में निवास करता है। वह विरोधी धर्माश्रय है—दूर भी नहीं है, पास भी नहीं है; न शीतल है न तापवान। पुरुष न नारी। न वह स्वीकारात्मक शब्दों के बन्धन में आता है, न नकारात्मक शब्दों के बन्धन में। वह रूपरेख-गुणहीन है। वस्तुतः वह द्वन्द्वों से परे अविगत, अपरंपार, ज्ञान-स्वरूप, सर्वव्यापिन्, 'एक'-मात्र है। जो ऐसा है, उसके रूप का वर्णन कैसे किया जाये?

जगत और ब्रह्म के संबंध में भी कबीर के कुछ निश्चित सिद्धांत हैं। कहीं वह ब्रह्म में कर्तृत्व की स्थापना करते हैं, कहीं ब्रह्म उपादान कारण है, कहीं जगत और ब्रह्म में बिंब-प्रतिबिंब का सम्बन्ध है। वही इस सारी सृष्टि में छिप गया है। सारी सृष्टि उसी में स्थित है और उसी द्वारा ओत-प्रोत है। वही शिव है, वही शक्ति। दोनों मूलतः एक ही तत्त्व हैं। लीला-मात्र को वह पुरुष और प्रकृति में विभक्त हो जाता है। उसका भेद कोई नहीं जानता। वास्तव में कोई भेद है भी नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर जीव-जगत और ब्रह्म के अभेदत्व को अपने दर्शन का आधार बनाते हैं परन्तु फिर वे उस पर भक्ति का राजमहल भी खड़ा करते हैं। वह कहते हैं कि यह नहीं कहा जा सकता कि वह (ब्रह्म) पास है या दूर, परन्तु वह अतीत प्रत्येक घट में व्याप रहा है। जहाँ देखो वहीं राम समाया दिखलाई देता है। कोई ऐसा स्थान

नहीं जहाँ वह नहीं हो। परंतु भाव ( भाउ-भगति ) के बिना घट में निरन्तर रहते हुए भी वह बहुत दूर है। काठ में अग्नि का निवास है, परन्तु उसे प्रज्ज्वलित करने के लिए प्रयत्नशील होना होता है। इसी प्रकार भक्ति द्वारा ब्रह्म की अग्नि प्रगट की जाती है। भ्रम ( माया ) और कर्म के बन्धन मनुष्य को बाँधे हुए हैं। ज्ञान की प्राप्ति पर भ्रम का नाश हो जाता है। वस्तुतः यह भ्रम ही अंधकार में दिखलाई देने वाले रज्जु-सर्प की तरह असार है। मनुष्य के भीतर शीतलता का अपार स्रोत है, परन्तु वह मरु-मरीचिका के पीछे दौड़ रहा है। गुरु के उपदेश से भ्रम और कर्म के बन्धन कट जाते हैं। गुरु जीव को राम से मिला देता है। उस समय जीव के आनंद का क्या कहना! इस आनंद का वर्णन करने में कबीर शृंगारिक रूपक का ही आलंबन लेते हैं—कबीर के पदों के पाठक उनसे परिचित ही हैं। इस आभ्यंतरिक मिलन के आनंद का वर्णन केवल रूपकों में ही हो सकता है।

परन्तु भक्त को भी अपनी ओर से कुछ करना है—उसकी साधना का रूप क्या हो। अंततः तो भक्ति के लिए सदगुरु ( गुरु ) की प्रेरणा और ईशानुकंपा की आवश्यकता है ही, परन्तु कुछ नैतिक साधना फिर भी आवश्यक है। यह चित्तशुद्धि की साधना है। निंदा-स्तुति, मान-अपमान, माया-मोह, धन-यौवन, इंद्रिय-सुख और तर्क-वितर्क में मनुष्य हृदय की एकांतिक प्रेमसाधना को भूल गया है। साधक को इन पतनोन्मुख द्वैतों से ऊपर उठना होगा। कबीर भाव-मात्र के उपासक हैं। वह षट्दर्शन, वर्णाश्रम, स्मृति-पुराण, वेद-शास्त्र, तप-तीर्थ, व्रत-पूजा, संयम-नियम, दान-पुण्य कुछ भी नहीं मानते। जहाँ हृदय में कुटिलता का निवास है, वहाँ इन सबसे हरि की उपलब्धि कैसे होगी! कबीर ने मानव-जीवन की छलनाओं और वितृष्णाओं के बड़े सुन्दर वर्णन उपस्थित किये हैं। उन्होंने बार-बार हृदय-मन की शुद्धता की आवाज़ उठाई

है ; अंतिम साधन चाहे भगवद्भक्ति हो परन्तु मनुष्य को अपने व्यक्तित्व को दर्पण की तरह स्वच्छ करना है।

अष्टपदी रमैणी और अंतिम चौपदी रमैणी में कबीर ने हिंदू-मुसलमानों के सारे कर्मकांडों, बाह्याचारों और रूढ़िवादों का विरोध किया है। वह कहते हैं—मैंने तुर्की धर्म (इसलाम) की बड़ी शोध की, परन्तु वहाँ ग़ाफ़िलों में अहंभाव ही पाया। जो बालपन में दूध से पोसने वाली गोमाता का जिह्वा-स्वाद के लिए बध करते हैं, वह भिस्त (वहिश्त) कैसे पायेंगे।—'दिल दरिया दीदार बिन, भिस्त कहाँ थैं होइ।' पंडित भी कर्मकांडों में फँस कर तथ्य को भूल गया है। कबीर मुल्ला और खत्री की नई व्याख्या उपस्थित करते हैं। सच तो यह है कि कबीर की दृष्टि मूल तत्त्व तक पहुँचती है। वह केवल ऊपरी सतह को देखनेवाले साधारण जन नहीं हैं। इसी से उन्होंने रमैणियों में आध्यात्मिक जीवन के मूलभूत तत्त्वों की खोज की है और उन्हें पाकर वे बाह्याडंबरों और हिन्दू-तुरुक के झगड़ों के विरुद्ध खड्गहस्त हो उठे हैं। वस्तुतः बाहर और भीतर की खोज अनन्योन्याश्रित ही है। भीतर सामञ्जस्य और एकता का अनुभव करने पर साधक बाहर की विषमताओं के प्रति स्वाभाविक रूप से ही असहिष्णु हो जाता है।

संक्षेप में, यह कबीर की रमैणियों की विचारधारा है। बहुत थोड़े में कबीर की सारी विचारधारा आ गई है और उनकी अद्वैत-भक्ति की एक पूरी झाँकी हमें मिल जाती है।

## साखियाँ

'कबीर-ग्रंथावली' में कबीर की साखियों का विषय के अनुसार ५६ अङ्गों में विभाजन कर दिया गया है। निश्चय ही कबीर ने अपनी रचनाओं को इस तरह नहीं रखा होगा। यह सम्पादित सामग्री है जिस पर

दादूवाणी की क्रम-योजना की छाप है। फिर भी यह वर्गीकरण महत्वपूर्ण है क्योंकि इस तरह हमें एक ही विषय के अंतर्गत कबीर की विचारधारा का सारा उतार-चढ़ाव एक ही स्थान पर मिल जाता है।

वर्गीकरण बहुत अधिक वैज्ञानिक नहीं है। वैज्ञानिकता की आशा भी नहीं की जा सकती। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि कबीर की विचारधारा को समझने के लिए साखियाँ पदों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। पदों में इतने ही विचार हैं जो भावना-बद्ध हो कर गेय बन सके हैं। उपदेशात्मक विचारधारा मुख्यतः 'साखी' में ही प्रकाशित हुई है।

कबीर की विचारधारा का एक बहुत बड़ा भाग नीतिपरक है। नीतिपरक जीवन का आधारभूत 'चितावणी' है। संग्रह में इस अंग में साखियों की बहुत बड़ी संख्या आ जाती है। कबीर ने मानव-जीवन की नश्वरता देखी है और इस संसार को सेमल के फूल के समान निस्सार पाया है। मानव का सारा ऐश्वर्य, सारा गर्व, सारा ज्ञान काल के आगे बेकार है। एक दिन सब चिता में जल जाता है या मिट्टी बन जाता है। यह संसार दुःख का भाँडा है। सब जंजीर में बंधे है, फिर चाहे वह जंजीर सोने की ही हो। इस चेतावनी के द्वारा कबीर मनुष्य को माया-मोह से विरत कर ईश्वरनिष्ठ करना चाहते हैं। मनुष्य-जीवन की सार्थकता यही है कि वह या तो सत्संग करे या गोविंद के गुण गाये। काया तो काठ की हाडी है। राम का नाम ही रह जाता है।

साधक (भक्त) के दो बड़े शत्रु हैं मन और माया। मनुष्य को मन के कहे अनुसार चलना छोड़ना होगा। मन के द्वारा हो इंद्रियां अपना काम करती हैं। अतः मन का निग्रह ही इंद्रियों कानिग्रह है। कबीर ने मन को विष की क्यारी कहा है। वह उसे 'बिसमिल' करना चाहते हैं। यह मन ही अस्थिरता और द्विविधा का केन्द्र है। यह मन पानी की तरह पतला है,

धुएं से भी झीणा है, पवन से भी उतावला है। साधक इसे ही पहले साधता है। इस मन का सब से बड़ा विकार अहंभाव है। इस 'मैमंता' मन को मारना है। भक्ति का द्वार तो सँकड़ा है। राई के दसवें भाग के बराबर। परन्तु मन तो मस्त हाथी है। फिर वह इस द्वार के भीतर कैसे प्रवेश कर सकता है? काया को कमान बना, पंचतत्त्वों को बाण और इस मन-मृग को मार। यह मन माया का शिकार है। वह मोहनी है। पापिणी है। वह सारे संसार को मोह लेती है, केवल संत की वह दासी बनी रहती है। कनक-कामनी माया की ही झलमल हैं। आशा, तृष्णा, धन-यौवनलिप्सा और अहम्भाव को नाश करके ही आध्यात्मिक जीवन के मार्ग पर पैर रखा जा सकता है। कबीर कंचन-कामिनी के प्रति वितृष्णा पैदा करते हुए थकते नहीं। उन्होंने 'कामिनी' को काली नागिनी कहा है। कामी जन तो इस संसार को भी नहीं जीत सकता, परलोक को वह कैसे जीतेगा?

नीतपरक जीवन का सब से बड़ा सहायक है सत्संग और सब से बड़ा बाधक है कुसंग। इसी से कबीर ने सत्सङ्ग की महिमा गाई है और कुसंग के त्यागने का उपदेश दिया है। वह साधु-असाधु के भेद को विस्तार पूर्वक समझाते हैं। साधु की परिभाषा में वैष्णव की परिभाषा आ जाती है। वैष्णव ही कबीर का परमादर्श है। परन्तु सत्य के उपासक कबीर दुराचारी वैष्णव को ही बुरा कहने से नहीं चूकते। सच्चे संत की भाँति उन्हें कपट से घृणा है। वह दया-निर्बैरता को आध्यात्मिक जीवन का क, ख, ग मानते हैं। उन्हें निंदा भी प्यारी है। निंदा से आत्मदर्शन की प्रवृत्ति बढ़ती है और साधक में विनम्रता का भाव आता है।

आध्यात्मिक जीवन नीतिपरक जीवन की उत्तरावस्था है। यह कबीर की साधना की दूसरी सीढ़ी है। आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करते ही गुरु की बात आती है। गुरु की महिमा अनंत है। उसका उपकार अनंत

है। उसी ने अनन्त लोचन खोले और उस अनन्त (परमेश्वर) के दर्शन कराये।[१] सद्गुरु ही भगवत्प्रेम से साधक को परिचित कराता है। उसका बाण 'शब्द' (उपदेश) है जो अन्तर में चोट करता है।[२] इस चोट के बाद साधक में जिस अंतर्मुखी प्रवृत्ति का विकास होता है वह अनिर्वचनीय है। उसे उस परमप्रिय की सत्ता के अतिरिक्त और कुछ दीखता ही नहीं। उसका व्यक्तित्व ही बदल जाता है।[३] साधारण जन लोकधर्म के पीछे लगे-लगे चलते हैं। जब सद्गुरु मिल जाता है तो वह अंतर्नयन खोल देता है, हाथ में दीपक पकड़ा देता है।[४] यह उपकार क्या भूला जा सकता है? गोविंद की कृपा से ही उसकी प्राप्ति संभव है।[५] कबीर

---

१ सतरगु की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार॥

२ सतगुर साँचा सूरिवाँ सबद जु बाह्या एक।
लागत ही मैं मिलि गया, पड़ला कलेजै छेक॥
सतगुर मारया बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि।
अँगि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूँ फूटि॥
सतगुर लई कमाँण करि, बाँहण लागा तीर।
एक जु बाह्या प्रीति सूँ, भीतरि रह्या सरीर॥

३ गूगा हूवा बावला, बहरा हूवा कान।
पाऊँ थैं पंगुल भया सतगुर मार्‌या बांण॥

४ पीछैं लागा जाइ था, लोक बेद के साथि।
आगैं थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि॥
दीपक दीया तेल भरि, बाती, दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुणां, बहुरि न आवै हट्ट॥

५ ग्यान प्रकास्या गुर मिल्या, सो जिमि बीसरि जाइ॥
जब गोविंद कृपा करी, तब गुर मिलिया आइ॥

उस सतगुरु की प्रशंसा करते हुए थकते नहीं जिन्होंने जातिपाति-कुल-भेद से ऊपर उठाकर उन्हें श्रेष्ठतम अध्यात्मभाव से परिचित कराया।[६] सच पूछिये तो गुरु गोविंद एक ही हैं। अहंभाव को नष्ट करके ही दोनों को पाया जाता है। गुरु ने ही प्रेम का पासा सिखाया।[८] एक दिन प्रसन्न होकर गुरु ने एक ऐसा प्रसंग कहा कि प्रेम का बादल बरसने लगा और अंग-प्रत्यंग एवं अभ्यंतर उसकी सुधा में सिंचित हो गये। परमात्मा से परिचय हुआ। सब दुख दूर हुआ। तब से मन सदैव उस तत्त्व के सम्मुख ही अवस्थित रहता है।[९]

कबीर की साधना का आरम्भ ग्यांन (ज्ञान) से होता है और वह विरह पर समाप्त होती है। प्रारम्भिक साधन के रूप में 'सुमिरण' (स्मरण, जप) का महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु नामस्मरण के लिए हृदय

---

६ कबीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया आटै लूंण।
जाति पाति कुल सब मिटै, नाँव धरौगे कूंण॥

७ गुर गोविंद तो एक है, दूजा यहु आकार।
आपा मेट जीवत मरै, तौ पावै करतार॥

८ चौपड़ि माँडी चौहटै, अरध उरध बाजार।
कहै कबीरा रामजन, खेलौ सन्त विचार॥
पासा पकड़या प्रेम का, सारी किया सरीर।
सतगुर दाँव बताइया, खेलै दास कबीर॥

९ सतगुर हम सूं रीझि करि, एक कह्या प्रसंग।
बरस्या बादल प्रेम का, भीज गया सब अंग॥
कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरष्या आइ।
अंतरि भीगी आतमां, हरी भई बनराइ॥
पूरे सूं परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्हीं आत्मां, ताथैं सदा हजूरि॥

में प्रेम का होना अनिवार्य है। राम-नाम की महत्ता अपार है; परंतु भक्ति के बिना वह निस्सार है।[१०] नामस्मरण जिह्वा से नहीं, मन से होना चाहिये। अंत में राम-राम जपता हुआ एक दिन भक्त राम बन जाता है। अहंभाव के नाश के लिए नाम-जप सब से बड़ा साधन है और अहंभाव का नाश होने पर सब कहीं राम के सिवा और कुछ दिखलाई ही नहीं देता।[११]

परंतु कदाचित् नामस्मरण विरहभाव की आधार-भूमि मात्र है; मुख्य साधन है अंतर में विरहभाव की जाग्रति। पहले प्रियतम को पहचान ले। वह 'साहिब', 'खसम' 'भरतार' कैसा है। वह सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, फिर भी सबसे अलग, स्वतंत्र है।[१२] वह पुष्पबास से भी पतला अनुपम तत्त्व है।[१३] उस प्रियतम के अतिरिक्त अन्यदेव की भक्ति व्यभिचार ही

---

१० भगति भजन हरि नाँव है, दूजा दुक्ख अपार।
मनसा बाचा क्रमनाँ, कबीर सुमिरण सार॥

११ मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहिं ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि॥
तूं तूं करता तूं भया, मुझ में रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूँ॥

१२ संपद मांहिं समाइया, सो साहिब नहीं होइ।
सकल मांड में रमि रह्या, साहिब कहिए सोइ॥
रहै निराला माँड थैं, सकल माँड ता माँहिं।
कबीर सेवै तास कूं, दूना कोई नाहिं॥

१३ जाके मुह माथा नहीं, नाहीं रूपक रूप।
पुहुप बास थैं पातला, ऐसा तत्त अनूप॥

है। [१४] भक्त को तो उस प्रियतम का ही पल्ला पकड़ना है। यह अनन्य भक्ति है। कबीर ने इसकी तुलना पतिव्रता के निष्काम प्रेम से की है। राम के अतिरिक्त अन्य की आशा दुराशा है। जो जन पानी में ही घर बनाकर तृषित रहते हैं वे सचमुच अभागे हैं।[१५] चातक स्वाति की उपमा से कबीर इसी अनन्य भाव का गीत गाते हैं।[१६] वह प्रियतम तो सिंदूर की रेखा है, उसी से सुहाग है। सिन्दूर की रेखा के स्थान पर कहीं काजल की रेख लगाई जाती है।[१७] प्रेम-परक रूपकों में कबीर इस अनन्यता को बड़े प्रभावशाली ढंग से उपस्थित करते हैं।[१८] उस प्रियतम को छोड़ कर तो 'बहिश्त' ( स्वर्ग ) का सुख भी बेकार है।[१९] अंत में जब प्रियतम की प्राप्ति होती है तो साधक आनंद से भर जाता। 'हरिरस', 'रामरस' अथवा

---

१४ भोलै भूली खसम कै, बहुत किया बिभचार।
सतगुर गुरू बताइआ, पूरबिला भरतार॥

१५-१६ आसा एक जु राम की, दूजी आस निरास।
पांणी माँहै घर करैं, ते भी मरैं पियास॥

१७ कबीर रेख स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ।
नैंनूं रमइया रमि रह्या, दूजा कहाँ समाइ॥

१८ कबीर प्रीतड़ी तौ तुसौं, बहु गुणियांले कंत।
जे हँस बोलौं और सौं, तो नील रँगाऊं दंत॥
नैनाँ अंतरि आव तूं, ज्यूं हौं नैन झँपेउं।
ना हौं देखौं और कूं, नाँ तुझ देखन देउं॥

१९ दोजग तो हम अंगिया, यहु डर नाहीं मुझ।
भिस्त न मेरे चाहिये, बाझ पियारे तुझ।

'रामरसायण' के नाम से कबीर ने उस अद्वैतरस का स्मरण किया है। परन्तु इस रस की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। यह सिर का सौदा है।[२०] परंतु एकवार खमार चढ़ा कि फिर उतरा नहीं। वह 'मैमंता' 'राम अमलि' का मस्त जीवन्मुक्त और अतीत बन जाता है।[२१] वह 'जीवनमृतक' जगत की आशा छोड़ देता है।[२२] वह संसारिक जीवन और सुखों के प्रति मृतक समान बन जाता है। अहम्भाव का नाश होता है और आध्यात्मिक जीवन आरम्भ होता है। परन्तु ऐसा मरना कितने लोग जानते हैं! जीवनमृतक ही काल को परास्त कर सकता है। कैसे अचंभे की बात है।[२३] स्वयं हरि उसके पीछे-पीछे दौड़ता है।[२४]

---

२० राम रसाइन प्रेमरस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ है, माँगै सीस कलाल॥
कबीर भाठी कलाल की, बहुतक बैठे आइ।
सिर सौंपे सोई पिवै, नहीं तो पियी न जाइ॥

२१ हरि रस पिया जाँणिये, जे कबहुं न जाइ खुमार।
मैंमंता घूमत रहै, नाहीं तन की सार।
मैंमंता अविगत रता, अकलप आसा जीति॥
राम अमलि लाता रहै, तजै जीवत मुकति अतीति।

२२ जीवन मृतक ह्वै रहै, जगत की आस॥

२३ मरताँ मरताँ जग मुवा, ओसर मुवा न कोइ।
कबीर ऐसैं मरि मुवा, ज्यूं बहुत न मरनाँ होइ॥
घर जालौं घर उबरैं, घर राखौं घर जाइ।
एक अचंभा देखिया, मड़ा काल को खाइ॥

२४ कबीर मन मृतक भया, दुरबल भया सरीर।
तब पैंड़े लागा हरि फिरै कहत कबीर कबीर॥

अनेक साखियों में कबीर ने निर्गुण ब्रह्म के अलौकिक रूप-गुण और माधुर्य का चमत्कारिक वर्णन किया है। कभी उसने अनंत तेज को सूर्य के तेज के समान कहा है[२५], कहीं उसे रवि-शशि के बिना फैलने वाला उजाला कहा है।[२६]कभी अनिवर्चनीय, कभी केवल दर्शनीय, कभी अगम-अगोचर, कभी अंतर में विकसित कमल, कभी बिना जल के खिलने वाला सरोरुह। योगियों और निरंजनियों की परिभाषा को भी कबीर अपना लेते हैं। परन्तु वस्तुत: वह परमसता अचिंत्य ही है। आत्मा की परमात्मा की ओर लौटने की प्रकिया को कबीर अनेक रूपकों से याद करते हैं। पन्छी गगन को उड़ चला। मीन ने उलटा मार्ग ग्रहण कर लिया। सुरति निरति में समा गई। वह दीपक अंतर में प्रकाशित है, परन्तु अहंकार का अन्धकारपूर्ण आवरण उस पर पड़ गया है। अहंकार का नाश होने पर यह दीपक दिखलाई पड़ता है और अंधेरा मिट जाता है। अद्वैतानन्द का वर्णन करते हुए कबीर कल्पना की सबसे ऊँची उड़ान लेते हैं। पूर्ववर्ती साधकों का साहित्य उन्हें इस दिशा में बराबर सहारा देता है। इस अवस्था को पहुँच कर साधक हैरान रह जाता है। उसकी इंद्रियाँ उस तथ्य को पूर्णत: ग्रहण नहीं कर सकतीं। उसकी भाषा अटपटी होती है, परन्तु उसका संकेत वाणी से भी अधिक भावाभिव्यंजक बन जाता है।

संक्षेप में, कबीर की साखियों में हमें उनकी साधना के तत्त्व कुछ

---

२५ कबीर तेज अंनत का, मानौं ऊगी सूरज सेणि।
पति संगि जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि॥

२६ कौतिग दीठा देह बिन, रवि ससि बिना उजास।
साहिब सेवा मांहि है, बे-परवांही दास॥

अधिक प्रामाणिक रूप में ही मिलते हैं। इस क्षेत्र में वह योगियों और निरंजनियों के अधिक ऋणी नहीं हैं और उनका वैष्णव भक्त और सूफ़ी रूप ही अधिक प्रकाशमान है। फलतः यहाँ हम कबीर के व्यक्तित्व के अधिक निकट पहुँचते हैं। कबीर ने सारे आध्यात्मिक जीवन की खोज की है। उनकी साधना 'शूर' की साधना रही है। वह मध्यम मार्ग के उपासक हैं। अतिवाद उन्हें अच्छा नहीं लगता। संत तो सारग्राही होता है। इसी से सिद्धों, योगियों और निरंजनियों की विचारधारा भी उन्होंने अंशतः अपना ली है। परन्तु उनकी खोज अपनी निजी खोज है, प्राप्ति भी उतनी ही वैयक्तिक है। वस्तुतः ग्रंथावली की रचनाओं में रमैणी के बाद 'साखी' ही कबीर की भावधारा और साधना का प्रतिनिधित्व करती हैं। पदों में क्षेपक की संभावना अधिक है।

---

## १०

# 'बीजक'

कबीर-पंथियों द्वारा 'बीजक' कबीर की वाणी का प्रामाणिक संग्रह माना जाता है। 'बीजक' के कई अर्थ किये गये हैं। 'बीजक' का साधारण अर्थ है 'बीज' या 'सार'। 'बीजक' बही-खाता रखने का एक व्यापारिक ढंग भी है जिसमें लेना-देना लिखा रहता है। 'बीजक' का एक तीसरा अर्थ भी है—किसी ऐसे मानचित्र या तालिका को जिसकी सहायता से गुप्त निधि पाई जाए 'बीजक' कहते हैं। ३७ वीं० रमैनी से यह अंतिम अर्थ ही निकलते हैं—

> बीजक बतावै वित्त को, जो वित्त गुप्ता होय।
> शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥

जान पड़ता है संग्रह-कर्ता में इसी अर्थ में 'बीजक' शब्द का प्रयोग किया है और अत्यंत सार्थक समझ कर ही इस शब्द को चुना है। पहले-दूसरे अर्थ भी लागू हो सकते हैं। 'बीजक' में कबीर के संदेश का 'बीज' या 'सार' तो है ही। उसे एक प्रकार से कबीर के जीवन की आध्यात्मिक रोकड़ भी कह सकते हैं। परन्तु ये अर्थ उतने चमत्कारक नहीं हैं।

'बीजक' की कविताएँ छन्द-क्रम से संग्रहीत हैं। एक ही प्रकार के छन्द की कविताएँ एक स्थान पर मिलती हैं। क्रम इस प्रकार है—

१—आदि-मंगल—छोटी, प्राक्कथनात्मक कविता

२—रमैनी—दोहा-चौपाई

३—शब्द—पद

४—चौंतीसी—नागरी वर्णमाला के ३४ व्यंजनों के आधार पर धार्मिक विवेचन।

५—विप्रमतीसी—ब्राह्मण-धर्म विरोधी छोटी रचना

६—ककहरा, बसन्त, चाँचरी, बेली, बिरहूली, हिंडोला—पद ( लोकगीत की शैली की रचनाएँ )

७—साखी—दोहे

८—सायर बीजक को पद—पद। इस पद में 'बीजक' का 'सार' उपस्थित किया गया है। साहित्य की मात्रा की दृष्टि से पहले शब्द आते हैं, फिर रमैनियां, फिर सखियाँ।

बीजक के कई संस्करण प्राप्त हैं और उनमें काफ़ी भेद है। अभी किसी भी 'बीजक' को प्रमाणिक कहना असंभव है :

(१) 'बीजक' का एक संस्करण १८६८ ई० में बनारस में छपा। इसमें महाराज रीवाँ विश्वनाथ सिंह की टीका है।

(२) १८९० ई० में पादरी प्रेमचन्द ने कलकत्ता से एक संस्करण छपवाया। इसमें छन्दों का क्रम बहुत बदला हुआ है और कबीर-पंथियों के 'बीजक' से नहीं मिलता।

(३) एक संस्करण १९०५ ई० में इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। इसमें बुरहानपुर के पूरनदास की टीका है।

(४) १९११ ई० में कानपुर के पादरी अहमदशाह ने एक नया संस्करण छपवाया जो रीवा महाराज के संस्करण पर आधारित है। परिशिष्ट में वे सब रचनाएँ जोड़ दी गई हैं जो इस संस्करण में नहीं मिलतीं। इसमें ११५ शब्द हैं और साखियों की संख्या ४४५ है। तालिका-द्वारा चारों प्रसिद्ध संस्करणों की तुलना इस प्रकार की जा सकती है—

| संख्या | रीवां महाराज (१८६८) | प्रेमचंद (१८६०) | पूरनदास (१६०५) | अहमदशाह (१६११) |
|---|---|---|---|---|
| (१) | आदिमंगल | × | × | आदिमंगल |
| (२) | × | × | प्रीतम अनुसार | × |
| (३) | रमैनी (सं०८४) | रमैनी (सं० ८४) | रमैनी (सं०८४) | × |
| (४) | × | शब्द (सं० ११३) | शब्द (सं०११५) | शब्द (सं० ११५) |
| (५) | चौंतीसी | चौंतीसी | चौंतीसी | चौंतीसी |
| (६) | — | विप्रमतीसी | विप्रमतीसी | विप्रमतीसी |
| (७) | ककहरा (सं०१२) | ककहरा (१२) | ककहरा (सं०१२) | ककहरा (सं०१२) |
| (८) | बसन्त (१२) | बसन्त | बसन्त (१२) | बसंत (१२) |
| (९) | चाँचरी (२) | चाँचरी (२) | चाँचरी (२) | चाँचरी (२) |
| (१०) | बेली ( २ ) | बेली ( २ ) | बेली ( २ ) | बेली (२) |
| (११) | बिरहूली | बिरहूली | बिरहूली | बिरहूली |
| (१२) | हिंडौला (३) | हिंडौला (३) | हिंडौला (३) | हिंडौला (३) |
| (१३) | साखी (३४३) | साखी (३४३+६०) | साखी (३५३) | साखी (४४५) |
| (१४) | — | — | — | सायर बीजक को पद (१) |

इन संस्करणों के अतिरिक्त कुछ अन्य भी क्षेत्र में हैं परन्तु वे संभवत: आधुनिक हैं। संभव है, सम्प्रदायों और कबीरपीठों में और भी हस्तलिखित प्रतियां हों, परन्तु वे प्राप्त नहीं हैं।

'आदिमंगल', 'सायर बीजक के पद' और 'प्रीतम अनुसार' को हम प्रामाणिक रचनायें नहीं मान सकते। वे मूल-ग्रंथ के अभिन्न अंग नहीं हैं। कदाचित् सम्पादकों ने जनश्रुतियों के आधार पर इन्हें अपनी ओर से जोड़ दिया है। 'आदि-मङ्गल' के २५ दोहों में सृष्टि-रचना का वर्णन है। कबीर की और रचनाओं में इस प्रकार की सामग्री नहीं मिलती, परन्तु 'पन्थ' की रचनाओं में इस विषय का विस्तार मिलता है। शैली-भेद भी महत्वपूर्ण है। इस रचना की विस्तारपूर्ण विवेचना हम बाद में करेंगे। यहाँ यही कहना पर्याप्त है कि यह कबीर की प्रामाणिक कृति नहीं मानी जा सकती। 'सायर बीजक को पद' और 'प्रीतम अनुसार' की भी यही परिस्थिति है; परन्तु यह रचनायें उतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं। वे किसी नई विचारधारा को उपस्थित नहीं करतीं।

अन्य रचनाओं में सब से अधिक विभिन्नता साखियों में मिलती है। वास्तव में कबीर के नाम पर सैकड़ों साखियाँ प्रचलित हो गई हैं। वे बीजक में नहीं रही होंगी और कदाचित् हस्तलिपि करने वाले उन्हें जोड़ देने का मोह सम्वरण नहीं कर सके।

पूरनदास का संस्करण कबीर-चौरा के कबीरपन्थ को मान्य है। रीवाँ महाराज के ग्रन्थ की मान्यता छतीसगढ़ की कबीरपन्थी शाखा में विशेष रूप से है। इन दो संस्करणों में पहली दो रमैनियाँ विभिन्न ढंग से रखी मिलती हैं। एक जनश्रुति है कि कबीर के दो शिष्य थे जग्गोदास और भग्गोदास। जब कबीर संसार से विदा होने लगे तब उन्होंने उनकी मा को 'बीजक' दे दिया। कबीर के बाद इनमें से प्रत्येक ने 'बीजक' को अपनी सम्पत्ति बनाना चाहा। मा ने समझौता कराया—'बीजक' दोनों को मिले

परन्तु एक में 'जीव-रूप' वाली रमैनी से उसका आरम्भ हो और दूसरी में 'अन्तरज्योति' वाली रमैनी से। इस प्रकार इन दो संस्करणों मे पहली और दूसरी रमैनियों का क्रम बदला हुआ है।

दूसरी जनश्रुति यह है कि 'बीजक' मूल रूप में कबीर ने भग्गूदास (या भगवानदास) को लिखवाया था। भग्गूदास उसे धनौटी ले भागे। वहाँ बहुत दिनों तक 'बीजक' की प्रतिलिपि धनौटी के महन्तों के संरक्षण में रही और बहुत बाद में बाहर प्रकाशित हुई। कुछ लोग कहते हैं कि कबीर ने स्वयं रीवाँनरेश को 'बीजक' की प्रति दी थी और उनके यहाँ धरमदास के हाथ की लिखी १४६४ ई० की प्रति है, परन्तु जहाँ तक अनुसन्धानों से पता चलता है, ऐसी कोई प्रति रीवाँ राज-खजाने में नहीं है।

कबीर ने स्पष्ट ही लिखा है—'मसि कागद छूओ नहीं'। कबीर ने इकतारे की झंकार पर, ताना-बाना बुनते हुए, जो गीत गाये वे उनके भक्तों और शिष्यों ने याद कर लिये। कुछ ने लिख भी लिए होंगे। बाद में जब कबीरपन्थ की सृष्टि हुई तो एक 'ग्रन्थ' की आवश्यकता जान पड़ी। कदाचित् इसीलिए कबीर की कविताओं का संग्रह हुआ और 'बीजक' का जन्म हुआ। हो सकता है कि संग्रह-कर्ता कोई भग्गोदास (या भगवानदास) हो, परन्तु यह निश्चित है कि 'आदिग्रंथ' के संग्रहकर्ता अर्जुनदेव (१६०४) को इस संग्रह का कोई पता नहीं था। यह भी सम्भव है कि इस से पहले पूर्व में यह संग्रह उपस्थित हो गया हो परन्तु गुरु अर्जुनदेव को इसका पता नहीं हो। परन्तु पहली बात की ही सम्भावना अधिक है। यदि हमें 'बीजक' की आदि प्रति भी मिल जाती, तब भी हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते थे कि यह कबीर की प्रामाणिक रचना है और इस विषय में अब भी सन्देह है। परन्तु फिर भी सारे ग्रन्थ में शैली और विचार-धारा की बड़ी समानता मिलेगी जिससे जान पड़ता है

कि 'बीजक' की संग्रहीत रचनायें एक ही व्यक्ति द्वारा उपस्थित की गई हैं या सम्पादित हैं। कदाचित् पूर्व में मौखिक रूप से कबीर की रचनाओं की कोई परम्परा चल रही हो और किसी एक भग्गू या भगवानदास ने उसे लिपिबद्ध कर दिया हो।

कबीर की प्रामाणिक कविताओं तक पहुँचना आज कुछ कठिन हो रहा है। कबीर की कविताओं को बाद की क्षेपकों से अलग करने के लिए हमें कबीर की विशेषताओं को ध्यान में रखना होगा। कबीर की विचारधारा में सभी जगह एक की बात मिले यह सम्भव नहीं है, परन्तु फिर भी उनकी विचारधारा की एक सामान्य रूपरेखा भी होगी ही। इस सामान्य रूपरेखा से जो बातें बाहर पड़ती हैं वे स्पष्टतः कबीर से सम्बन्धित नहीं हो सकतीं। ये सामान्य विचार इस प्रकार हैं ;

(१) बहुत से हिन्दू विचार ऐसे हैं जिनका इस्लामी संस्कार के कारण कबीर ने बराबर विरोध किया, स्पष्ट रूप से विरोध किया, जैसे मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, पुराण-कथा, अवतारवाद, कष्ट-कृच्छ्र साधना। जिन कविताओं में इन बातों की स्वीकृति है, वह स्पष्ट ही कबीर की विचारधारा का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकतीं। बीजक के पहले 'ककहरा' में योग का वर्णन है और पहले-दूसरे 'हिंडौले' में स्पष्ट रूप से अवतारवाद की प्रेरणा है। ये कविताएँ स्पष्ट रूप से बाद की रचनायें जान पड़ती हैं।

(२) जिन कविताओं में गुरु-पूजा का उपदेश है, वे भी कबीर की नहीं हैं। कबीर ने गुरु की आवश्यकता और महत्ता को स्वीकार किया है, परन्तु कहीं भी उसे ईश्वरीय नहीं माना। वे गुरुडम के पूर्णतयः विरोधी हैं। वह बराबर अच्छे और बुरे गुरु में भेद करते हैं। कबीर के बाद जब 'पंथ' की स्थापना हुई तो गुरुओं और महन्तों का प्रभाव भी बढ़ा। जान पड़ता है, बाद में कबीरपन्थी महन्तों ने ये रचनायें जोड़ दीं। इन

रचनाओं में गुरु गुरु-मात्र नहीं है। वह ईश्वर का प्रतिनिधि है। ये कविताएँ भी कबीर की छाप से चल रही है, परन्तु वे पूर्ण रूप से संदिग्ध हैं।

(३) कबीर के मौलिक साहित्य में वर्णाश्रम का विरोध चाहे इतना उग्र न रहा हो, यह निश्चय है कि उसमें ब्राह्मण की मान्यता ज़रा भी नहीं होगी।

(४) कबीर हिन्दूमत और इस्लाम धर्म दोनों को भले ही एक ईश्वर की दो भिन्न अभिव्यंजनाएँ मान लें, परन्तु यह निश्चित है कि वे पुराण, वेद और कुरान को ईश्वरीय नहीं मान सकते।

(५) सृष्टि की उत्पत्ति ('सर्ग-विसर्ग') के सम्बन्ध में कबीर ने कुछ कहा होगा ऐसा चिन्त्य है। कबीर की मूल खोज आध्यात्मिक थी, दार्शनिक नहीं। अतः दर्शनक्षेत्र में उनका प्रवेश चिंता का विषय है। उन्होंने पण्डितों और तार्किकों को बार-बार चुनौती दी है। फलतः यह स्पष्ट है कि उच्च कोटि की दार्शनिक तर्क-वितर्कपूर्ण रचनाएँ कबीर की, कृति नहीं हो सकतीं। 'आदिमङ्गल', पहली दो रमैनियाँ और और भी कुछ कवितायें इस तरह की गवेषणा उपथित करती हैं। ये रचनाएँ स्पष्ट-रूप से कबीर की विचारधारा से दूर जा पड़ती हैं।

परन्तु फिर भी, कड़ी आलोचना के बाद भी, 'बीजक' का एक बड़ा भाग ऐसा बच रहता है जो निस्सन्देह कबीर की विचारधारा का प्रतिनिधित्व कर सकता है। यह दूसरी बात है कि उसमें पाठभेद हों, या मौखिक रूप से चलने के कारण उसमें भाषा या भाव-सम्बन्धी कुछ नये संस्कार आ गये हों।

## रमैनी

'आदिग्रंथ' में रमैनियाँ नहीं हैं। 'कबीर-ग्रन्थावली' में सात बड़ी २

रमैनियाँ है और उनमें कबीर की विचारधारा अत्यन्त स्पष्ट-रूप में दिखलाई देती है। 'बीजक' की रमैनियाँ इन रमैनियों से भिन्न हैं। इनमें से कुछ 'आदिग्रंथ' के वे गेय पद मात्र हैं जो चौपई या चौपाई छन्द में लिखे गये हैं। इनमें से कुछ 'कबीर-ग्रंथावली' में भी मिल जाते हैं। कुछ रमैनियां 'कबीर-गथन्थावली' की रमैनियों का अंश-मात्र हैं। परन्तु अधिकांश सामग्री नई है। इस नई सामग्री में हमें विचारधारा का कुछ नया रूप भी मिलता है जो किसी प्रकार कबीर से सम्बन्धित नहीं हो सकता। यह विचार-धारा क्या है, इसका स्रोत क्या है, इस विषय पर हमें विचार करना है।

रमैनियों की संख्या ८४ है। अधिकांश रमैनियों में ३, ४, ६, ७ या अधिक चौपाइयों या चौपइयों के बाद 'साखी' आती है। कुछ साखियों में कबीर की छाप है, कुछ में नहीं। 'कबीर-ग्रन्थावली' की रमैनियों में अनेक 'पद' हैं और प्रत्येक के अन्त में साखी है, परन्तु छाप केवल अन्तिम साखी में है। इस सामग्री को अलग-अलग बिखेर देने से स्वभावतः ऐसी साखियाँ भी उपस्थित हो गईं जो कबीर की छाप से शून्य हैं। एक आश्चर्य की बात यह है कि साखी के प्रचलित दोहा-छंद का व्यतिक्रम भी हमें मिलता है। उदाहरण-स्वरूप सत्तरवीं रमैणी में 'चौपाई' को 'साखी' बना दिया गया है। वस्तुतः इस रमैनी में कबीर के एक गेय चौपाई-पद को ज्यों का त्यों रख दिया गया है। छयत्तरवीं 'साखी' दोहा नहीं, सोरठा है। इस प्रकार के अपवाद 'बीजक' की प्रामाणिकता को संशय में डालते हैं।

कबीर के पदों में सृष्टितत्त्व और जगत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विशेष कुछ नहीं कहा गया है। एक प्रसिद्ध पद में कबीर ने इस प्रकार की चिंता को व्यर्थ बताया है। ये सब अचिन्त्य विषय हैं। जहाँ वे किसी प्रकार की उत्पत्ति की कल्पना करते हैं वहाँ वे 'सांख्य'-मतवाद की ओर ही अधिक झुकते हैं। रमैनियों में हमें सृष्टिवाद का पौराणिक रूप मिलता है

जो कदाचित् परवर्ती कबीर-पन्थ की उपज है। जीव रूप परमात्मा ने ही (जो अंतर्यामिन् भी है) अन्तरज्योति प्रकाशित की और उससे इच्छा-रूपी नारी की अवतारणा की। इसका नाम रखा गया गायत्री। इस गायत्री (माया) के अनन्त भग-लिंग थे। इसके आदि-अंत का पता लगाना असम्भव था। ब्रह्मा, विष्णु, महेश नाम के इसके तीन पुत्र थे। इसी ने बाद में ब्रह्मा को पति-रूप में वरण कर लिया।[1] अपने तीनों पुत्रों के लिए गायत्री (माया) ने खंडों-ब्रह्मांडों की रचना की। उन्हीं के लिए छः दर्शन और छयानवे पाखंड बनाये।[2] ये अण्ड-पिण्ड-ब्रह्माण्ड, नवखंड पृथ्वी, पंचतत्त्व सब माया के बहु-विस्तार हैं।[3] माया-माता की प्रेरणा से ही अक्षर ज्ञान का विकास हुआ और ब्रह्मा ने वेद-कितेब का प्रचार किया।[4] एक अन्य रमैनी में कबीर एक अविचल पुरुष से संसार की उत्पत्ति इस प्रकार बताते हैं—पहले उसने ब्रह्मा को बनाया और उसे इस ब्रह्माण्ड का शासन दिया, सातद्वीप और नवखण्डों की रचना इसी ब्रह्मा के लिए की। फिर सत्य की स्थापना के लिए विष्णु की रचना की परंतु वह सत्य (विष्णु) तीनों लोकों में भी समा नहीं सका। तब उसने लिंग-रूप शङ्कर को जन्म दिया जिसने पृथ्वी को कीलित कर रसातल में वास किया। तब उस अविचल पुरुष ने एक अलौकिक सुन्दरी को उत्पन्न किया जिस पर तीनों लोकों के नर-नारी मोहित हो गये। इस का एक नाम माया था, दूसरा पार्वती। इसे उसने तप-कर्ता शङ्कर को दे दिया। वह अविचल पुरुष मूलतः पुरुष-नारी या सत-रज-तम का गुणभेद नहीं मानता, परन्तु बाद को शर्मा, वर्मा, देव और दास, धरती और आकाश नाम के अनेक

---

१ रमैनी, १
२ " २
३ " ३
४ " ५

भेद चल पड़े।[५] रमैनी-कर्ता ने उस अविचल पुरुष को अण्ड और ओंकार के रूप भी देखा है[६]। बीजक के आदिमङ्गल में कदाचित् इसी सामग्री का विकास है। कबीर-पंथ में इसे लेकर एक बहुत बड़ा इंद्रजाल ही खड़ा कर लिया गया है। परंतु 'शर्मा-वर्मा' जैसे नामों के निर्देश से यह स्पष्ट है कि यह प्रक्षिप्त सामग्री है जो कदाचित् १८ वीं शताब्दी से पहले की चीज़ नहीं ठहर सकती।

कुछ रमैनियाँ ऐसी हैं जिनमें 'धर्म' को पूज्य कहा गया है और साधना में उसे उच्चतम स्थान दिया गया है।[७] कदाचित् इस तरह की सामग्री बंगाल से छत्तीसगढ़ तक किसी समय फैले हुए धर्म-सम्प्रदाय की साधना से प्रभावित हो। कदाचित् ५०० ई० के लगभग दक्षिण बिहार से लेकर बंगाल तक की हीन जातियों में 'धर्म'-देव की पूजा होने लगी थी। ये धर्म देव बौद्धों के त्रिधर्म (त्रिरत्न) बुद्ध, धर्म और संघ में से धर्म के अवशेष थे। जब मुसलमान इस देश में आये तो बौद्धों ने उन्हें 'धर्म-देव' का ही अवतार माना। मध्ययुग में यह धर्म-सम्प्रदाय पूर्ण रूप से सशक्त था और उसमें शाक्तों और तांत्रिकों के गुह्य और रहस्यमय कर्म-कांडों का समावेश बड़ी तीव्रता से हो रहा था। छत्तीसगढ़ के कबीर-पन्थ के प्रवर्तक धरमदास हैं। सम्भव है यह पहले किसी धर्म-सम्प्रदाय में ही दीक्षित हों या वे उन कबीर-पंथियों द्वारा कल्पित व्यक्ति हों जो 'धर्म'-सम्प्रदाय से कबीर-पन्थ में ग्रहीत हुए। इसमें सन्देह नहीं कि कबीर-पन्थ की अनेक धार्मिक और कर्मकांडी प्रवृत्तियाँ 'धर्म'-सम्प्रदाय की ही अवशिष्ट हैं।

---

५ रमैनी, २७
६ वही
७ रमैनी, ६१

कुछ रमैनियों में योग-पंथ ( अवधूतों और नाथों ) का स्पष्ट विरोध मिलता है। योगियों की काया पलटने की साधना को स्पष्ट ही भ्रम कहा गया है। सूफ़ियों के प्रति भी बीजक-कर्ता सहिष्णु नहीं मालूम होता। उसने एक रमैणी में लिखा है कि शेख तक्की की प्रशंसा सुन कर कबीर मानिकपुर और झूंसी गये। उनका निवासस्थान मानिकपुर बताया गया है। वहाँ इक्कीस पीरों से उनकी भेंट हुई जो उनके चमत्कारों से अत्यंत प्रभावित हुए। उन्होंने हबीबी और नबी के सारे प्रभाव नष्ट कर दिये और शेष अकरदी-सकरदी को उपदेश दिया। यह रमैणी १८ वीं शताब्दी की जनश्रुतियों को ही हमारे सामने उपस्थित करती है। कबीर के सम्बन्ध में यही एक ऐतिहासिक उल्लेख क्यों है, यह भी चिन्त्य है। 'आदिग्रंथ' और 'ग्रन्थावली' में कबीर के जीवन-सम्बन्धी अनेक पद मिलते हैं। बीजक में ऐसे पदों का निश्चित रूप से अभाव है। कदाचित् बीजक-कर्ता कबीर के लोक-जीवन को हमारे सामने नहीं लाना चाहता।

अन्य रमैनियों के सम्बन्ध में हमें विशेष कुछ कहना नहीं है। उनके विषय पूर्व-परिचित हैं—ब्राह्मण और इस्लाम के कर्मकांडों का विरोध, माया का अनिष्टकारी प्रभाव और उसका तीव्र आकर्षण, अद्वैत, मानव-जीवन की नश्वरता, अनेक पन्थों का विरोध, हरि (राम-) भक्ति की महत्ता। कुछ रमैनियाँ स्पष्ट-रूप से कूट पर आश्रित हैं परंतु ऐसी रमैनियों की संख्या अधिक नहीं है। परन्तु यह सारी सामग्री कुछ इतने अस्त-व्यस्त रूप में है कि उसकी निश्चित रूपरेखा का निर्माण लगभग असम्भव है। भाषा के क्षेत्र में यह अस्त-व्यस्तता और भी बढ़ी हुई है।

यह स्पष्ट है कि 'बीजक' की रमैनियों की सामग्री या तो बहुत काल तक मौखिक रूप से चलती रही है, या बीजक-कर्ता ने उसमें नई सामग्री भी रख दी है। 'ग्रंथावली' में 'रमैणी' का जो सुगठित स्वरूप मिलता है उसका यहाँ नितांत अभाव है। उन रमैणियों से बहुत थोड़ी सामग्री

यहाँ ली गई है। चौपाई छंद में लिखी रमैनी से बाहर की बहुत-सी सामग्री को रमैनी का रूप दे दिया गया है। वास्तव में सारी सामग्री अत्यंत चिन्त्य है। न हम 'साखी' को ही प्रामाणिक कह सकते हैं न चौपाइयों वाली सामग्री को। आश्चर्य है कि सम्प्रदाय ने ऐसी अटपटी वाणी को धर्मग्रंथ के रूप में कैसे स्वीकार किया।

## पद ( शब्द )

'बीजक' के पदों में कूटवाणी की संख्या 'आदिग्रंथ' और 'कबीर-ग्रंथावली' की अपेक्षा कहीं अधिक है। कबीर-पंथ में यह जनश्रुति है कि कूटवाणी मुख्यतः धरमदास ने प्रचारित की। अतः इसमें संदेह नहीं कि 'बीजक' के अनेक कूट-पद क्षेपक सिद्ध होंगे। कहीं २ तो एक अत्यंत सार्थक टेक को लेकर कूटपद की रचना कर दी गई है और वह पद भी ऐसा जिसका अर्थ साधारण मनीषा खोल ही नहीं सकती। उदाहरण के लिए 'बीजक' का पहला पद उपस्थित किया जा सकता है—

संतो भक्ति सद्‌गुरु आनी।
नारी एक पुरुष दुइ जाया, बूझहु पंडित ज्ञानी।
पाहन फोरि गङ्ग एक निकली, चहुँदिशि पानी पानी॥
तेहि पानी दुई पर्वत बूड़े, दरिया लहर समानी।
उडि मक्खी तरुवर के लागी, बोले एके वाणी॥
वह मक्खी के मक्खा नाहीं, गर्भ रहा बिनु पानी॥
नारी सकल पुरुष वही खायो, ताते रहेउ अकेला।
कहही कबीर जो अबकी समुझी, सोई गुरु हम चेला॥

अनेक कूट-पदों के अंत में कबीर के नाम से जब हम यही चुनौती पाते हैं तो हमें यह विश्वास होने लगता है कि वास्तव में ये सांप्रदायिक रचनाएँ

हैं और इनमें किसी भी आध्यात्मिक अर्थ को खोजना वृथा है। सांप्रदायिक रचनाएँ भी इस अर्थ में नहीं कि इनमें कोई गहरा तत्त्व है जो केवल कबीर-पंथ सुरक्षित किये हुये हैं। कदाचित् सांप्रदायिक प्रतिष्ठा की वृद्धि के लिए ऐसी रचनाओं को 'बीजक' में विशेष महत्व मिला है। 'बीजक' में कुल ११५ पद हैं जिनमें कूटवाणियों की संख्या २० है। इन कूटपदों में कबीर बार-बार कहते हैं :

है कोई गुरु ज्ञानी पण्डित उलटि वेद को बूझै (१११)
सब पंडित मिलि धंधे परिया, कबीर बनौरा गाई (८८)
बुझ २ पंडित पद निर्वाणा (४६)

इन 'बुझवलों' में से अनेक ऐसे हैं जो नये हैं। 'आदिग्रंथ' और 'कबीर-ग्रंथावली' में उनका पता भी नहीं लगता। पंडितों ने उनके बड़े-बड़े अर्थ लगाए हैं और बड़ी २ खेंचातानी की है, परन्तु इनमें से अधिकांश कूटपद ऐसे ही हैं जिनकी शैली कबीर की प्रकृत कूट-पद-शैली का अनुकरण मात्र है। कबीर के अनेक कूटपद अद्वैतावस्था की अगमता, अलौकिकता और उसके आनंद को ही प्रगट करते हैं। केवल पंडितों को चुनौती देने के लिए कबीर इतने कूटों की रचना नहीं करेंगे। उनमें कुछ बड़ा तत्त्व भी होना चाहिये।

शेष ६५ पदों की सामग्री पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया जा सकता है। इनमें से कुछ पद ऐसे हैं जो कबीर-ग्रंथावली या आदिग्रंथ में मिल जाते हैं। उनपर यथास्थान विचार किया जा चुका है। यहां हम ऐसे ही पदों को लेंगे जो या नये हैं या किसी नई साधना या विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

बीजक के पदों में कुछ थोड़ा बहुत निश्चित् क्रम भी दिखाई पड़ता है। जैसे संतों[८], अवधू[९] और पंडित[१०] को सम्बोधित करते हुए पद एक स्थान पर संग्रहीत हैं। इन पदों की सामग्री पर हम एक साथ विचार कर सकते हैं। सन्तों से सम्बोधित कुछ पद वास्तव में कूटपद हैं। एक ऐसे कूटपद में कबीर पंचेद्रियों के उपद्रव का रूपक बाँधते हैं और सन्त से प्रार्थना करते हैं कि वह इस नितप्रति के गृहकलह को समाप्त कर दे[११]। एक दूसरे पद में कबीर हिंदू-मुसलमानों के बाह्याचारों का खंडन करते हैं[१२]। अन्य में माया के उपद्रव, पशुबलि और हिंदू-तुरुक के मतभेद का निरूपण है। एक पद में भक्ति (प्रेमसुधारस) के प्रभाव और मदमातों का उल्लेख है। इन मदमाते भक्तों में गोरख, दत्त, वशिष्ठ, व्यास, हनुमान, नारद, शुक, शंभु, सनकादिक, अंबरीष, जड़ जनक, शष, ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण, पार्वती, ब्रह्मा—सब आ जाते हैं। 'निर्गुण ब्रह्म मातु वृन्दावन' से कदाचित् ब्रह्मा द्वारा वत्सहरण की कथा का निर्देश है जो भागवत की एक प्रसिद्ध कथा है। कबीर की रहस्यवादी साधना को समझने के लिए बीजक का सातवाँ पद महत्त्वपूर्ण है। इसमें उस परमतत्त्व को 'रत्न अवेध अमोलिक' कहा गया है जिसका न कोई स्वामी है न ग्राहक। मन-रूपी माणिक से यह हीरा बेधा जाता है। उस समय यह परमतत्व सर्वव्यापिन् रूप में दिखलाई पड़ता है।

---

८ पद १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ६, १०, ११, १२,

६ ,, २२—२५

१० ,, ४०—५१

११ सन्तों घर में झगरा भारी।
रात दिवस मिलि उठि उठि लागे, पाँच ढोटा एक नारी॥
(पद, ३)

१२ सन्तो देखत जग बौराना (पद, ४)

'अवधू' से सम्बोधित पदों में भी कूटपदों की प्रधानता है। कबीर रोगी को चुनौती देते हैं कि वह उनके पदों का अर्थ खोल दे। एक पद में वे स्पष्ट कहते हैं कि सारे मत-मतांतर कृत्रिम के विस्तार हैं। जान पड़ता है, अवधूत के प्रति वह अधिक सहिष्णु नहीं। वे योगसाधना पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते नहीं दिखलाई देते। पंडित को कबीर थोथा ब्रह्मज्ञानी या कर्मकांडी मानते हैं। वे या तो उससे पहेलियाँ बुझवाते हैं या छूत-अछूत, वर्णाश्रम, स्मृति-पुराण, स्वर्ग-नरक,—ब्राह्मण-धर्म के मूलभूत कर्मकांडों की निंदा करते हैं। वस्तुतः साहित्य या दार्शनिक विवेचना की दृष्टि से यह सारी सामग्री महत्त्वहीन है।

बीजक के कुछ पदों में रामतत्व और रामभक्ति की बड़ी सुन्दर व्याख्या है। कबीर रामतत्व को 'अबूझ' मानते हैं। वह उसे 'अकथ कहानी' कहते हैं।[13] राम-गुण कोई एक तो है नहीं जो जान लिया जाये। उसका तो अनन्त विस्तार है। उस गुण को मनुष्य पूर्णतः कैसे पा सकेगा?[14] मनुष्य तो यही कर सकता है कि वह रामरस का पान करे और रामरस में मदमाता हो सुखपूवक जिये।[15] परन्तु ऐसे पद अधिक नहीं हैं।

'बीजक' में योगियों, निरंजनियों, अवधूतों (दत्तात्रेय के अनुयायियों) और अन्य सम्प्रदाय के साधु-सन्तों को लक्ष्य में रखा गया है, यह स्पष्ट है। इन्हें छोटा करने का प्रयत्न अनेक पदों में दिखाई देता है। बीजक में ऐसा एक ही पद नहीं है जिसमें कबीर की योग-सम्बन्धी विचार-

---

१३ पद १६
१४ " १८
१५ " २०

धारा मिलती हो। उनका खंडन-मंडन-कर्ता और भक्त ( निर्गुण-भक्त ) रूप ही स्पष्ट है। परन्तु कबीर की भक्ति के निर्गुण पक्ष पर भी विचार नहीं किया गया है। साहित्य की दृष्टि से माया-सम्बन्धी दो पद (५६,६०) अच्छे हैं। सच तो यह है कि 'बीजक' के पदों में कूट-प्रदर्शन की प्रवृत्ति ही अधिक है। उसमें साहित्य की उतनी छटा भी नहीं मिलती जितनी 'आदिग्रंथ' के पदों में। बीजक के पदों के आधार पर हम न कबीर के संदेश की विवेचना कर सकते हैं, न कबीर की साधना का कोई निश्चित रूप ही इन पदों में पाते हैं। कबीर की सूफ़ी विचारधारा का यहाँ एकदम अभाव है—कदाचित् जान-बूझ कर ऐसे पद इस संग्रह में नहीं रखे गये। 'आदिग्रंथ' और कबीर-ग्रंथावली' के जो पद 'बीजक' में मिलते हैं वे भी बहुत भ्रष्ट रूप में हैं। भाषा का तो कोई भी निश्चित रूप नहीं मिलता।

## ककहरा

कुछ बीजकों में इसे 'कहरा' भी कहा गया है। इसमें ताटंक के एक उपभेद लावनी का प्रयोग मिलता है जिसमें १६, १४ के विराम से २८ मात्रायें और अंत में गुरु होता है। इसमें टेक का स्वतन्त्र प्रयोग दिखलाई नहीं देता। अंत में 'हो' अनिवार्यतः आता है जो ग्रामगीतों की विशेषता है। 'कहरा' नाम क्यों पड़ा यह चिन्त्य है। 'बावनी' या 'चौंतीसी' जैसी वर्णाक्षर-क्रम से लिखी रचनाओं को 'ककहरा' कहा जाता है, परन्तु ये उस प्रकार की रचनाएँ नहीं हैं। कदाचित् 'कहरवा' ताल में गाई जाने वाली 'लावनी' के अनुसार इसका यह नाम पड़ा। अधिकांश छन्दों में माया की कुटिलता या रामभक्ति का निरूपण है। दो कूटपद भी हैं। विचारधारा कबीर की प्रकृत विचारधारा से भिन्न नहीं है। परन्तु इस प्रकार का न तो कोई छन्द ही 'आदिग्रंथ' या

'ग्रंथावली' में मिलता है, न कबीर ने इस शैली को ही अपनाया है। कदाचित् यह कबीर की रचनाओं का जन-प्रचलित रूप है। बीच-बीच में कबीर के 'वाक्यांश' या चरण' अवश्य जुड़े मिलते हैं। 'कहरा' कहाँ तक कबीर की प्रामाणिक रचना हो सकती है, यह चिन्त्य विषय है।

## बसन्त

'बसन्त' मध्ययुग का प्रिय राग है और कबीर के अनेक पद इस राग में गाये जाते रहे होंगे। 'आदिग्रंथ' में रागु बसंत के अंतर्गत ८ पद संग्रहित हैं। बीजक के 'बसन्त' का १० वाँ पद रागु बसन्त का २ रा पद है। 'बसन्त' में १२ रचनायें हैं जिनमें पहले आठ पद निम्न श्रेणी के कूटपद हैं। अन्तिम दो रचनाएँ भी कदाचित् कबीर के अधिक प्रामाणिक साहित्य में मिल जायेंगी। यह स्पष्ट है कि 'बसन्त' से न बसन्त-रागिनी का निर्देश है, न बसन्त ऋतु का। भाषा पर पूर्वी ( भोजपुरी ) प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। कबीर के साहित्य, उनकी साधना और विचारधारा की दृष्टि से बीजक का यह अंश भी व्यर्थ-सा है।

## चाँचरी

'चर्चरिका' ताल में गाये जाने वाले काव्य को बाद में 'चर्चरी' या 'चाँचरी' नाम मिल गया। अपभ्रंश में इस प्रकार की अनेक रचनाएँ मिलती हैं जिनमें होली या फागु का वर्णन है और जिन्हें 'चर्चरी' या 'चाँचरी' कहा गया है। बीजक में दो चाँचरियाँ हैं परन्तु होली या फागु का कोई रूपक उनमें खड़ा नहीं किया गया है। छन्द दोहा है। पहले पद में १३ दोहों में माया की जगद्विजय का वर्णन

है। दूसरे पद में मन के माया-मोह-भ्रम का वर्णन है। दोहे के दो चरणों के बीच में ८ मत्रात्रों की एक टेक के साथ इस पद की सामग्री 'आदिग्रंथ' में राग गउड़ी ( ५७ ) के अंतर्गत मिल जाती है, परन्तु वस्तुत: 'बीजक' में मूल सामग्री बड़े विकृत रूप में मिलती है। 'पाठभेद' पर विचार करते हुए हमने 'बीजक' के इस पद की विस्तृत तुलना की है।

## बेली

यह कहना कठिन है कि 'बीजक' में इस अंग को 'बेली' क्यों कहा गया है। 'कबीर-ग्रंथावली' में 'बेली' नाम का साखियों का अंग अवश्य है जिसमें तत्त्व या सृष्टि रूपी 'बेलि' का रूपक बाँधा गया है। 'बीजक' में 'बेली' के अंतर्गत इस प्रकार का कोई रूपक नहीं बाँधा गया। 'बेली' में २ पद हैं। छन्द दोहा ही है, परन्तु दोहे के प्रत्येक चरण के अंत में 'हो रमैया राम' दस मात्रा की एक टेक जोड़ दी गई है। चरणों को जोड़ने पर अन्त्यानुप्रास का भी अभाव जान पड़ता है। चाँचरी के के दूसरे पद की तरह यह भी कबीर की किसी दोहा छन्द में लिखी रचना का विकृत रूप हो सकता है या कबीर की साखियों का कोई रूपान्तर।

## बिरहूली

'बिरहूली' का अनुवाद रे० अहमदशाह ने 'O Soul abandoned' 'ओ बिरही आत्मा' किया है जो सार्थक हो सकता है, परन्तु रचना न विशेष महत्त्वपूर्ण है, न उसमें आत्मा के बिरही रूप के ही दर्शन होते हैं। वह एक साधारण रचना है जिसमें दोहे के चारों चरणों के साथ 'बिरहूली' ६ मात्राओं की एक टेक जोड़ दी गई है। अन्त्यानुप्रास का

अभाव यहाँ भी है। अनेक चरण सार्थक अवश्य है, परन्तु उनका पारस्परिक सम्बन्ध जोड़ना कठिन है। रे० अहमदशाह ने इस रचना में अधिक से अधिक अर्थ बिठाने का प्रयत्न किया है, परन्तु यह प्रयत्न मात्र है।

## चौंतीसी

यह चौपाई-दोहों में लिखी रचना है जो भिन्न ( बावनी- ) रूप में 'आदिग्रंथ' और 'कबीर-ग्रंथावली' में भी मिल जाती है। 'पाठभेद' के अंतर्गत हम इस रचना पर विचार करेंगे। इस प्रकार की सैद्धान्तिक रचनाओं की परम्परा अपभ्रंश काल से चली आती है। 'शालिभद्र कक्का (१२०० ई०) इसका प्रमाण है। इन रचनाओं में वर्णों के क्रम का अनुसरण किया जाता है।

## विप्रमतीसी

३० चौपाइयों ( द्विपदियों ) के बाद अंत में एक साखी है। 'कबीर-ग्रन्थावली' में कबीर की रमैणियों में कुछ ब्राह्मण-विरोधी सामग्री हमें मिलती है। कदाचित् उस बिखरी सामग्री को ही यहाँ निश्चित रूप दे दिया गया है। विचार-धारा की दृष्टि से यह रचना विशेष महत्वपूर्ण नहीं है।

इस सामग्री के अतिरिक्त ४४५ साखियाँ भी हमें 'बीजक' में मिलती हैं। 'पाठ-भेद' में हम कुछ साखियों की भाषा पर विचार करेंगे। इनमें कबीर के परम्परागत विचार ही निबद्ध है। विचार की दृष्टि से कोई नवीनता इनमें नहीं मिलेगी। यह कहना कठिन है कि इनमें से कितनी साखियाँ 'आदिग्रंथ' और 'ग्रंथावली' में भी विद्यमान

हैं। कदाचित् अनेक साखियाँ नई हैं, यद्यपि उनसे किसी नये तत्व पर प्रकाश नहीं पड़ता। कुछ में छन्द-भेद भी है। साधारणतः दोहा-छन्द का प्रयोग होता हैं। ये नये छन्द साखियों के अंतर्गत क्यों रखे गये, उनका मूल रूप क्या था, यह कहना कठिन है।

११

# उपसंहार

## ( अ ) कबीर—संत और कवि

कबीर प्रारंभत: संत हैं और अंत में संत हैं। उनका सारा काव्य उनकी आध्यात्मिक खोज और उनके स्वसंवेद्य अनुभवों पर आश्रित है। स्वभावतः जितना साहित्य उसमें आ गया है, कबीर को उतने से ही सन्तोष है। वे मूलत: तत्त्वदर्शी हैं। 'कवि कवीने कविता मुए' साधारण कवियों पर उनका यह व्यंग है। कवि, पंडित और तर्कशास्त्री उस सत्य को पूर्णत: देख भी नहीं सकते। वह लोगों को उलझा देते हैं। कबीर का कहना है कि उलझाने वाले सैकड़ों हैं, सुलझाने वाला कोई बिरला ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर का साहित्य सन्त, भक्त और तत्त्वदर्शी का साहित्य है। उसमें उपमाओं और अलंकारों की वर्णच्छटा न हो, रस का वैभिन्न्य न हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसकी प्राण-शक्ति अपार है।

'आदिग्रंथ' और 'बीजक' के आधार पर हम कबीर की आध्यात्मिक खोज का एक सर्वांगपूर्ण चित्र उपस्थित कर सकते हैं। कबीर का जन्म-स्थान मगहर था जो गोरखपुर से १५-१६ मील दूर आमू नदी पर बसा है। कबीर के समय में गोरखपुर और उसके आस-पास का प्रदेश नाथ-पंथी योगियों का बहुत बड़ा केन्द्र रहा होगा। नैपाल में अब भी गोरखनाथ शिव के अवतार माने जाते हैं और गोरखपुर अब भी योगियों ( नाथ-

पंथियों ) की सबसे बड़ी गद्दी है। जान पड़ता है, कबीर के समय में मगहर जुलाहों की बस्ती थी और कदाचित् कबीर से एक दो पीढ़ी पहले जुलाहों की बड़ी संख्या मुसलमान बन गई थी। जहाँ पहले इस वंश में जोगियों के आचार-विचार चलते थे वहाँ बाद में यह वंश पीरों और सूफ़ी सन्तों द्वारा शासित होने लगा। परन्तु योगी विचारधारा का लोप होना असंभव था। कदाचित् यही कारण है कि कबीर के साहित्य में योगियों की साधना और तत्सम्बन्धी शब्दावली का व्यापक रूप से प्रयोग हुआ है।

कबीर और गोरखनाथ का क्या सम्बन्ध है, यह निश्चित करना कुछ कठिन है। यह तो निश्चित है कि दोनों समसामयिक नहीं थे। 'बीजक' में कुछ ऐसी रचनाएँ है ( जैसे साखी , ५६ ) जिसमें कबीर स्पष्ट रूप से किसी 'गोरखनाथ' को संबोधित करते हैं, परन्तु या तो यह क्षेपक रचनाएँ हैं जो कबीर-पन्थ की महत्ता को स्थापित करती हैं या यह गोरखनाथ इस नाम का कोई अन्य समसामयिक होगा। पहली ही संभावना अधिक है। कबीर ने कनफटा जोगियों के आचार-विचार को व्यङ्ग का लक्ष्य बनाया है। वह कहते हैं—

ऐसा योग न देखा भाई। फूला फिरै लिये गफिलाई ॥
महादेव को पन्थ चलावै। ऐसो बड़ो महन्त कहावै ॥
हाट बज़ारे लावै तारी। कच्चे सिद्धन माया पियारी ॥
कब दत्ते मवासी तोरी। कब शुकदेव तोपची जोरी ॥
नारद कब बंदूक चलाया। व्यासदेव कब बंब बजाया ॥
करहीं लड़ाई मति के मंदा। ई अतीत की तर्कश बन्दा ॥
भये विरक्त लोभ मन ठाना। सोना पहिरी लजावै बाना ॥
घोरा घोरी कीन्ह बटोरा। गाँव पाई जस चले करोरा ॥

साखी—

तिय सुन्दरी न सोहई, सनकादिक के साथ।
कबहूक दाग लगावही, कारी हांडी हाथ॥
( बीजक, रमैनी ६६ )

'बीजक' और 'आदिग्रंथ' में अवधू ( अवधूत ) को सम्बोधित करते हुए अनेक पद मिलते हैं जिनमें कबीर उसे सच्चे योग की शिक्षा देते हुए पाये जाते हैं। वह योगियों की मुद्रा, सींगी, कंथा इत्यादि की नई व्याख्या उपस्थित करते हैं। 'जोगी जगत से न्यारा है। निरति मुद्रा है, सुरति उसकी सींगी है, उसका अनहद अखंडित है। वह संसार की ओर उन्मुख नहीं होता। गगन-मंडल में ही उसका वास है। उसका आसन अडिग है और वहाँ बैठा हुआ वह महारस का पान करता है'[1]। 'जो रामनाम-रस का पान करता है, वही जोगी है। ऐसे जोगी बिरले ही मिलते हैं। और तो भोगी हैं। साधारण जोगियों के लिए यह रस तो फीका है। वे ब्रह्माग्नि प्रज्ज्वलित कहते हैं। ईश्वर (शिव) और गौरी रामरस का पान करते हैं और इस रस से मतवाले हैं, कदाचित् इस बात को वे नहीं जानते।'[2]

---

१ अवधू जोगी जग थैं न्यारा।
मुद्रा निरति, सुरति करि सींगी, नाद न खंडै धारा॥ टेक॥
बसै गगन में दुनीं न देखै, चेतनि चौकी बैठा।
चढ़ि अकास आसण नहीं छाड़ै, पीवै महारस मीठा॥

२ कोई पीवै रे रस राँम-नाम काँ, जो पीवै सो जोगी रे।
सन्तौ सेवा करौ राम की, और न दूजा भोगी रे॥ टेक॥
बहु रस तौं सब फीका भया, ब्रह्म अगनि परजारी रे।
ईश्वर-गौरी पीवन लागे, राम तनीं मतिवारी रे॥
यहु रस पीवै गूँगा गहिला, ताकी कोई न बूझै सार रे।
कहै कबीर महारस महँगा, कोई पावैगा पीवणहार रे॥
( पद, ७१ )

वह अवधू से तरह-तरह के प्रश्न करते हैं, उससे पच्छी की खोजा और मीन के मार्ग की बात पूछते हैं। कभी पूछते हैं—'अवधू अगनि जरै कै काठ' ( पद, १०४ )। एक दूसरे पद में वे स्पष्ट कहते हैं—हे अवधू, तू बिंदु-साधन की बात करता है, तेरे गगन में अनहद नाद झंकृत होता है। परन्तु तूने अंतर की गति नहीं जानी। तुझे वह नहीं दिखलाई दिया जो अत्यन्त निकट है। तू उसे बन-बन ढूँढ़ता फिरता है।'[१] 'जोगी वही है जिसके मन में मुद्रा है। वह रात-दिन जाग्रत रहता है। मन में उसका आसन है, मन में निवास, मन का जप-तप। मन में ही खप्पर है और मन में ही सींगी। वह पंचेन्द्रियों को जला कर उनकी भस्म बनाता है।'[२] 'जोगी इकेला रहता है। तीर्थ, व्रत, मेलों में उसका

---

३ अवधू नादैं ब्यन्द गगन गाजै, सबद अनाहद बोलै।
अंतरिगति नहीं देखै नेडा, ढूंढत बन-बन डोलै॥ टेक॥
सालिगराम तजौं सिव पूजौं, सिर ब्रह्मा का काटौं।
सायर फोड़ि नीर मुकलाऊँ, कुंवा सिला दे पाटौं॥
चँद सूर दोइ तूबा करिहूँ, चित चेतनि की डाँड़ी।
सुषमन तंती बाजण लागी, इहि बिधि त्रिष्णां षांडी॥
परम तत आधारी मेरे, सिव नगरी घर मेरा।
कालहि खंडूँ मीच बिहंडू, बहुरि न करिहूँ फेरा॥
जपौं न जाप हतौ नहीं गूगल, पुस्तक लै न पढ़ाऊँ।
कहै कबीर परमपद पाया, नहीं आँऊँ नहीं जाऊँ॥

( पद, ११६ )

४ सो जोगी जाके मन मैं मुद्रा,
राति-दिवस न करई निद्रा॥ टेक॥

विश्वास नहीं। वह झोली, पत्र, विभूति, बटवा कुछ नहीं रखता फिर भी उसके भीतर अनहद वेणु बराबर बजती रहती है।'[3] इस प्रकार के और भी अनेक पद हैं।[4]

योगियों का एक सम्प्रदाय निरंजन भी था। स्वयं योगी भी 'अलख निरंजन' को ध्येय मानते थे। कबीर कहते हैं: 'सच्चे निरंजन की खोज करो। इस सम्बन्ध में वह एक पूरे रूपक का प्रयोग करते हैं :—

जोगिया तन कौ जंत्र बजाइ।
ज्यूं तेरा आवागमन मिटाइ॥ टेक॥
तत करि तांति धर्म करि डांडी, सत की सारि लगाइ।
मन करि निहचल आंसण निहचल, रसना रस उपजाइ॥
चित करि बटवा तुचा मेखली, भसमैं भसम चढ़ाइ।
तजि पाषंड पांच करि निग्रह, खोजि परमपद राइ॥

---

मन मैं आसण मन मैं रहणा, मन का जप-तप मन सूं कहणाँ॥
मन मैं खपरा मन मैं सींगी, अनहदु बैन बजावै रङ्गी॥
पंच परजारि भसम करि भूका, कहै कबीर सो लहसै लंका॥
२०६

५ बाबा जोगी एक अकेला, जाकै तीर्थ ब्रत न मेला॥ टेक॥
झोली पत्र बिभूति न बटवा, अनहद बेन बजावै।
मांगि न खाइ न भूखा सोवै, घर अँगनाँ फिरि आवै॥
पाँच जनां की जमाति चलावै, तास गुरू मैं चेला।
कहै कबीर उनि देसि सिधाये, बहुरि न इहि जगि मेला॥
२०७

६ पद २०९

हिरदै सींगी ग्यान गुंणि बंधौं, खोजि निरंजन साचा ।
कहै कबीर निरंजन की गति, जुगति बिनां प्यण्ड काचा ॥

वह निरंजन को गोविन्द और राम की संज्ञा दे देते हैं।[५] राम निरंजन है और यह सारा जगत उनकी माया का प्रसार है।[६] अंजन का कोई भी महत्त्व नहीं, निरंजन ही सार है।[७] कबीर निरंजन और अल्लाह को एक मानते हैं।[८] यह तो स्पष्ट है कि कबीर योगसाधना और योगिक परिभाषिक से पूर्णतः परिचित हैं, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने योगमत को सोलह आने मान्यता नहीं दी है। योग की साधना चमत्कारों में विश्वास रखती है। उसमें दर्शन और तत्वचिंतन के ऐसे गहरे अंग नहीं हैं जो कबीर जैसे जिज्ञासु को संतोष दे सकें। फलतः कबीर संस्कारवश योग-साधना की ओर झुकते हुये भी उसे नया रूप दे देते हैं जिसमें भक्ति और सहज-साधना का समावेश हो गया है।

---

७ गोब्यंदे तूँ निरंजन तूँ निरंजन तू निरंजन राया।
तेरे रूप नाहीं रेख नाहीं मुद्रा नहीं माया ॥ टेक ॥
× × तू हीं रॉमराया ॥ २१९

६ रांम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे ॥ टेक ॥ ३३६

७ अंजन अलप निरंजन सार। यहै चीन्हि नर करहु बिचार ॥टेक॥
अंजनि उतपति बरतनि लोई। बिना निरंजन मुक्ति न होई ॥
अंजन आवै अँजन जाइ। निरँजन सब घटि रह्या समाइ ॥
जोग ध्यांन तप सबै बिकार। कहै कबीर मेरे रांम अधार ॥
३३६

१० एक निरंजन अलह मेरा ३८३

ऊपर के विवरणों से यह स्पष्ट है कि गोरखपंथियों से कबीर का तत्वत: विरोध था। 'आदिग्रंथ' में वह कहते हैं :

कवि जन जोगी जटाधारि ।
सभ आपन अवसर चले सारि ॥
( रागु बसन्तु, ५ )

जोगी माते जोग धिम्रान
( वही, २ )

जोगी गोरखु गोरखु करै ।
हिंदू राम नाम उचरै ॥
मुसलमान का एकु खुदाइ ।
कबीर का सुआमी रहिआ समाइ ॥
( रागु भैरउ, ११ )

यहाँ गोरखपंथियों को हिंदुओं से अलग कहा गया है।—वे 'ना हिंदू ना मुसलमान' कहे गये हैं। स्वयं गोरखनाथ की रचनाओं में हम ऐसी उक्तियाँ पढ़ते हैं जहाँ वे अपने को हिंदुओं से अलग कर लेते हैं। वास्तव में नाथ पंथ के प्रचार के समय तक समाज का हिंदूकरण पूर्णत: नहीं हो पाया था और अनेक ऐसे वर्ग थे जो हिंदू समाज के वहिर्गत थे। इस सम्बन्ध में आचार्य क्षितिमोहन सेन की पुस्तक 'भारत में जाति-भेद' दृष्टव्य है जिसमें उन्होंने लिखा है—'कभी नाथपंथी योगी आदि जातियों का एक स्वतन्त्र मत था। वे वर्णाश्रम नहीं मानते थे, मृतक का दाह नहीं करते थे, बल्कि पृथ्वी में गाड़ दिया करते थे, पर अब वे धीरे-धीरे हिंदू समाज में प्रविष्ठ हो गये हैं। इन्होंने वर्णाश्रम धर्म भी स्वीकार कर लिया है, और वैष्णव धर्म स्वीकार कर परम वैष्णव हो गये हैं। गुरु, मंत्र, तीर्थ, पूजा, प्रार्थना आदि स्वीकार कर रहे हैं। यद्यपि अब भी इनमें अपना विशिष्ट परिचय कुछ न कुछ है ही तथापि

ये विशेषताएँ धीरे-धीरे ह्रास हो रही रही हैं।' ( पृ० १८४, ५ ) नाथपंथी योगियों का एक बड़ा वर्ग मुसलमान भी हो गया है। 'काशी के पास योगी भर्थरी या भर्तृहरि का गान करते हैं। इन्हें भी हिंदू समाज में रखना सम्भव नहीं है।' ( वही, पृ० १८६ ) इसमें संदेह नहीं कि यह प्रक्रिया कबीर के समय में ही आरम्भ हो गई थी और कदाचित् कबीर के पूर्वज किसी योगी सम्प्रदाय या योगभ्रष्ट संप्रदाय से संबंधित थे जिसमें गोरखनाथ का बड़ा मान था। 'कबीर' ग्रंथ में आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें योगभ्रष्ट वयनजीवी ( कोरी ) जाति से ही सम्बन्धित किया है।

जान पड़ता है किसी कारण वश नीरू-नीमा बनारस में आकर रहने लगे। कबीर इस समय छोटे रहे होंगे। सम्भव है उन्हीं दिनों उन्होंने रामानंद की कीर्ति सुनी हो और वह उनकी ओर आकर्षित हुए हों। इससे उनके पारिवारिक विरोध का जन्म हुआ होगा। कदाचित् वैष्णव रामानंद के प्रभाव को नष्ट करने के लिए ही उन्हें शेख़ तक़ी की सेवा में उपस्थित किया गया होगा। मुसलमानों में किंवदन्ती है कि २९-३० वर्ष की अवस्था में कबीर शेख़ तक़ी के शिष्य हुए और इसके एक ही वर्ष बाद शेख़ तक़ी मृत्यु को प्राप्त हुए। इतिहास में दो शेख़ तक़ी मिलते हैं। एक शेख़ तक़ी कड़ा मानिकपुर (ज़िला फ़तेहपुर) के रहने वाले हैं। वे रूई साफ़ करने का व्यवसाय करते थे और उनका संबंध सूफ़ियों के चिश्ती सम्प्रदाय से था। इनकी मृत्यु १५६५ ई० हुई। 'ख़जीनुल आसफ़िया' ग्रंथ का लेखक कबीर को इन शेख़ तक़ी का उत्तराधिकारी बताता है। कबीर जैसे स्वतंत्र चिंतक से किसी संप्रदाय या खानकाह की पीरी की आशा करना असंभव है। कदाचित् मलूकदास ने (ज० १५७४) के कारण इस किंवदन्ती का जन्म हुआ है। मलूकदास ने कड़ा मानिकपुर में ही अपनी गद्दी की स्थापना की थी। उनकी वाणी कबीर से पूर्णतयः प्रभावित है। मलूकदासी निश्चय ही कबीर-पंथी नहीं हैं, परन्तु कबीर-

पन्थियों के ग्रंथ और उनके तीर्थ उन्हें मान्य हैं। दूसरे शेख तक़ी का सम्बन्धी भूँसी से है। ये सूफ़ियों के सुहरावर्दी सम्प्रदाय से संबन्धित थे। १४२६ ई० में वहीं इनकी मृत्यु हुई। यदि कबीर की जन्मतिथि १३६८ ई० है तो निश्चय ही वह इन शेख तक़ी से ही सम्बन्धित रहे हैं। कहा जाता है कि २६-३० वर्ष की आयु में कबीर से इनकी पहली भेंट हुई। यह भी जनश्रुति है कि कबीर और शेख में अधिक पटी नहीं और बाद में कमाल इन्हीं शेख तक़ी के शिष्य हो गये और शेख ने उन्हें भूँसी से २० मील दूर जलालपुर में एक दरगाह बनवा दी। कमाल के इस व्यवहार से कबीर और उनके अनुयायी असंतुष्ट कहे जाते हैं और 'बूढ़ा वंश कबीर का उपजा पूत कमाल' का सम्बन्धी इसी घटना से जोड़ा जाता है यद्यपि आदिग्रंथ में जिस तरह यह 'सलोकु' मिलता है उससे यह स्पष्ट है कि कबीर कमाल के धन-संचय से ही असंतुष्ट हुए थे और वह कोई अन्य साधारण प्रसंग था। शेख तक़ी की मृत्यु के बाद उनकी दरगाह की देख-रेख अक़रदीं (अकबरदीन) और शेख शकरदीन करते थे। यह दरगाह १८५७ ई० तक मौजूद थी। ग़दर में यह क्रांतिकारियों का केन्द्र बन गई थी। इसलिए बाद में अधिकारियों ने इसे नष्ट कर दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शेख तक़ी और कबीर के सम्बन्ध में जन-श्रुतियों की दो परम्पराएँ हैं, परन्तु कदाचित् भूँसी के शेख तक़ी से ही कबीर ने सूफ़ीमत की जानकारी प्राप्त की। परन्तु कदाचित् वह बहुत दिनों तक शेख के आश्रम में नहीं रह सके। जैसा हमने पहले देखा है, कबीर जीव-हत्या के आरंभ से ही विरोधी थी और इस्लामी वातावरण उन्हें कुछ अरुचिकर ही रहा होगा। समस्त प्राणियों में जीवतत्व की समानता में विश्वास करते हुए भी सूफ़ी अहिंसक नहीं हैं। इसी से कबीर ने सूफ़ीमत का सार ग्रहण कर लिया। बाद में वे रामानन्द के व्यक्तित्व से प्रभावित हो गए और उनकी वैष्णवभावना ने उन्हें आकर्षित कर लिया। मूलतः

भक्तिवाद और सूफ़ीमत में बहुत कुछ समानता है, परन्तु बाद में भी कबीर की विचार-धारा और साधना पर सूफ़ी विचारधारा और साधना का व्यापक प्रभाव बना रहा। कुछ पदों में कबीर में स्पष्ट रूप से अपने को 'ज़िंद' ( बेशिरा या स्वतंत्र सूफ़ी ) कहा है।[11] यह ज़िंद सूफ़ी 'ज़िंदीक' ही हैं। 'विचार-विमर्श' में श्री चंद्रबली पांडेय ने कहा है कि कबीर आरंभ में 'ज़िंद' ही थे, परन्तु बाद में उन पर वैष्णवों का पक्का रङ्ग चढ़ गया और वे 'केवली' वैष्णव बन गये।[12] सच तो यह है कि कबीर की साधना और विचारधारा की सूफ़ी भित्ति पर अभी आलोचकों का ध्यान नहीं गया है। वे उन्हें योगियों और वैष्णवों से ही संबंधित कर सके हैं। परंतु योगियों की अपेक्षा कदाचित् कबीर के व्यक्तित्व में सूफ़ियों का योगदान अधिक है। जायसी और कबीर की रचनाओं की तुलना करने पर कबीर का 'सूफ़ीपन' स्पष्ट हो जाता है। कबीर के पद भी सूफ़ी कवियों की रचनाओं पर आश्रित जान पड़ते हैं। इनके काव्य में अनेक पद और सलोकु ( साखियाँ ) ऐसे हैं जिनमें सूफ़ीमत के पारिभाषिक शब्दों और सूफ़ियों की शैली को अपनाया गया है। यह निश्चित है कि रामानन्द के प्रभाव-क्षेत्र में आने से पहले वे सूफ़ी साधना और विचार-धारा में पारंगत हो चुके थे और बाद में भी कदाचित् एक बहुत बड़ा वर्ग उन्हें सूफ़ी ही मानता रहा।

रामानन्द के द्वारा कबीर को वैष्णव-परम्परा और वैष्णव-भक्ति के सब से सुन्दर रूप से परिचय हुआ होगा, इसमें सन्देह नहीं। इस समय तक वैष्णव-भक्ति का काफ़ी विकास हो चुका था। भक्ति-आन्दोलन के

---

११ कहै कबीर हमारै गोव्यंद।
चौथे पद मैं जन का ज्यंद॥
( क० ग्रं० पृ० २१० )

१२ 'विचार-विमर्श, पृ० ७

प्रवर्तक रामानुजाचार्य ( १०१७-११२० ई० ) माने जाते हैं। ये आन्ध्र थे और तामिल प्रदेश की भक्ति-परम्परा से पूर्णतया: परिचित थे। इस भक्ति-परम्परा का सम्बन्ध अलवारों ( वैष्णवों ) और अदयारों ( शैवों ) से था। पाँचवीं शताब्दी से १० वीं शताब्दी तक दक्षिण में वैष्णव और शैव भक्तों की बड़ी मान्यता रही। दसवीं शताब्दी के अंत में अलवारों के गीतों का संकलन ( 'नालायिर प्रबंधम्' ) नाथ मुनि ने किया। इन गीतों में विरह-प्रधान विह्वल भक्ति के दर्शन होते हैं। रामानुज ने दक्षिण के इस भक्ति-पथ से उत्तर को परिचित कराया। रामानुज के बाद निंबार्क (१२वीं शताब्दी) और मध्व (१२३७ ई० के लगभग ) ने अपनी भक्ति-भावना को कृष्ण पर आश्रित कर उसे अधिक व्यापक रूप दे दिया। रामानन्द (१३५०-१४५०) ने भक्ति-भावना और योग-रहस्य की परम्पराओं को एक सूत्र में ग्रथित कर दिया और भक्ति को जाति-भेद के ऊपर एक सामान्द मानवधर्म के रूप में स्थापित किया। इस समय तक कृष्ण-भक्ति की धारा काफ़ी विकसित हो चुकी थी और नरसिंह मेहता, विद्यापति और उमापति के गीत उत्तर भारत में गूँजने लगे थे। कबीर इस कृष्ण-भक्ति की धारा से परिचित जान पड़ते हैं क्योंकि उन्होंने कृष्णकथा और कृष्ण-सम्बन्धी-किंवदन्तियों का प्रयोग किया है। सगुण भक्ति का राम को लेकर चलनेवाला रूप भी लोकप्रियता को प्राप्त कर रहा था। कबीर की दाशरथि राम की भर्त्सना से इस विषय पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है।

यह निश्चित है कि १४३० ई० के लगभग रामानन्द ने बनारस को अपना प्रचार-केन्द्र बना लिया था। उनके शिष्यों के दो वर्ग थे। एक वर्ग साकार राम का उपासक है और दूसरा निर्गुण राम का। जान पड़ता है, जहाँ द्विजातियों के लिए रामानन्द शास्त्रोय वैधीभक्ति और मूर्तिपूजा का उपदेश देते थे, वहाँ हीन वर्णों और मुसलमानों के लिए उन्होंने निर्गुण ब्रह्म राम की तन्मयता-प्रधान भक्ति का उपदेश दिया। कबीर इस दूसरी श्रेणी के शिष्यों में से थे। इस श्रेणी के अन्य शिष्य थे रैदास (चमार),

धन्ना (जाट), सेना (नाई), पीपा (राजपूत)। सुरसरी नाम की एक स्त्री भी उनकी शिष्या थी। इनमें से रैदास और कबीर को छोड़ कर किसी के नाम से सम्प्रदाय नहीं उठ खड़ा हुआ। कदाचित् इन दोनों ने भी अपने जीवन में किसी सम्प्रदाय या पन्थ की स्थापना नहीं की परन्तु बाद में उनके व्यक्तित्व को चमत्कार-मंडित कर दिया और सम्प्रदाय चल पड़े।

रामानन्द के इस श्रेणी के शिष्यों की काफ़ी रचनायें 'आदिग्रंथ' में मिल जाती हैं जिसका संग्रह काल १६०४ ई० है। कबीर की रचनाओं से इन रचनाओं की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें एक ही प्रकार की भावधारा प्रवाहित हो रही है। ये सभी निर्गुणिये हैं। सभी-अहैतुक भक्ति को प्रधानता देते हैं, मूर्तिवाद के विरोधी हैं और नामस्मरण को महत्व देते हैं। इनके काव्य से यह निश्चय हो जाता है कि रामानंद को ही उत्तरभारत में एक अपूर्व भक्तिधारा फैलाने का श्रेय है। वे योग-भक्ति, सगुण-निर्गुण मतवादों के संगम पर खड़े थे। उनका झुकाव निर्गुण की ओर था। उनके व्यक्तित्व और उनके जाति-पाति-विरोध ने उनके चारों ओर ऐसे व्यक्तियों को इकट्ठा कर दिया जो सभी वर्णों के थे—अधिकांश वहिष्कृत वर्णों के—परन्तु थे बड़े प्रतिभाशाली। इनके व्यक्तित्व और इनकी काव्य-प्रतिभा ने शीघ्र ही निर्गुण मत को सारे उत्तर भारत का सामान्य मत बना दिया। इन सबमें कबीर का व्यक्तित्व ही अधिक आकर्षक है। उनमें रामानंदी भक्ति तो पूर्ण रूप से विकसित हुई है, परन्तु साथ ही योग और सूफ़ी साधनाओं से भी बहुत कुछ ग्रहण किया गया है। रामानंद के अन्य शिष्यों में सूफ़ी भावना के दर्शन नहीं होते और न वे कबीर की भाँति राम-रहीम की एकता के उपासक, मूर्ति-पूजा विरोधी और हिंदू-मुसलिम कर्मकांडों के आलोचक हैं। परन्तु कबीर के व्यक्तित्व के यही अंग उन्हें युग-पुरुष बना देते हैं।

कबीर की रचनाओं से उनकी आध्यात्मिक प्रगति के संबंध में जो अनुमान लगाया जा सकता है उसकी यह एक संक्षिप्त रूपरेखा है। इसमें संदेह नहीं कि कबीर में वह आंतरिक संघर्ष और वह जिज्ञासा-भाव प्रारंभ से ही विद्यमान था जिसने सिद्धार्थ को 'बुद्ध' बना दिया। कबीर की ऊँचाई के आध्यात्मिक नेताओं में इस आंतरिक संघर्ष और जिज्ञासा-भाव के बराबर दर्शन होते हैं। जीवन-मृत्यु, आवागमन, इहलोक-परलोक की महत्व-पूर्ण समस्याएं कबीर के किशोर-जीवन में ही उनके सामने आ गई होंगी। उन्होंने योग, सूफ़ी मतवाद और वेदांत के सहारे इनका समाधान करने की भी चेष्टा की। उनके प्रश्नों का एक रूप इस पद में दिखलाई पड़ता है। वह गुरु से पूछते हैं—

गुर चरण लागि हम बिनवता पूछत कह जीउ पाइआ।
कवन काजि जगु उपजै बिनसै कहहु मोहि समझाइआ॥
देव करहु दइआ मोहि मारगु लावहु जितु भै बंधन तूटै।
जनम-मरम दुख फेड़ करम सुख जीअ जनम ते छूटै॥
माइआ फाँस बंध नहीं फाटै अरु मन सुंनि न लूकै।
आपा पदु निरवाणु न चीन्हिआ इन बिधि अभिउ न चूकै॥
(रागु आसा, १)

—मनुष्य को यह जीव (प्राण) कैसे मिला, कहां से मिला? क्यों मनुष्य जन्म लेता है और क्यों नाश को प्राप्त होता है? जन्म-मरण और कर्म-फल का भय कैसे छूट सकता है? जीव आवागमन के चक्र से किस प्रकार मुक्ति प्राप्त कर सकता है? माया का बंधन कैसे तोड़ा जा सकता है? मनुष्य किस प्रकार आत्मस्थित हो या निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करे?' ये कुछ महत्व-पूर्ण प्रश्न हैं जो वैदिक युग के आज तक—कदाचित् और भी पहले से—मनुष्य के लिए मूल प्रश्न बने हुए हैं।

प्रत्येक युग में साधकों ने इन प्रश्नों को दुहराया है और अपने भीतर के प्रकाश की दीप्ति में इन प्रश्नों को सुलझाने का प्रयत्न भी किया है। जान पड़ता है, आवागमन ( जन्म-मरण ) और माया के बंधनों से मुक्ति पाने का मार्ग ढूँढ़ने से कबीर ने वर्षों प्रयत्न किया। ब्राह्मण और मौलवी इन महत्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ थे। वह वाह्याडम्बरों, आचार-विचारों और कर्मकांडों में फँसे हुए थे। कबीर उन्हें धर्म का विषय समझते ही नहीं थे। उनकी खोज सत्य की खोज थी। अंत में उन्होंने अपनी समस्याओं का समाधान पा लिया। यह समाधान उन्हें निश्चित रूप से रामानंद से प्राप्त हुआ।

कबीर के पारिवारिक और स्थानीय संस्कार उन्हें योगमत की ओर ले जाते थे। वे नाथपंथ की प्राणायाम ( हठयोग ) और चक्रभेदन की साधना से पूर्णतयः परिचित थे। पहले इसी क्षेत्र में उन्होंने शकायें उपस्थित की। उन्होंने कहा—'जहाँ जो कुछ था वहाँ अब कुछ नहीं है—पाँच तत्व भी वहाँ नहीं रह गये। ऐ बंदे, मैं पूछता हूँ कि इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना—ये नाड़ियाँ आवागमन में कहाँ चली जाती हैं। तागा ( साँस ) टूटने पर आकाश ( ब्रह्मरंध्र ) नष्ट हो जाता है। फिर यह तेरी बोलने की शक्ति कहाँ समा जाती है ? यही संदेह मुझे प्रतिदिन कष्ट देता है और मुझे कोई समझा कर नहीं कहता।[१३] इन कष्ट-कृच्छ्र साधनाओं की अपेक्षा भक्ति ( या इश्क़ ) की साधना उन्हें कहीं अधिक सरल लगी। उन्होंने निरर्थक गम्भीर समस्याओं से मुख

---

१३ जह कछु अहा तहा किछु नाही पंच तंतु तह नाही।
इड़ा पिंगला सुखमन बंदे ए अवगन कत जाही॥
तागा तूटा गगनु बिनसि गइआ तेरा बोलतु कहा समाई।
एह संसा मोकउ अनदिनु बिआपै मोकउ कौन कहै समझाई॥
( राग गउड़ी, ५२ )

मोड़ कर उस प्रियतम के प्रति पूर्णतय: आत्मसमर्पण कर दिया : 'कबीर कहता है मेरी तो 'लौ' लग रही है और मैं दिन-रात वहीं निवास करता हूँ। उसका रहस्य तो वही जानता है क्योंकि एक वही अविनाशी है।'[१४] भक्ति के इस संदेश ने उनमें नए आध्यात्मिक जीवन की स्फूर्ति जगाई। उनकी कुछ साखियों में इस आध्यात्मिक जागरण के सुन्दर चित्र मिलते हैं। यह आध्यात्मिक जागरण 'प्रेम की पीर' के रूप में प्रगट हुआ है। कबीर कहते हैं :

कबीर मारे बहुत पुकारिआ पीर पुकारै अउर।
लागी चोट मिरंम की रहिओ कबीरा ठउर॥
कबीर चोट सुहेली सेल की लागत लेइ उसास।
चोट सहारै सब्द की तासु गुरू मैं दास॥

(सलोकु, १८२-३)

गुरु के 'शब्द' ने कबीर के सारे पुराने संस्कारों पर चोट की और उन्हें भूमिसात कर दिया। जान पड़ा, नये जीवन का संचार हो गया है। पुराने कबीर के शव पर नये कबीर का जन्म हुआ। अब तक कबीर तत्वखोजी और जिज्ञासु थे, अब वे मर्मी बन गये।

कबीर के अनेक पद ऐसे हैं जो उनके आध्यात्मिक जीवन की पीड़ा और आत्म-प्रताड़ना की पृष्ठभूमि में ही ठीक तरह से समझे जा सकते हैं। बहुत संभव है, ये पद उनके नए जीवन से पहले की कृति हों, या सम्भव है, उनमें हमें सन्धिकाल के कबीर के दर्शन होते हों, परन्तु इन पदों से कबीर की सूक्ष्म अंतर्वृत्ति और उनकी आत्म-निरीक्षण

---

१४ कहु कबीर लिव लागि रही है जहा बसे दिन राती।
उआ का मरमु ओही परु जाने ओहु तउ सदा अबिनासी॥
(वही)

की उस तीव्रता का पता चलता है जो प्रत्येक सच्चे साधक के लिए आवश्यक है। जिसने अपनी चेतना के धिक्कार को नहीं सुना, वह आध्यात्मिक क्षेत्र में कैसे आगे बढ़ सकेगा? अतः कबीर के आत्म-प्रताड़नात्मक पद इसी दृष्टिकोण में पढ़े जाने चाहिये जैसे—

कैसे के तरों नाथ कैसे के तरों।
अब बहु कुटिल भरो ॥१॥
कैसी तेरी सेवा पूजा कैसो तेरो ध्यान,
अमर अजर देखो इक अनुमान ॥२॥
भाव भुअंग देखो कति बिबिचारी।
सुरति सचान देखो मति मंजारी ॥३॥
अति बिरोधी देखो अति रे दिवाना।
छौ दर्शन देखो भेष लपटाना ॥
कहे कबीर सुनो नर बन्दा।
डाइनि डिंभ परे सब फंदा ॥५॥

(बीजक, शब्द १०४)

या कदाचित् प्रौढ़ावस्था का यह पद—

किउं छूटउ कैसे तरउ भव जलनिधि भारी।
राखु राखु मेरे बीठुला जनु सरनि तुम्हारी ॥
बिखै बिखै की बासना तजीअ नह जाई।
अनिक जतन करि राखिऔ फिरि फिर लपटाई ॥
जरा जीवन जोबनु गइआ किछु कीआ न नीका।
इहु जीअरा निरमोल को कउडी लगि नीका ॥

(रागु बिलावल, ३)

इस प्रकार के अनेक पद कबीर के साहित्य में मिलते हैं। कभी वे मन को

चेतावनी देते हैं,[३] कभी अपने सारे जीवन को धिक्कारते हैं।[४] वह अपने को राम का कुत्ता कहते हुए भी नहीं शर्माते।[५] यह उनकी विनयशीलता की पराकाष्ठा है। संत के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने अहम्भाव का संपूर्णतः नाश कर दे। अहंभाव का नाश कबीर की साधना का सब से महत्वपूर्ण अंग है। जो आलोचक ऐसे स्थलों पर कबीर का आत्मचरित या उनकी दुर्वलताओं का चित्र ढूँढते हैं, वह वस्तुतः भ्रम में हैं। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि कबीर के आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से ये स्थल काफ़ी महत्वपूर्ण हैं।

परन्तु आत्मप्रताड़न का यह भाव सदा बना नहीं रहता। साधक के जीवन में ऐसे भी अनेक क्षण आते हैं जब वह उल्लास और उमंग से भर

---

३ चेति अचेत मूड़ मन मेरे बाजे अनहद बाजा।
कहि कबीर संसा भ्रमु चूको ध्रू प्रहिलाद निवाजा॥
(रागु विलावलु ५)

४ ध्रिगु तनु ध्रिगु धनु ध्रिगु इह माइआ ध्रिगु ध्रिग
मति बुधि फंनी।
इस माइआ कउ द्रिड़ु करि राखहु बाँधे आप बचंनी॥
(वही, ६)

५ संता मानउ दूता जानउ इहु कुटवारी मेरी।
दिवस रैनि तेरे पाउ पलोसउ केस चवर करि फेरी॥
हम कूकर तेरे दरबारि।
भउकहि आगै बदनु पसारि॥
(रागु रामकली, ४)

कबीर कूकरु राम को मुतीआ मेरो नाउ।
गले हमारे जेवरी जह खिंचै तह जाउ॥
(सलोकु, ७४)

जाता है, जब उसे लगता है सफलता उसके द्वार पर खड़ी है। उसे जान पड़ता है उसने प्रियतम के द्वार का रास्ता पा लिया है। बड़े-बड़े पंडित तर्क-वितर्क और खंडन-मंडन की उलझनों में जो नहीं पा सके उसे उसने सहज प्रेमभाव से पा लिया है।[६] इसमें गर्व की कोई बात नहीं है। इसका श्रेय भी उसे ही है जिसने एक तुच्छ जुलाहे को अपना लिया। कबीर कहते हैं—

लोगु कहै कबीर बउराना।
कबीर का मरमु राम पहिचाना॥
(रागु भैरउ, ६)

उन्हें पता लगता है कि वह प्रेममय परम तत्त्व तो स्वयं उनके भीतर है। उन्हें केवल अपने को पहचानना है, कहीं आना-जाना नहीं है। एकांत भाव से कबीर इस अद्वियता की घोषणा करते जाते हैं। कभी दार्शनिक की परिभाषा में,[७] कभी प्रेमी के मिलन-वियोग के रूपक में।[८] अपने इन

६ कबीर जिह मारगि पंडित गए पाछै परी बहीर।
इक अवघट घाटी राम की तिहि चड़ि रहिओ कबीर॥
(सलोकु, १६५)

७ उलटि जाति कुल दोऊ बिसारी। सुंन सहज महि बुनत हमारी॥
हमरा झगरा रहा न कोऊ। पंडित मुलाँ छाड़े दोऊ॥
बुनि बुनि आप आप पहिरावउ। जह नहि आपु तहाँ होइ जावउ॥
पंडित मुल्ला जो लिखि दीआ। छाडि चले हम कछू न लीआ॥
रिदै इखलासु निरख ले मीरा। आपु खोजि खोजि मिले कबीरा॥
(रागु भैरउ, ७)

८ गाउ गाउ री दुलहनी मंगलचारा।
मेरे ग्रिह आए राजा राम भतारा॥
(रागु आसा, २४)

आत्मोत्कर्ष के क्षणों में कबीर साधारण साधक नहीं रह जाते। वे मुहम्मद और कृष्ण की ऊँचाई से बोलते हैं।[९] जो अध्यात्म-साधना के अनेक रहस्यों से परिचित नहीं है और जो कबीर का साधारण जुलाहा-मात्र मानते हैं, वह ऐसे-स्थलों को 'गर्वोक्ति' अलङ्कार मानेंगे, या इसमें कबीर के अहंभाव की गन्ध पायेंगे। परंतु साधना के रहस्य को समझने वाले इसे कबीर के आत्मदर्शन का सर्वोच्च प्रकाशन समझेंगे। सच तो यह है कि जहाँ साधकों की वाणी साधना की पृष्ठभूमि से दूर केवल साहित्य, केवल कला, केवल विज्ञान की कसौटी पर परखी जायेगी, वहाँ हम साधकों के साथ अन्याय ही करेंगे। साधक के लिए कबीर की वाणी में न कहीं रहस्यवाद है, न कहीं छल-छंद है। वह आप्त पुरुष की वाणी है। वेदों से लेकर मध्ययुग तक लगभग पाँच हज़ार वर्षों की साधना की परम्परा और साधकों का अनुभव इसके पीछे है। साहित्य के माध्यम से हम कबीर का अधूरा अध्ययन ही उपस्थित कर सकते हैं, इसे हमें स्वीकार कर लेना होगा।

---

९ कोरी को काहू मरमु न जानां।
सभु जग आनि तनाइओ तानां॥
जब तुम सुनिले बेद-पुरानां।
तब हम इतनकु पसरिओ तानां॥
धरनि अकास की करगह बनाई।
चंद्र सूरजु दुइ साथ चलाई॥
पाई जोरि बात इक कीनी तह तांती मनु मानाँ।
जोलाहे घरु अपना चीन्हा घट ही रामु पछानाँ॥
कहतु कबीरु कारगह तोरी।
सूतै सूत मिलाए कोरी॥
(रागु आसा, ३६)

संक्षेप में, यह संत कबीर की संत-साधना की एक स्पष्ट रूप-रेखा है। आज पांचसौ वर्षों बाद इस रूप-रेखा में कबीर के युगांतरकारी और आश्चर्यमय व्यक्तित्व का रङ्ग और रक्त भरना कठिन है। साधारण 'कोरी' परिवार का एक अशिक्षित तरुण, जिसके लिये उस युग में भी आजीविका-प्राप्ति का संघर्ष कम नहीं रहा होगा, परन्तु जिसमें धार्मिक जिज्ञासा और ईमानदारी भरपूर थी ईसा और बुद्ध की तरह एक लम्बे, सँकड़े और कष्ट-पूर्ण रास्ते पर चल खड़ा हुआ। उसको ढोंगों और ढकोसलों से घृणा थी, वह समस्याओं की तह में पहुँचना चाहता था। फलस्वरूप उसने केवल वाह्याचार, केवल ऊपरी दया-क्षमा और केवल ऊपरी कर्मकांड की उपेक्षा की उसने समाज के जाति-धर्मगत भेद-भावों के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाई। उसने मानवता के समान तत्वों की ओर संकेत किया। स्वभावतः वह अत्यन्त विनम्र और विनयशील था, परन्तु उसने सामाजिक प्रगति की विरोधी शक्तियों से ज़रा भी समझौता नहीं किया। जो कुछ झूठा और असार लगा उसके प्रति वह जीवन भर खड्ग-हस्त रहा। उसकी प्रकृति अत्यंत सूक्ष्म थी, अतः सत्य को पकड़ने में उसे किंचित भी समय नहीं लगा। उसमें इतनी आत्मदृढ़ता थी कि वह विरोधी झंझावात में ज़रा भी नहीं झुका। उसके परिवार ने उसे नहीं समझा, हिंदू-मुसलमान समाज ने उसका घोर विरोध किया। उसका सबसे बड़ा अपराध यही था कि उससे समाज की विषमताओं, मूर्खताओं और थोथी परम्पराओं को स्वीकार नहीं किया। अपने युग में वह निश्चय ही इकेला था। परन्तु उसके साथ ईश्वर-निष्ठा, सत्य, अहिंसा और बलिदान की अपार शक्ति थी। बाहर के विरोधों से जब-जब वह हतप्रभ हुआ, तब-तब उसने राम से अपना नाता जोड़ कर उसके प्रेम, उसके मिलन-वियोग, उसकी अनुकंपा में शांति प्राप्त की। परन्तु उसने असत्य नहीं कहा। उने सुक़रात की तरह समाज के सारे वर्गों का उथलापन दिखाया और अंत में उपेक्षा, निर्वासन और बहिष्कार का दंड सहा।

वह उन महापुरुषों में से था जो अपने युग में होकर भी अपने युग के नहीं होते, जो भावी पीढ़ियों के लिए समय की रेत पर चलते हुए पदचिह्न छोड़ जाते हैं।

जब हम कबीर को कवि कहते हैं, तो हम उन्हें कुछ छोटा ही करते हैं। 'केवल कविता' से कबीर को घृणा थी। वह सच्चे अर्थों में 'कवि' ( द्रष्टा ) थे। उन्होंने भाषा-सौष्ठव, छंद और अलङ्कार की पूर्णता और सुचारुता का ध्यान नहीं रखा। उनके पास एक बहु-मूल्य संदेश था। इस संदेश को उन्होंने भाषा की सारी शक्ति देकर उपस्थित किया। लोक-गीतों के प्रचलित और सर्वग्राही छंदों में सीधी-साधी अलंकार-विहीन भाषा में उन्होंने बड़े से बड़े तथ्य जनता के सामने रखे। उन्होंने भाषा और अभिव्यक्ति की रूढ़िवादिता पर चोट की और सारवस्तु ही ग्रहण की। 'साहित्य' शीर्षक के अंतर्गत हमने उनके कवि-पक्ष पर भी विचार किया है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि कबीर काव्य की अपेक्षा संदेश को अधिक महत्व देते थे और उनका संदेश आज भी उनके काव्य की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। सत्संगति और स्वयंबोध से वह जितना कवित्व बटोर सके उतना कवित्व उनके साहित्य में बड़ी शक्ति के साथ स्थापित हो सका है और कहीं-कहीं वह उनके संदेश को अत्यन्त आकर्षक और हृदयग्राही बना देता है। परन्तु उनकी शक्ति वास्तव में सत्य की शक्ति है और इसी शक्ति के बल पर उनका काव्य निरलंकार और साहित्यपक्ष की गरिमा से शून्य होता हुआ भी अत्यंत सप्राण है। उन्होंने जिसतरह चाहा उस तरह अपने भाव को प्रकाशित कर दिया, सीधी तरह से आ गया तो ठीक, नहीं तो किसी भी तरह, कवि और साधक की सारी स्वतंत्रता और ज़ोर-ज़बरदस्ती के साथ।

और यदि कबीर कवि हैं भी तो वह जनता के कवि हैं। वे उस कोटि के कवि नहीं जो पूर्ववर्ती कवियों के साहित्य और काव्य-शास्त्र का

आधार लेकर चलते हैं। वे उस कोटि के कवि हैं जो जनता के मुँह से शब्द छीन लेते हैं, जिनकी उपमाएँ-उत्प्रेक्षाएँ, जिनके रूपक जन-जीवन की कल्पना, सुखमा और जीवन-निष्ठा से ओत-प्रोत होते हैं। इस कोटि के कवि अपने चारों ओर के सामान्य जीवन-प्रवाह से ही रस ग्रहण करते हैं और उनका साहित्य सबके लिए धरती और पवन की भाँति ही सुलभ होता है। जीवन की निःसारता और नश्वरता के संबंध में कबीर कहते हैं—

कबीर परभाते तारे खिसहि तिनु इहु खिसै सरीरु।
ए दुइ अखर ना खिसहि सो गहि रहिओ कबीर॥
(सलोकु, १७१)

या राम-भक्ति की सूक्ष्मता का वर्णन करते हैं :

हरि है खांडु रेतु महि बिखरी हाथी चुनी न जाइ।
कहि कबीर गुरि भली बुझाई, कीटी होइ कै खाइ॥
(सलोकु, २३८)

या लोगों को शाक्त के कुसंग से विरत करना चाहते हैं—

कबीर मारी मरउ कुसंग की केले निकटि जु बेरि।
इह झूलै इह चीरीऐ साकत संगु न हेरि॥
(सलोकु, ८८)

तो वह अपनी बात समझाने के लिए साहित्य के जो उपकरण ग्रहण करते हैं वे जनता के उस साहित्य से ही लेते हैं जो युगों युगों से बराबर मौखिक रूप से चलता आ रहा है। ऐसा नहीं कि इस सामान्य उपकरण के सहारे वह जीवन के परम सत्य को अभिव्यक्ति न दे सके हों—साधक की की विनम्रता का यह चित्र देखिये—

कबीर रोड़ा होइ रहु बाट का तजि मन का अभिमान ।
ऐसा कोई दासु होइ ताहि मिलै भगवानु ॥
कबीर रोड़ा हुआ त किआ भइआ पंथी कउ दुखु देइ ।
ऐसा तेरा दासु है जिउ धरनी महि खेइ ॥
कबीर खेह हुई तउ किआ भइआ जौ उड़ि लागै अंग ।
हरिजन ऐसा चाहीऐ जिउ पानी सरबंग ॥
कबीर पानी हूआ त किआ भइआ सीरा ताता होइ ।
हरिजन ऐसा चाहीऐ जैसा हरि ही होइ ॥

(सलोकु १४६—६)

यदि हम ध्यान के देखें तो हमें संस्कृत और फ़ारसी आध्यात्मिक काव्य के गहरे से गहरे तत्त्व कबीर में मिल जायेंगे, परंतु कबीर की विशेषता यह है कि उन्होंने अध्ययन से नहीं, सत्संग से ये तत्त्व प्राप्त किये हैं और स्वयं उनके काव्य में जनता की बोली और जन-जीवन के अलंकारों से सज कर उन साहित्य-गर्भित सिद्धांतों का साधारणीकरण हो गया है। सच तो यह है कि वेदांत तत्त्व ( ब्रह्मजीवैक्य ) और आध्यात्मिक मिलन-वियोग का जितना भाव-परक, सूक्ष्म और प्रभावशाली वर्णन कबीर के काव्य में हुआ है, उतना उच्च कोटि के संस्कृत और फ़ारसी के आध्यात्मिक साहित्य में भी नहीं। इसमें संदेह नहीं कि वे हिमालय से विन्ध्याचल और पंजाब से भागलपुर तक फैले हुए विशाल जनसमुदाय के सर्वप्रथम गायक हैं। वे हमारे पहले जनकवि हैं।

## (आ) भारतीय-साधना के इतिहास में कबीर का योगदान

भारत की अध्यात्म-साधना प्रधानतयः रहस्यमुखी और समन्वयात्मक रही है। पिछले ५००० वर्षों में इस क्षेत्र में न जाने कितने महान साधक और तत्वदर्शी हो गये हैं और न जाने कहाँ-कहाँ से कौन-कौन सी धाराएँ आकर उनके व्यक्तित्व में घुल मिल कर एक हो गई हैं। यह इस देश की परंपरा है कि यहाँ मतवाद और साधना के श्रेत्र में कभी भी अतिवाद और असहिष्णुता को स्थान नहीं मिला है। वाह्य विरोध अंतर्मुख बनकर एकरसता को प्राप्त कर लेते हैं और पुरानी धाराएँ नई धाराओं के साथ और भी बलवती होकर बहने लगती हैं। इसीसे भारतीय साधना का ठीक-ठीक इतिहास समझना कुछ कठिन हो जाता है। किसी एक निश्चित सन्-संवत अथवा व्यक्तित्व को पकड़ कर हम यह नहीं कह सकते कि यह विशेष धारा यहाँ से फूटी। प्रत्येक धारा का उत्स रहस्यमय बना हुआ है। न जाने अतीत के किस रहस्यमय अंतर से कौनसा शक्ति का स्रोत फूटा, न जाने कब से प्रेम, रहस्य और भावना की यह नदियाँ प्रवहमान हैं। जहाँ ये स्रोत किसी एक चमत्कारपूर्ण व्यक्ति के चारों ओर चक्कर लगाने लगते हैं वहाँ हम उन्हें साकार-रूप में देखने लगते हैं। तब हमें नदी के आवर्तों-विवर्तों का पता लगता है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रवाह पहले नहीं था। कदाचित् इसी से भारतीय चिंता व्यक्तिओं के जीवनवृत्तों और सन् संवतों को विशेष महत्व नहीं देती। वह काल की अपरिसीम अमर्यादित शक्ति में विश्वास करती है।

भारतीय साधना की यह विशेषता कबीर की साधना और उनके साहित्य में पूर्णतः प्रतिबिंबित है। उसमें पूर्ववर्ती साधनाओं का ऐसा सुन्दर समन्वय मिलता है कि हमें आश्चर्य होता है। उन्हें किस विशेष साधना

से संबंधित किया जाय, उन्हें किस मतवाद का प्रतिनिधित्व दिया जाये, आज यह कहना कठिन हो रहा है। इसका कारण यही है कि उनके व्यक्तित्व में भारत की साधना-तंत्री की सारी झंकारें समाई हुई हैं। वह जिस साधना-भूमि पर खड़े होकर मध्ययुग की जनता को अपना संदेश दे रहे हैं, वह मध्ययुग की आधारभूमि होते हुए भी सनातन और चिरकालिक है। उस साधनाभूमि पर नया होते हुए भी नया कुछ नहीं है। उसकी विशेषता यह है कि वह विभिन्न साधना-धाराओं की बाह्य प्रवृत्तियों को अस्वीकार कर देती है और इस तरह उन सबके बीच में रस, ज्ञान और रहस्य के सामान्य मिलन-बिंदु ढूँढ लेती है। अपने-अपने युग के अनुरूप भारतीय साधना भिन्न २ व्यक्तियों में इसी प्रकार समाहृत होती हुई दिखलाई देती है और वह व्यक्ति बाद में युग-पुरुष के रूप में आहृत होते रहे हैं। मध्ययुग में गोरखनाथ, रामानन्द, कबीर, तुलसीदास, सूरदास और चैतन्य इसी प्रकार के युग-पुरुष हैं। भारतीय साधना का मध्ययुगीन इतिहास इन्हीं की अंतर्वृत्तियों के उत्तरोत्तर विकास का इतिहास है।

भारतीय साधना के प्रारंभिक उत्स सिंधु घाटी की मोहनजोदरो-हड़प्पा की सभ्यता और विन्ध्याचल की शक्ति-पूजा में पाये जाते हैं।[१] भक्ति, रहस्य और योग की मध्यकालीन परम्परा को प्राग्-एतिहासिक काल तक पीछे की ओर खींचा जा सकता है। निश्चय ही भक्ति की भावना के मूल स्रोत प्राक्-आर्यकाल में ढूँढे जा सकते हैं। नर-नारायण, नारद, प्रह्लाद, ध्रुव इत्यादि जिन प्रातः-स्मरणीय भक्तों का नाम आज भी भक्तों का प्राण है वे आर्य नहीं थे। भक्तिवाद से उनका अनन्य संबंध है यद्यपि इस सम्बन्ध का पूर्ण विवरण हमें बहुत बाद के पुराण-काल में मिलता है। पिछले कुछ दिनों में मोहनजोदड़ों के लेखों का जो उद्घाटन हुआ है

---

१ Hera—The Religion of the Mohenjodaro People according to the Inscriptions, P. 3.

उससे यह भी स्पष्ट है कि परवर्ती काल की औपनैषदिक विचारधारा के बहुत कुछ सूत्र मोहनजोदड़ो की सभ्यता में ही विकसित हो चुके थे। कर्मवाद,[२] पुनर्जन्म,[३] जीव-ब्रह्मैक्य और तज्जन्य आनंद का पूरा विवरण इनमें मिलता है। योगी-मुद्रा से समन्वित अनेक मूर्तियां खुदाई में मिली हैं। एक लेख में मीनों का उल्लेख है जो गुफाओं में रहते थे।[४] ये स्पष्टतः प्राक्-आर्य तापस या योगी रहे होंगे। प्राक्-आर्य-युग में आणशिव की भक्ति की परम्परा विकसित हुई थी। बाद में यह शिव वेद के रुद्र देवता से संश्लिष्ट हो गया। मोहनजोदड़ो के लेखों में आण, अखिल और अम्मा (अमा) नाम के देवताओं का उल्लेख है जो क्रमशः शिव, कार्तिकेय और पार्वती (शिवा) हैं। एक लेख में अखिल के साथ मोरुगण नाम भी मिलता है जो कार्तिकेय का प्राचीन द्रविड़ नाम है।[५] वस्तुतः भक्ति, रहस्य और योग की तीनों विभिन्न धाराएँ शिव-शिवा के व्यक्तित्व के माध्यम से परस्पर जुड़ी हुई थीं। ये प्राक्-आर्य जन चाहे जो रहे हों इसमें सन्देह नहीं कि दक्षिण भारत के द्रविड़ इतिहास-काल में उन्हीं का प्रतिनिधित्व करते हैं। मध्ययुग के संत और भक्त भक्ति को द्राविड़ी मानते हैं। मध्ययुग में हम भक्ति के प्रवाह को दक्षिण के द्रविड़ देश से उत्तर भारत की ओर प्रवहमान देखते हैं। इस प्रवाह की एक क्षीण रेखा शंकराचार्य के भक्ति-स्तोत्रों में दिखलाई देती है जिनका समय ईसा की

---

२ वही, पृ० २८

३ ,, , ,, २७

४ Marshall: Mohenjodaro and the Indus Civilisation, III, no. 21

५ Mystic Teaching of the Haridasas of Karnatak, Post-Script & Corrigenda, Explanation by Rev. H. Heras, S. J.
आधुनिक तामिल में कार्तिकेय को सुब्रह्मण्य कहते हैं।

८वीं शताब्दी है। धीरे २ यह क्षीण रेखा चौड़ी और गहरी होती गई और १४वीं शताब्दी में रामानंद के व्यक्तित्व में इसने जगद्तारिणी भक्ति-गङ्गा का रूप ग्रहण कर लिया। कबीर ने रामानन्द के ही कमंडल से इस भक्ति-गंगा के छींटे प्राप्त किये और फिर अपनी वाणी की सहस्र धाराओं के द्वारा मध्ययुग के जनमन को इस अमृतजल से शीतल किया। कबीर ने भक्ति को नारदी भी कहा है। परन्तु यहाँ भी लक्ष्य द्राविड़ी भक्ति ही है।

आर्यों के लिए आध्यात्मिक जीवन महत्वपूर्ण नहीं था। वे अंतः-स्रोतों से परिचित नहीं जान पड़ते। आर्यों की सबसे पहली रचना ऋग्वेद है, परन्तु भारतीय भक्तिवाद, तपस् और दर्शन के लिए हमें वेद में में विशेष सामग्री नहीं मिलती। ऋग्वेद में जो है उसे अधिक से अधिक जिज्ञासा का नाम दिया जा सकता है, उसे दार्शनिक मतवाद नहीं कहा जा सकता। ऋग्वेद में इंद्र, सूर्य, वरुण, विष्णु, वृहस्पति आदि प्रमुख देव-ताओं के रूप में आते हैं और इनके प्रति एक प्रकार की उदात्त, विस्मय-भाव प्रधान, भक्तिभावना भी मिलती है। एक प्रकार का बहुदेवतवाद वहाँ मिलता है। धीरे २ इंद्र भी भुला दिये गये और भक्ति के एक मात्र विषय विष्णु रह गये। पौराणिक काल तक पहुँचते २ वैष्णव भक्ति का आरम्भ हो गया था और द्राविड़ भक्ति का उससे सम्बन्ध भी स्थापित हो गया था।

यह स्पष्ट है कि वैदिक आर्य तापस जीवन के विरोधी थे। भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में तप का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु ऋग्वेद में उसके दर्शन भी नहीं होते। यह स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक ऋषि अध्यात्मजगत में कोई उड़ानें नहीं लेता। उसका दृष्टिकोण एह-लौकिक और कर्म-काण्डी है। परन्तु धीरे २ इस क्षेत्र में द्रविड़ साधनाओं और विचारधाराओं का प्रवेश हुआ। ऋग्वेद के १०वें मंडल में देवत-वाद का खंडन है। बहुदेवों को केवल माया (भ्रम) कहा गया है और केवल एक देवता—एक सृष्टिकर्त्ता—की बात उठाई गई है और उसे

प्रजापति का नाम दिया गया है। विद्वानों का अनुमान है कि ऋग्वेद के पहले और दसवें मंडल पर द्रविड़ सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव है। यहीं से रहस्यचिंतन, जीव-ब्रह्मैक्य और अंड में पिंड की साधना की बात शुरू होती है विशेषतः कठ और श्वेताश्वेतर में। भारतीय साधना के लिए ये तत्व नए नहीं थे, परन्तु आर्यों ने इन मूलतः द्रविड़ तत्वों को नई परिभाषा दी, नई वाणी दी और ये सिक्के उनकी छाप पाकर चल पड़े। उपनिषद ही भारतीय तत्वज्ञान और रहस्यवाद के आदि स्रोत हैं।[६] औपनैषदिक विचारधारा ने ब्राह्मणों के कर्मकांड के विरोध-स्वरूप जन्म लिया था। इसीसे उसका सम्बन्ध पुरोहितों से नहीं, आरण्यकों में रहनेवाले ऋषियों और राजाओं से है। राजाओं को यह ज्ञान कहाँ से उपलब्ध हुआ? कदाचित् पुरोहितों के प्रभाव को अनिष्टकारी समझ कर उनसे मुक्त होने के लिए क्षत्रियों ने उनके कर्मकाण्ड का विरोध किया और द्रविड़ों में प्रचलित तत्वज्ञान का आर्य-संस्करण आर्यों में प्रचारित किया। जिस तत्व के लिए द्रविड़ों में 'आण' का प्रयोग होता था उसके लिए इन राजर्षियों ने पहले आत्मन् और फिर ब्रह्म शब्द का आविष्कार किया। उन्होंने कहा कि आत्मा 'सत्यस्य सत्यम्' है। वह ग्रहण-त्याग और प्राप्ति-नाश से परे है। आत्मा का अस्तित्व अनादिकाल से ही है। सृष्टि का आरम्भ उसी से होता है। प्रलय में केवल आत्मन् के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता। वही आत्मा सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है। वह नित्य और अमर है। वह इंद्रियों से विभिन्न और परे है; उसे अवसाद नहीं। वह चिरंतन है। आत्मा व्यक्ति-निरपेक्ष है और वह स्वयं में पूर्ण है। सृष्टि का प्रत्येक प्राणी और पदार्थ आत्मा से ओतप्रोत है। परंतु वह प्राणियों और पदार्थों के तत्व से भिन्न है। आत्मा ही ईश्वर है और इसी लिए वह उपासना और श्रद्धा का विषय है। बाद के इतिहास में

६ Sarkar—India Through the Ages, pp. 25-26 (Cal, 1928)

'आत्मन्' के लिए ब्रह्म शब्द का प्रयोग हो गया। कदाचित् क्षत्रियों ने आत्मा शब्द का ही प्रयोग किया, परन्तु ब्राह्मणों ने इसी भाव के लिए 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग चलाया। तैत्तिरीय ब्राह्मण में पहली बार ये दोनों शब्द समानार्थक रूप में मिलते हैं। छांदोग्य में स्पष्ट लिखा है कि आत्मा 'ब्रह्मण' है और अपर है।

उपनिषदों में ही पहली बार तपस् और ब्रह्मचिंता का सम्बन्ध जोड़ा गया है। तपस् और ब्रह्मचिंता कर्म-बन्धन और आवागमन से मुक्ति के दो अलग-अलग साधन माने जाते रहे होंगे परन्तु उपनिषद् के द्रष्टाओं ने उन्हें एक सूत्र में ग्रथित कर दिया।

भारतीय दार्शनिक मतवाद में 'कर्म' का सिद्धान्त अत्यंत महत्व-पूर्ण है। मानव के जीवन-मरण सम्बन्धी चिंतन से कर्म के सिद्धान्त का बहुत निकट का सम्बन्ध है। जान पड़ता है यह सिद्धान्त भी द्रविड़ मत-वाद से प्रभावित है। इसी लिए इसे भी रहस्यज्ञान के अंतर्गत रखा गया है। याज्ञवल्क्य अर्थभाग को इस नये सिद्धान्त की शिक्षा देते हैं तो वह बड़े सतर्क दिखलाई देते हैं[७]। वास्तव में कर्म के सिद्धान्त का जन्म आत्मवाद से ही होता है। दोनों ही अनार्य हैं। इसीसे आत्मज्ञान की तरह कर्मवाद भी गुह्य है। कर्मफल के अनुसार ही मनुष्य का जन्म होता है, वस्तुतः यह बहुत क्रान्तिकारी सिद्धान्त रहा होगा। इस कर्मफल से मुक्ति पाने का केवल एक साधन है—आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान। मुण्डक उप-निषद् में स्पष्ट ही लिखा है—यो ह वैः तत परमन ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति (जो ब्रह्म को जानता है वह स्वयं ब्रह्म बन जाता है।)

आवागमन का सिद्धान्त भी कर्मवाद का फल है। प्रारम्भिक भार-तीय दार्शनिक विचारधारा में नरक की कल्पना भी नहीं है। नरक और

---

७ बृहदारण्यक, १७

स्वर्ग की कल्पना का पुनर्जन्म की कल्पना से गहरा सम्बन्ध है। जिनके संचित कर्म नष्ट नहीं हुए हैं, उन्हें पुनर्जन्म प्राप्त करना होता है। संचित कर्म नष्ट होने पर ही उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती है। वेद में पुनर्जन्म का कोई उल्लेख नहीं मिलता।[८] परन्तु उपनिषदों में जीवन-मृत्यु की समस्या पर विचार करते हुए पुनर्जन्मवाद का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। छांदोग्य में राजा प्रवाहण जैवलि श्वेतकेतु से प्रश्न करता है :

१ मृत्यु के बाद जीव कहाँ जाता है ?

२ जीव फिर कैसे पृथ्वी पर लौटता है ?

३ दो मार्ग कौन से हैं—एक देवताओं का, एक मनु ( मृतात्माओं ) का।

४ परलोक भर क्यों नहीं जाता ?[९]

यह स्मरण रखना होगा कि आत्मा का सिद्धान्त भी इसी प्रवाहण जैवालि ने उपस्थित किया था। उपनिषदों में आत्मा के दो पथों ( चन्द्रमार्ग, सूर्यमार्ग ) का विस्तृत वर्णन है। यह स्पष्ट है कि आवागमन मूलतः दंड-विधान है। यही दुःख और भय का मूल कारण भी है। केवल एक ही मनुष्य आवागमन के इस चक्र को भेद सकता है—वह जो आत्मा को जानता है।[१०]

परन्तु आत्मा को जाना कैसे जाय ?—उपनिषदों में इस बात में तो कोई मतभेद नहीं है कि आत्मा के सत्य को जानने से बड़ा लक्ष्य कोई है

---

८ Keith—The Religion & Philosophy in the Vedas & Upanishads P. 415 (Howard, 1925)

९ छान्दोग्य, V, ३-१०

१० कौशीतिकी उपनिषद, I, २

ही नहीं।[११] आत्मा को जानने की यह पहली सीढ़ी है परन्तु उस तक पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि साधक प्रार्थना-भाव से भर जाये। तमसो मा ज्योतिर्गमय: [१२]—यह साधक की प्रार्थना होगी। इसका कारण यह है कि ब्रह्मज्ञान केवल मनुष्य की अपनी साधना से प्राप्त नहीं होगा। ईश्वरानुकंपा से प्राप्त होगा। 'ब्रह्म जिसे चाहता है उसे अपना ज्ञान देता है।' [१३] वस्तुतः इस छोटे से वाक्य में सारे भारतीय दर्शन का तत्व आ जाता है। [१४] अर्जुन के प्रार्थी बन जाने पर ही कृष्ण ने उन्हें अपना कालरूप दिखलाया था[१५]।

परन्तु फिर भी जीव (मनुष्य) के लिए कुछ साधना उपादेय है। उपनिषदों में सारी परवर्ती साधना की कुछ रूपरेखा स्थिर हो जाती है। वास्तव में ये कुछ मानसिक स्तर हैं जिनके द्वारा मनुष्य क्रमशः ईश्वरानुभव के निकट पहुँचता है—

( १ ) धन-ऐश्वर्य इत्यादि के मोह का त्याग [१६] ( वीतराग बन जाना )। मैत्रायन उपनिषद में राजत्यागी बृहद्रथ की कथा में इसी का संकेत है।

( २ ) आत्मा का ज्ञान। [१७] आत्मज्ञान है सर्वभूतों में अपनी ही

---

११ श्वेताश्वेतर, III, ७

१२ बृहद० I, ३, २८

१३ मुंडक, III, २, २; कठ, I, २, २२

१५ Heiler—Die Mystik in de Upanishaden,

१६ भगवद्गीता, अ० ११ श्लो० ४-८

१७ कठ ब्राह्मण, I, १७; बृहद III, २, १
IV, ४, २२, छांदो V, ४, २२

आत्मा का प्रसार जानना। याज्ञवल्क्य और गार्गी-मैत्रीय की कथा में इसका संकेत है। मैत्रीय केवल आत्मज्ञान चाहती है ( बृहद, II, ४; IV, ५ )।

( ३ ) संयम : ब्रह्मचर्य )

ब्रह्मचर्य को ब्रह्मज्ञान का सबसे प्रमुख साधन कहा गया है

( ४ ) विनम्रता

साधक को अपना सारा पूर्वज्ञान और अहंकार भुला कर बालक जैसा बन जाना है।[१९]

( ५ ) ध्यान

'आमत्मान् आत्मना पश्य' [२०]

( ६ ) तप, दान, आर्जवम्, अहिंसा, सत्यवचनम् का पालन।[२१] साधक का संसार के प्रति दृष्टिकोण ही बदल जाना चाहिये—इसी लिए उपरोक्त साधन हैं। शतपथ ब्राह्मण में भी इनका उल्लेख है। उसमें कहा है कि प्रजापति ने तप-द्वारा सृष्टि की रचना की। वास्तव में यह कर्मकाण्डी विचारधारा से अलग ही एक विचारधारा है। कर्मकाण्डी विचारधारा में यज्ञ-याज्ञादि ही श्रेयस हैं, परंतु तप के द्वारा आत्म-शुद्धि भी होती है। अतः यह आत्म-साधन का सब से प्रमुख अंग है।[२२]

( ७ ) योग

---

१८ बृहद III, ५, १ ; प्रश्न III, ५, १

१९ छांदोग्य० VII, ५, २

२० मैत्री, १४, २०; बृहद० IV, ४, २३;
छांदो० VII, ६, १

२१ छांदो० III, १७, ४

२२ मुण्डक, I, २, १०, ११

उपनिषदों में योग के सम्बन्ध में अनेक स्थान पर विचार मिलते हैं। कठोपनिषद ( VI, १०-१२ ) में कहा है—साधना का सर्वोत्तम लक्ष्य वह है जब मनुष्य की आत्मा पूर्णतयः शान्त हो जाती है, जब पाँचों इंद्रियाँ अपने कर्मों में पूर्णरूप से स्थापित हो जाती हैं, जब बुद्धि समाधि में स्थित हो जाती है। अन्त में जिस अवस्था की प्राप्ति होती है वह 'योग' कहलाती है। जब तक यह योग की अवस्था रहती है, तब तक साधक को पूर्ण-रूप से जागरूक होना पड़ता है। उसके भीतर आविर्भाव और तिरोभाव के चक्र चलते रहते हैं।[२३] वस्तुत: उपनिषदों की यह विचार-धारा उन्हें वाह्याडम्बरों और कर्मकाण्डों का विरोधी बनाती है। यज्ञों का विरोध उपनिषद की विचारधारा का कारण नहीं है—वह उस विचार धारा का फल है। इसे स्पष्ट रूप से हृदयंगम कर लेना होगा। उपनिषदों और भगवद्गीता की विचारधारा मूलत: क्षत्रियवर्ग (राजन्य वर्ग) की विचारधारा है। परन्तु राजन्यों ने यह विचारधारा कहाँ से प्राप्त की? यह क्षत्रियवर्ग आर्य ही था, परन्तु ब्राह्मण-धर्म विरोधी ( कर्मकाण्ड-विरोधी ) विचारधारा स्थापित करना उसके लिए सरल नहीं रहा होगा। विद्वानों का अनुमान है कि यह विचारधारा द्रविड़ है[२४] और कुछ ने द्रविड़-दर्शन को आर्य-दर्शन से स्पष्ट ही उच्चतर कहा है।[२५] प्रावाहण जैबालि ने श्वेतकेतु से स्पष्ट ही कहा है कि ब्राह्मण इस विचारधारा से परिचित नहीं हैं और कौशीतिकी उपनिषद (II, ५) में यह उल्लेख है कि यह विचार-धारा मूलत: उन पूर्व विद्वानों की विचारधारा थी जो अग्निहोत्र नहीं करते थे। स्पष्ट ही ये अग्निहोत्र न करने वाले आर्य नहीं हो सकते।

---

२३ कठ, VI, १०-१२

२४ Keith, P. 497

२५ G. W. Brown : Studies in Honour of Bloomfield, pp 75 ff

यह अनुमान है कि उपनिषदों की विचारधारा का पूर्ण रूप ७०० पू० ई० के लगभग स्थिर हो चुका था। उपनिषद की साधना ज्ञानमूलक तपस् और आत्म-शुद्धि की साधना है जिसे उपनिषद के द्रष्टाओं द्वारा प्रयुक्त योग-परिभाषावली ने रहस्यज्ञान का रूप दे दिया है। ५०० पू० ई० के लगभग पश्चिमी हिन्दीप्रदेश में भक्तिवाद और औपनैषदिक ज्ञानवाद (वेदान्त) का एक समन्वय स्थापित हुआ। कृष्ण के व्यक्तित्व और उनके निष्काम कर्म के माध्यम से यह समन्वय भारतीय चिंता-क्षेत्र में अत्यंत क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ। 'गीता' और उपनिषद भारतीय तत्व-चिंतन और दर्शन के दो महत्त्वपूर्ण मेरुदंड रहे हैं। एक तरह से गीता उपनिषदों की पूरक है। उसमें औपनैषदिक निर्गुण ब्रह्मवाद को सगुण भक्तिवाद का रूप मिल जाता है। निर्गुण ब्रह्म से सगुण ब्रह्म बड़े हैं और कृष्ण इसी ब्रह्म की पूर्णाभिव्यक्ति हैं। पूर्व की औपनैषदिक विचार-धारा ने अनीश्वरवादी दर्शनों का रूप ग्रहण कर लिया, परन्तु पश्चिम की विचारधारा ने उसे भक्तिपरक बना कर उसे सेश्वर बना दिया। गीता स्पष्टतया: ईश्वरवादी ग्रंथ है। ईश्वर-अनीश्वर के सम्बन्ध में उसमें तर्क-वितर्क है ही नहीं। वह तो श्रद्धा को अध्यात्म की पहली सीढ़ी मानती है। अत: वहाँ तर्क-वितर्क चलता ही नहीं। परन्तु गीता का ब्रह्मवाद ईश्वरवाद है, यह स्पष्ट है। सगुण-निर्गुण का वहाँ प्रश्न है ही नहीं। गीता के ब्रह्म वासुदेव ही हैं जो ईश्वर भी हैं। इस प्रकार ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद में समन्वय स्थापित किया गया है। गीता के वासुदेव पूर्ण ब्रह्म, आध्यात्म ( अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ ) ब्रह्म के ही रूप हैं। एक ही सार्वभौमिक महान चिद् सत्ता को जो विश्व की नियन्ता है और विश्व के जड़-चेतन में परिव्याप्त है तीन या कई विभिन्न नाम दे दिये गये हैं। परन्तु सत्ता एक ही है, इसमें सन्देह नहीं। इसी सत्ता से जब जीव ज्ञान का सम्बन्ध जोड़ता है, तो वह ब्रह्म है। जब जीव उससे प्रेम का सम्बन्ध जोड़ता है तो वह वासुदेव है। इस प्रकार गीता ने व्यक्त और अव्यक्त

विश्वप्रपंच को एक महान् प्रेममयी सत्ता में परिव्याप्त कर दिया है। गीता का यह समन्वय मध्ययुग के भक्तिवाद का मूलाधार है। परन्तु व्यवहार-क्षेत्र के लिए गीता निष्काम कर्म का जो उपदेश देती है उसे मध्ययुग में भुला दिया गया। अतः गीता का उपदेश मध्ययुग को आंशिक रूप से ही स्वीकृत हुआ। फिर भी गीता सांख्य और योग, निर्गुण और सगुण ब्रह्म, ज्ञान और भक्ति, राग और वैराग्य का बड़ा सुन्दर समन्वय उपस्थित करती है।

परन्तु पश्चिमी हिंदी प्रदेश में (जो औपनैषदिक विचारावली का केन्द्र था) उपनिषदों के आत्मवाद ने धीरे-धीरे अनात्मवाद का रूप ग्रहण कर लिया। तपस् और मनःशुद्धि को प्रधानता मिल गई और मनः-निरोध या मन की शून्यावस्था की प्राप्ति साधना का लक्ष्य हो गया। औपनैषदिक विचारावली में कर्मकांड और वाह्याडंबरों का जो विरोध था, उसका नैतिक जीवन का जो महत्वपूर्ण पक्ष था, वह पूर्वीय केन्द्र में बराबर विकसित होता गया। जैन और बौद्ध दर्शन में इस विकास का पूर्ण विवरण मिलता है। पश्चिम ने अवतारवाद को स्वीकार कर लिया और कृष्ण के व्यक्तित्व में ब्रह्म की पूर्णाभिव्यक्ति की कल्पना की, परन्तु पूर्व ने किसी भी प्रतीक को ग्रहण करना उचित नहीं समझा। मन की शून्यता ही सब कुछ हो गई। ब्रह्म का स्थान शून्य ने ले लिया। नागार्जुन (१७५ ई०) में हम इस 'शून्यवाद' को पहले-पहल दर्शन की भित्ति पर स्थापित देखते हैं। हीनयान, वज्रयान और मंत्रयान में हम इसी पक्ष को बल पाते देखते हैं। बौद्धधर्म और दर्शन की इन शाखाओं पर योग की साधनाओं का प्रभाव भी बराबर बढ़ता गया। योगी 'पिंड में ब्रह्माण्ड' की घोषणा करते थे तो सिद्ध साधक देह में बुद्ध के निवास और वहीं उसकी उपलब्धि की बात करते थे। महायान पश्चिमी अवतारवाद और भक्तिवाद से अनुप्राणित हुआ। चौबीस बुद्धों की कल्पना हुई और कदाचित् जातक कथाओं ने इस प्रक्रिया में सहायता पहुँचाई। इस प्रकार नास्तिक

बौद्धमत में अवतारवाद का प्रवेश हो गया। बुद्ध के अवशेष-चिन्हों पर चैत्यों का निर्माण हुआ था। धीरे-धीरे इन चैत्यों ने मंदिरों का रूप ग्रहण कर लिया और बड़े समारोह से बुद्ध और बोधिसत्वों की पूजा की जाने लगी। देवियों की भी आवश्यकता हुई। प्रज्ञापारमिता, तारा, सहज-सुन्दरी इत्यादि देवियों की कल्पना हुई और इस प्रकार बौद्ध धर्म धीरे हिंदू धर्म के साकारोपासक अवतारवादी धरातल पर उतर आया। धीरे-धीरे उसमें ऐसे सभी तत्वों का समावेश हो गया जो अबौद्धों में प्रचलित थे। स्वयं बुद्ध ने हिन्दुओं के दशावतारों में एक प्रतिष्ठित स्थान ग्रहण कर लिया और इस प्रकार महायान मध्ययुगीन वैष्णव धर्म में लोप हो गया। बुद्ध का स्थान राम-कृष्ण ने ग्रहण कर लिया।

योग की एक स्वतंत्र साधना धारा प्रागैतिहासिक काल से इन साधनाओं के समानान्तर चल रही थी। कदाचित् यह प्रारम्भिक योग शिव-शक्ति की उपासना से सम्बन्धित था। इसका सर्वप्रथम परिचय श्वेताश्तर उपनिषद (२००-१०० ई० पू०) में मिलता है। इस उपनिषद के द्वितीय अध्याय में योग का वर्णन है। पंचम अध्याय में कपिल ऋषि का उल्लेख है जो योग के पहले आंचार्य हैं। श्वेताश्वेतर में त्रैतवाद (ईश्वर, जीव और प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता) को मान्य माना गया है जो शैव-दर्शन की मूल भित्ति है। यहाँ ब्रह्म शिव या रुद्र हैं। इस प्रकार श्वेताश्वेतर को हम शैव उपनिषद कह सकते हैं। उपनिषद कहता है—'एक ही रुद्र है... जो कि इन लोकों पर अपनी ईशनी (प्रभुताओं) से शासन करता है।'[१] 'माया को प्रकृति जानो, मायी को महेश्वर।'[२] 'सारे भूतों (प्राणियों) में छिपे शिव को जान कर (जीव) सारे फंदों से मुक्त होता है।[३] जिससे

२६ श्वे० ३। २
२७ वही, ६। १०
२८ वही, ४। १६

न परे न इधर कुछ भी है, न जिससे सूक्ष्मतम या महत्तम कोई है, द्युलोक में वृक्ष की भाँति निश्चल एक खड़ा है, उस पुरुष से यह सब जगत पूर्ण है।'[4] 'जिससे यह सारा विश्व नित्य ही ढका है, जो काल का काल, गुणी और सर्ववेत्ता है वह ईश्वरों का परम महेश्वर, देवताओं का परम देवता, पशुपतियों का परम ( पति ) है। उस भुवनेश्वर को हम जानें।'[5] यह स्पष्ट है कि यहाँ औपनैषदिक ब्रह्मवाद ही शैववाद बन गया है। श्वेताश्वेतर को सांख्य की विचारधारा भी स्वीकृत है और उसने योग को सम्पूर्णतः ग्रहण किया है। योग की विधि, योगी के अनुभव और योग के प्रभाव का विशद वर्णन हमें इस उपनिषद में मिल जाता है।[6] यहाँ योग मुख्यतः मनः-निरोध की क्रिया है। पतंजलि ( २५२ ई० ) के योग-सूत्रों में योग-सम्बन्धी विचारधारा का और भी विकास मिलता है। कठ-श्वेताश्वेतर जैसे उपनिषदों और सति-पट्ठान जैसे प्राचीनतम बौद्ध सुत्तों में प्राणायाम, समाधि आदि योगिक क्रियाओं के सम्बन्ध में काफ़ी निर्देश मिलता है, परन्तु स्वतन्त्र दर्शन के रूप में योगक्रियाओं की व्याख्या कदाचित् सबसे पहले पतञ्जलि ने उपस्थित की। पतञ्जलि के योगसूत्रों में समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य का विशद वर्णन है। विभूतियाँ चमत्कारपूर्ण सिद्धियाँ हैं और परवर्ती योगसाहित्य, विशेषतयः मध्ययुग के गोरखनाथ के हठयोग में उसका खूब प्रचार था। ये सिद्धियाँ कहाँ तक सम्भव थीं यह कहना कठिन है परन्तु मध्ययुग की जनता में योगियों की लोकप्रियता इन्हीं चमत्कारों के कारण थी। योग की साधनायें आठ हैं जिन्हें अष्टांग कहा जाता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम और नियम शुद्ध आचारण और नैतिक जीवन से संबंध रखते हैं। शेष का संबंध चित्त-निरोध सम्बन्धी

---

२६ वही, ३। ६

३० वही, ६। २—१८

दैहिक, मानसिक और प्राण-सम्बन्धी साधनाओं से है। पतंजलि के अनुसार योग का अर्थ है चित्त की वृत्तियों का निरोध। जब तक चित्त की वृत्तियों का निरोध ( =विनाश ) नहीं होता, तब तक पुरुष ( =जीव ) अपने शुद्ध रूप (=कैवल्य) में स्थित नहीं होता। चित्त की वृत्तियाँ चित्त की पांच भिन्न २ अवस्थायें हैं जिन्हें पतंजलि ने प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति कहा है। मनुष्य की सारी मनः-चेतना इन वृत्तियों का ही प्रसार है। पतंजलि मन को निज-स्वरूप में ही स्थित देखना चाहते हैं। उनका कहना है कि अष्टांग योग के अनुष्ठान से चित्त के मलों का नाश होता है, जिससे ज्ञान उज्ज्वल होता जाता है, यहाँ तक कि विवेक-ज्ञान प्राप्त होता है।

मध्ययुग में योग के अनेक संप्रदाय स्थापित हुए और इतर सम्प्रदायों को भी उसने पूर्णतः प्रभावित किया। सिद्धों की रचनाओं से यह स्पष्ट है कि परवर्ती बौद्धमत में योग की चित्तनिरोध की साधनाओं का पूर्णतः समावेश हो गया था और बुद्ध को परमयोगी माना जाता था। गोरखनाथ ने सिद्धों के योग को पुनः हिन्दू योग ( या पतंजलि के योग ) के रूप में स्थापित किया और हठयोग का चक्रभेद और शक्तिसाधन की कुंडलिनी और नादानुसंधान की साधनाओं का उससे सम्बन्ध जोड़ा। उनके साहित्य में योग-सम्बन्धी प्रतीकों का बड़ा विस्तार मिलता है जो आंशिक रूप में पूर्ववर्ती सिद्ध साधकों की रचनाओं से ग्रहीत हुआ है। कबीर के साहित्य में इन योगपरक प्रतीकों को अंशतः स्वीकार कर लिया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि कबीर गोरखपंथियों की हठयोग की साधना से पूर्णतयः परिचित थे, परन्तु वे मूलतः तत्त्वदर्शी और जिज्ञासु थे। चमत्कारवाद उन्हें प्रिय नहीं रहा होगा। वह अपनी साधना को जनता की साधना बनाना चाहते थे। फलतः उन्होंने सहज-योग के रूप में यम और नियम पर ही विशेष बल दिया और भक्ति को सहज साधना के रूप में स्थापित किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्ययुग के आरंभ ( आठवीं शताब्दी ) तक भारतीय साधनाक्षेत्र में कई धाराएँ बहने लगी थीं और परस्पर एक दूसरे को प्रभावित भी कर रही थीं। कबीर (१३६८-१५१८) तक पहुँचने के लिए हमें मध्ययुग के पांच सौ वर्ष पार करने पड़ते हैं और भारतीय साधना के विकास के इतिहास में ये कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। इन पाँच शताब्दियों में भक्ति, शून्यवाद और योग के क्षेत्रों में नए-नए तत्वों का समावेश हुआ।

मध्ययुग की साधनाओं और विचारधाराओं का सब से प्रभावशाली तत्व शङ्कर का मायवाद है जिसमें औपनैषदिक ब्रह्म ने नागार्जुन के 'शून्य' का स्थान ग्रहण कर लिया है और 'माया' के द्वारा जड़ और चेतन तत्वों की तात्विक एकता की घोषणा की गई है। 'माया' का सिद्धान्त भी शङ्कर की उपज नहीं था। प्रगैतिहासिक पाशुपति धर्म में 'माया' का महत्वपूर्ण स्थान था। 'माया ही वह पाश है जिसके द्वारा पशुपति ( शिव, ब्रह्म ) पशुओं ( जीवों ) को बाँधे हुए है। परन्तु यह पाश वस्तुत: है नहीं। यह केवल भ्रमजन्य अविद्या का पाश है। तामिल साम्याचार्यों की रचनाओं में हमें मायावाद पूर्ण विकसित रूप में मिलता है। उत्तर के सिद्ध साधक भी माया के सिद्धान्तों से परिचित थे। परन्तु हिंदू और वैष्णव विचारधारा में माया को आज जितना महत्व मिलता है उसके मूल स्रोत शङ्कर ही हैं। परवर्ती आचार्यों ने मायावाद का खंडन किया और ब्रह्मजीव के अभेदत्व की ऐसी नई व्याख्यायें उपस्थित कीं जिनमें 'माया' की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। ये आचार्य मूलत: भक्त थे। उनका दर्शन उनकी भक्ति-संबंधी आस्थाओं पर आश्रित है। रामानुज ने विशिष्टाद्वैत, मध्व ने द्वैत और निंबार्क ने अचिंत्य भेदाभेद ( द्वैताद्वैत ) की स्थापना की। यह दर्शन-भेद जीव-ब्रह्म के विभिन्न संबंध पर आश्रित था। माया की अस्वीकृति के कारण दार्शनिकों को अपने मतवाद की स्थापना के लिए अनेक जटिल तर्क-वितर्कों का आश्रय लेना पड़ा।

परन्तु इसमें संदेह नहीं कि भक्तों में माया-संबंधी विचारधारा स्वतंत्र रूप से बराबर चलती रही। माया की अपार शक्ति, माया के अनेक रूपों और माया के निराकरण को लेकर भक्तों ने काफ़ी लिखा है।

भक्ति के मध्ययुगीन आन्दोलन से दक्षिण का गहरा संबंध है। वास्तव में मध्ययुग के सारे आचार्य जहाँ तात्विक दृष्टि से वेदान्ती थे, वहाँ धार्मिक दृष्टि से भक्त थे। वे सब ( बल्लभ को छोड़ कर ) दक्षिण के ही निवासी थे और बल्लभ भी रक्त और संस्कारों के द्वारा दक्षिण से संबंधित थे। भागवत पुराण में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कलि में द्रविड़ देश की भक्ति दूर दूर तक फैल जायगी। दक्षिण के तामिल प्रदेश में ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी में शैवभक्ति और वैष्णवभक्ति का काफ़ी प्रचार हो गया था। ६०० ई० से ६०० ई० तक दक्षिण में अनेक शैवभक्त ( साम्याचार्य ) हुए और उन्होंने भक्तिपूर्ण रहस्यवादी मुक्तक गीतों की बड़ी लोकप्रिय परम्परा स्थापित की। इनमें चार तिरुज्ञान समबंदर, अप्पर स्वामिगल, सुन्दरमूर्ति और मणिक्कवा शकर विशेष महत्वपूर्ण हैं। पहले तीन की रचनायें गीतों के रूप में हैं जो 'तेवारम्' में संग्रहीत हैं। इन शैवभक्तों की रचनाओं में श्रमणों ( जैनों ) और बौद्धों का विरोध भी सूचित होता है। दक्षिण में जैन और बौद्ध विचारधारा को द्राविड़ देश की मूल शैवविचारधारा से बहुत संघर्ष करना पड़ा, यह इन आचार्यों ( भक्तों ) की रचनाओं से स्पष्ट है। शङ्कराचार्य को इन भक्तों का साहित्य अत्यन्त प्रिय था। तिरुज्ञान समबंदर को वे 'द्रविड़ शिशु' कहते थे। स्वयं उनके भक्ति-स्तोत्र भारतीय साधना के महत्वपूर्ण रत्न हैं। इन भक्तों में हमें शैवाद्वैत और मायावाद का बड़ा सुन्दर गठबंधन दिखलाई देता है और प्रागैतिहासिक 'आद्य'-शिव भावना 'पशुपति' और लकुलेश धर्मों के रूप में विकसित दिखलाई पड़ती है। संभव है काश्मीर के शैवमत से इन दक्षिणी भक्तों का संबंध जोड़ा जा सके, परन्तु इसमें संदेह

नहीं कि मध्ययुग की शैवाद्वैती साधना और रहस्यवाद का मूल हमें दक्षिणी साम्याचार्यों में ही मिलता है।

परन्तु इसी समय इसी प्रदेश में वैष्णव भक्त भी हो गये हैं जो शैव साम्याचार्यों से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। इन वैष्णव आचार्यों और भक्तों की प्रसिद्धि अलवार नाम से है। इनकी संख्या १२ है। इनकी रचनाओं का संग्रह दिव्यप्रबंधम् है। इन वैष्णवों में नामा, कुलशेखर, तिरुमंगल और अण्डाल विशेष-प्रसिद्ध हैं। इन भक्तों के आदर्श विष्णु अथवा उनके कृष्ण और रामावतार थे। इनकी साधना व्यक्तिगत थी। भक्ति से इनका व्यक्तित्व ओतप्रोत था। अण्डाल (ज० ७१६) मीरां की तरह कृष्ण को अपना प्रियतम मानती थीं और कृष्ण के विग्रह में ही वह लीन हो गईं। वस्तुतः ८ वीं शताब्दी से १२-१३ वीं शताब्दी तक तामिल प्रदेश की वैष्णव भक्ति प्रेममूलक साधना का सब से सुन्दर रूप उपस्थित करती थी।

१३ वीं शताब्दी में कर्नाटक में विट्ठल मत का जन्म हुआ। यहाँ भक्त 'हरिदास' नाम से प्रसिद्ध हुये। हरिदास पंढारपुर के विट्ठल (बिठोवा), तिरुपति के वेंकटेश और कृष्ण के उपासक थे। पंढारपुर के बिठोवा के सबसे पहले पुरोहित का नाम पुण्डलीक है। कदाचित् बिठोवा का मूलरूप शिवलिंग था और उन्हें पांडुरंग कहा जाता था। कालान्तर में पाडुरंग विट्ठल का साम्यवादी हो गया। प्रो०रानाडे का यही मत है। कन्नड़ देश में 'रंग' कृष्ण का नाम है। ज्ञानेश्वर ने 'कानड़ा हो विट्ठलु कर्णाटकु' कहकर कर्नाटक (कन्नडदेश) को विट्ठल से अनन्य रूप से सम्बन्धित कर दिया है। पुण्डलीक के बाद कबीर के पूर्ववर्ती और समसामयिक जिन हरिदासों की रचनाएँ हमें प्राप्त है वह नरहरि तीर्थ (१३३१), श्रीपादतीर्थ (१४९२), व्यासराय तीर्थ (१४४६—१५३९) और शिनप्पा (१४९१—१५९३) हैं। इसका प्रचुर साहित्य

प्राप्त है। हरिदासों की मूल प्रेरणा मध्व का द्वैतवाद है, परन्तु उनके पदों में भक्ति, ज्ञान और कर्म की सम्यक् विवेचना भी है। मध्व ने द्वैतवाद के आधार पर भागवत-पुराण की व्याख्या की और कन्नड में उन्होंने द्वैताश्रित कृष्णभक्ति का ही प्रचार किया। इन हरिदासों से प्रभावित होकर ही महाराष्ट्र में मुकुन्दराज, ज्ञानेश्वर और एकनाथ ने द्वैत भावमूलक स्वामी-सेव्य भाव की भक्तिधारा बहाई।

लगभग १०० वर्षों में यह भक्तिधारा महाराष्ट्र और गुजरात होती हुई उत्तर भारत में पहुँच गई। परन्तु उत्तरभारत में पहले उसका विशुद्ध तामिल या कर्णाटकी रूप नहीं पहुँचा। १२ वीं—१३वीं शताब्दी में महाराष्ट्र गोरखपंथी योगियों का एक बहुत बड़ा केन्द्र हो रहा था। दक्षिण की भक्तिधारा इस केन्द्र में योग-विचारधारा और योग-साधना से मिश्रित हो गई। यह प्रसिद्ध है कि गहनीनाथ (आ० का० १२२३ ई०) गोरखनाथ के शिष्य थे। इन गहनीनाथ के शिष्य हुए निवृत्तनाथ (ज० ११७३ ई०)। प्रसिद्ध ज्ञानेश्वर इन्हीं के छोटे भाई और शिष्य थे। जान पड़ता है, योग और भक्तिवाद का मिश्रण निवृत्तनाथ में ही हो गया था। योगी ज्ञानेश्वर ने गीता की भक्तिपूर्ण चिंता को भी इसमें स्थान दिया। ज्ञानेश्वर (ज्ञानदेव) का समय ११९७—१२७२ ई० है। नामदेव और त्रिलोचन इनके समकालीन और मित्र थे और कदाचित् उनसे प्रभावित भी हुए थे। नामदेव (११९२—१२७२ ई०) का काफ़ी साहित्य आदिग्रंथ में संग्रहीत हैं। कबीर ने अपने काव्य में बारम्बार नामदेव को सम्मानसूचक शब्दों में स्मरण किया है। वह उनके हिंदी पदों और अभंगों से निश्चय रूप से परिचित रहे होंगे। रामानन्द के गुरु राघवानन्द भी प्रसिद्ध योगी थे और 'सिद्धान्त पंचमात्रा' नाम की उनकी रचना में योग और वैष्णव भक्ति का अद्भुत समन्वय प्राप्त होता है। रामानन्द के द्वारा यह समन्वय कबीर को प्राप्त हुआ होगा, इसमें संदेह नहीं। राघवानन्द के सम्बन्ध में हम अधिक नहीं

जानते । केवल उनके काशीवास के सम्बन्ध में ही हम निश्चय रूप से कुछ कह सकते हैं । परन्तु इसमें संदेह नहीं कि वह किसी न किसी रूप में महाराष्ट्र प्रदेश से संबन्धित रहे होंगे । यह स्पष्ट है कि गोरखनाथ के कुछ ही बाद निवृत्तनाथ से योग-भक्ति ( निर्गुण भक्ति ) का यह रूप धीरे-धीरे विकसित होने लगा था । नामदेव में यह समन्वय बहुत कुछ सुलझे हुए रूप में मिलता है। रामानन्द ने महाराष्ट्र प्रदेश के इस समन्वय की धारा को और भी आगे बढ़ाया । उन्होंने नामदेव के 'बीठल' ( विट्ठल ) को 'राम' बना दिया । परन्तु न नामदेव के विट्ठल सगुण अवतारी विष्णु थे, न रामानन्द के राम । यह नाम केवल प्रतीक मात्र थे और प्रकारांतर से 'ब्रह्म' के ही द्योतक थे। योग-भक्ति का यह समन्वय मध्ययुग की जनता का सामान्य विश्वास बन गया । जो वर्ण और सम्प्रदाय पहले योगियों द्वारा दीक्षित थे वे इस नई विचारधारा से विशेष रूप से प्रभावित हुए । इस नई विचारधारा को आलोचकों और ऐतिहासिकों ने 'संतमत' कहा है । मुसलमान यदि इस देश में नहीं आये होते और उनके साथ भारतीय साधक सूफ़ी साधना से परिचित नहीं हुये होते, तो भी कालांतर में यह योग-भक्ति ( निर्गुण भक्ति ) का समन्वय मध्ययुग का सर्वमान्य धर्म बन जाता । परिस्थितियाँ कुछ इसी ओर इंगित कर रही थीं ।

परन्तु कबीर के द्वारा यह समन्वय एक विशेष दिशा में आगे बढ़ा । एक ओर उनने वेदांत के ब्रह्मज्ञान को समेट लिया और दूसरी ओर सूफ़ियों की 'विरह की पीर' को अपना लिया । कबीर यदि इस क्षेत्र में नहीं आये होते तो मध्ययुग के संत-मत में अद्वैतभाव की यह गहनता और प्रेममिलन एवं विरह की यह तीव्रता नहीं आई होती। नामदेव और रामानन्द के अन्य शिष्यों में वेदांत की झलक तो मिलती है, परन्तु उसकी भित्ति इतनी गहरी नहीं है । सूफ़ी कबीर के लिए वेदांत-ज्ञान नया ज्ञान नहीं था और कदाचित् उन्होंने इसे भी सत्सङ्ग से ही अधिक प्राप्त किया ।

परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनकी विचारधारा औपनैषदिक ज्ञान और सूफ़ी प्रेमसाधना से ओतप्रोत है। उसमें योग और भक्ति का समन्वय भी है, परन्तु इस समन्वय की एक परम्परा गोरखनाथ के समय से ही चली आती थी और वह रामानन्द के माध्यम से कबीर को प्राप्त हुई। परन्तु कबीर की साधना का निजी व्यक्तित्व इन दो नये तत्वों द्वारा स्थापित हुआ।

कबीर के योगदान को समझने के लिए भारतीय साधना के इस इतिहास को समझ लेना आवश्यक है। इसे समझे बिना न हम मध्ययुग की साधना के सम्यक् रूप से परिचित हो सकते हैं न कबीर के साथ न्याय ही कर सकते हैं। कबीर बहुश्रुत थे। जिज्ञासु थे। सत्य-शोधी थे। साधक थे। उनका व्यक्तित्व महान था। ऐसा साधक ही विभिन्न विचारधाराओं और साधनाओं को एक केन्द्र पर ला सकता था। आज हमें कबीर की वाणी अटपटी लगती है, उसमें विषमता और विभिन्नता है। इसका कारण यह है कि हम उस महान व्यक्तित्व के सच्चे रूप से परिचित नहीं हो सके हैं। उनकी वाणी उनके युगप्रवर्तक व्यक्तित्व को केवल आंशिक रूप से ही उद्घाटित करने में समर्थ हो सकती है। जहाँ तर्क-वितर्क और विज्ञान में विरोध है, वहाँ सत्य-साधना और श्रद्धा-भक्ति में पूर्ण सामंजस्य मिलता है।

कबीर का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त एकेश्वरवाद है। सारे जगत में एक ही सार्वभौम चिन्मय सत्ता व्याप्त है; कबीर कल्पना करते हैं कि यह रामजल सारे संसार में ओत-प्रोत है। जो जन इस जल से परिचित हो जाते हैं वे सांसारिक सुख की मरु-छाया की ओर नहीं दौड़ते। उनके लिए यह 'भवसागर' ही 'सुखसागर' हो जाता है और वह इस अमृत-जल से कभी भी छक नहीं पाते। मुसलमानी ऐकेश्वरवाद से यह एकेश्वरवाद भिन्न है—यहाँ वह परम सत्ता परम शासक नहीं हैं। वह

प्राणियों में ओतप्रोत प्रेमभाव है। परन्तु यद्यपि कबीर ने एक ही परम सत्ता मानी है, इस सत्ता को उन्होंने अनेक प्रचलित नामों से स्मरण किया है जिससे थोड़ा भ्रम हो जाता है। सबसे अधिक प्रयोग 'राम' नाम का है, परन्तु अन्य दूसरे नाम भी आते हैं जैसे हरि, गोविंद, नारायण, शारङ्गधर, ब्रह्म, अल्लाह, ख़ुदा इत्यादि। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि कबीर बहुदेववाद के समर्थक हैं। वस्तुतः कबीर का यही कहना है कि यद्यपि अनेक नामों का प्रयोग हो सकता है, परन्तु वह चिन्मयसत्ता एक है। कभी-कभी उन्होंने हिन्दू देवताओं का उल्लेख भी किया है या उनसे सम्बन्धित कथा का उपयोग भी किया है, परन्तु वह स्वतन्त्र रूप से उनकी स्थिति में विश्वास नहीं करते। वह केवल एक मात्र निर्गुण ब्रह्म (रांम) के उपासक हैं। राम का यह निर्गुण रूप रामानन्द के ही एक पद में उपलब्ध होता है। बाद में कबीर ने इसकी शतधा घोषणा की परन्तु कबीर के ब्रह्मवाद का रूप क्या है—वे अद्वैतवादी थे या विशिष्टाद्वैतवादी। अहमदशाह का कहना है कि वे अद्वैतवादी थे। बहुत से पद और साखियाँ इसकी पुष्टि में उपस्थित की जा सकती हैं। परंतु ऐसी पद-साखियाँ भी कम नहीं हैं जिसमें वे विशिष्टाद्वैतवादी के रूप में सामने आते हैं, जिनमें सृष्टि को ब्रह्म का शरीर या अभिव्यक्ति कहा गया है, माया-रचना नहीं और ब्रह्मजीव के मिलन के बाद भी आत्मा (जीव) के व्यक्तित्व की स्वतंत्रता मानी है। कदाचित् कबीर दार्शनिक दृष्टिकोण को सामने नहीं रखते। वे दार्शनिक वितंडावाद से दूर रहते हैं। उन्होंने वेदान्त और भक्ति को एक साथ ग्रहण कर लिया है। वेदान्त का निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म केवल तर्कसिद्ध है। जहाँ २ उसमें गुणों का आरोप दिखलाई पड़ता है वहाँ २ वह माया-जन्य है। साकार ब्रह्म भी मायाप्रसूत बतलाया जाता है परंतु निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान सबके लिए सरल नहीं है। हृदय की भूख भी तो मिटनी चाहिये। अतः निर्गुण ब्रह्म पर भी रूप-गुण का आरोप आवश्यक हो जाता है। ब्रह्म का यह सोपाधि रूप भी मायाकृत ही है।

वैसे यह चिर अव्यय, निरुपाधि और निर्विशेष है। परन्तु यह जानता हुआ भी साधक व्यक्तिगत उपासना और भक्ति के क्षेत्र में सोपाधि ब्रह्म को ही अधिक उपादेय मानता है। भक्ति के क्षेत्र में प्रवेश करते ही ब्रह्म में गुणों की स्थापना आवश्यक हो जाती है। परन्तु कबीर फिर भी बार-बार बतलाते देते हैं कि उनके राम न विष्णु हैं, न अवतारी पुरुष दाशरथि राम। इस प्रकार कबीर की रांम-भावना वेदांतियों की ब्रह्म-भावना से भिन्न हो जाती है और उनके रांम में व्यक्तित्व का आरोप हो जाता है। फलतः कबीर उनके प्रति विनय, प्रेम-मिलन और विरह से भरे हुए पद निवेदन करने में समर्थ होते हैं। यह रांम दयावान, क्षमाशील, आनंदरूप, सर्वसुन्दर पूर्णातिपूर्ण और अत्यंत प्रेममय हैं। कबीर उन्हें माता-पिता और प्रियतम के रूप में सहजसुलभ और चिर अनुग्रही समझते हैं। वह सर्वव्यापिन् और सर्वशक्तिमान् है परन्तु भक्त के लिए वत्सलता और कृपा-भाव से ओतप्रोत हैं। इस प्रकार कबीर की ब्रह्मभावना सगुण और निर्गुण के बीच में झूलती है या इन दोनों के आगे परब्रह्म तक पहुँच जाती हैं जहाँ निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं रहता, जहाँ ब्रह्म के विरोधी धर्मों का पूर्णतः समाहार हो जाता है।

इस ब्रह्मभावना तक पहुँचने के लिये साधक को सतत प्रयत्नशील रहना होता है। माया और काल उसके इस प्रयत्न में सबसे बड़े बाधक हैं। वेदांती 'माया' शब्द का प्रयोग जिस 'आभास' अथवा 'अध्यास' के लिए करते हैं उस प्रकार का प्रयोग कबीर में भी है परन्तु साधारणतः कबीर माया को वही स्थान देते हैं जो सूफ़ी साधना में शैतान को मिला है। वह शैतान की भाँति माया को निंद्य और प्रपंची मानते हैं। काल तो मनुष्य के सारे साधनों पर पानी फेरने के लिए तैयार ही रहता है। इन दोनों को जीत कर ही मनुष्य ब्रह्मभाव (रांम) की उपलब्धि कर सकता है। तभी वह कर्मबन्धन और आवागमन से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। कर्म

और आवागमन के सिद्धांत मूलत: भारतीय सिद्धान्त हैं परंतु कबीर की भाँति शेख फ़रीद, बुल्लाशाह और परवर्ती सूफ़ियों ने उन्हें स्वीकार किया है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि कबीर उस अर्थ में दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता नहीं थे जिस अर्थ में शङ्कर और रामानुज या नागार्जुन थे। विशुद्ध दार्शनिक चिन्ता हमें उनमें नहीं मिलती, न उनकी विचारधारा में किसी दार्शनिक-पद्धति के दर्शन होते हैं। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उनकी विचारधारा और उनकी साधना का मूलाधार वेदांत है। परन्तु कबीर का वेदांत शङ्कर की शुष्क सोऽहं-भावना नहीं है। वह केवल ज्ञान का विषय नहीं है। कबीर ने परमसत्ता (राम, ब्रह्म) को प्रेममय बना कर और उसे आत्मा के 'प्रियतम' का रूप देकर उसमें गुणों का समावेश कर दिया है। फलतः कबीर की अद्वैत विचारधारा में विशिष्टाद्वैत की झलक आ जाती है। निर्गुण ब्रह्म को परम प्रेममय और पिंडस्थित ईश्वर को सर्वव्यापिन् बनाने से रहस्यवाद की भी प्रतिष्ठा हो जाती है। इस प्रकार कबीर की विचारधारा और साधना में निर्गुण ब्रह्म, विशिष्टाद्वैतवादी सगुण ब्रह्म और परम प्रेममय सूफ़ियों के अल्लाह का समाहार हो जाता है। उनका दृष्टिकोण मध्ययुग की सारी आध्यात्मिक धाराओं को एक केन्द्र-बिन्दु दे देता है। यही समन्वय मध्ययुगीन साधना में कबीर का योगदान है।

परन्तु यह समन्वय केवल ज्ञान या तर्क-वितर्क द्वारा उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। यह समन्वय ज्ञान और तर्क-वितर्क का विषय हो भी नहीं सकता। इसके लिए कबीर को आध्यात्मिक जिज्ञासा, तितीक्षा, विरह की साधना और संत-समागम का पथ ग्रहण करना पड़ा। कबीर की आध्यात्मिक खोज का जन्म उनकी सांसारिक वितृष्णा, माया की रहस्यवादी धारणा और ससार की नश्वरता से होता है। यह सारा संसार एक महान इंद्रजाल

है जिसके दो प्रधान सूत्र कर्मबन्धन और आवागमन हैं। दुःख-सुख हानि-लाभ, शीतोष्णता इत्यादि द्वन्दों में माया का ही प्रसार है। काल पुरुष का मान मर्दन करना होगा, सारा संसार काल के भ्रम में भूला हुआ है। इस प्रकार की जिज्ञासा और अनुभूति को लेकर कबीर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ते हैं।

इस जिज्ञासा का आंशिक समाधान वेदांत-ज्ञान से प्राप्त होता है। वेदांती कहता है कि माया केवल ब्रह्म की यवनिका है। वह भ्रम मात्र है। जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम। उसकी सत्ता है ही नहीं। इस प्रकार के दृष्टिकोण से स्पष्टतयः माया का बाध हो जाता है। वेदांती की भाँति कबीर भी कहते हैं कि इस सारे संसार में जीवन ही ओत-प्रोत है, सर्वत्र आनन्द का ही राज है, सब कहीं अमरता का प्रसार है। मृत्यु और नाश माया-जन्य भ्रम ही हैं। जीव अविनश्वर परमात्म सत्ता का अंश ही नहीं है, वह स्वतः परमानन्द और अविनश्वर है। मनुष्य केवल इसकी पूर्ण अनुभूति अपने भीतर जगाये। इस महान सत्ता को जो संसार में ओत-प्रोत हैं वेदांती ब्रह्म कहते हैं, कबीर ने उसे राम कहा है।

परन्तु ज्ञान तो मनुष्य को आधी मंजिल तक ही पहुँचा पाता है। उससे मनुष्य की अंतः-प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध, अतः पूर्ण शांति असम्भव है। इसलिए कबीर एक दूसरे तत्त्व को भी ज्ञान के साथ ग्रहण करते हैं। यह तत्त्व है प्रेम, भक्ति, इश्क़। वैष्णव उसे भक्ति कहते हैं। सूफ़ी, इश्क़। वास्तव में वह एक ही अभिन्न प्रेम-तत्व है। कबीर ने जिसे 'नारदी भक्ति' या 'भाउ-भगति' कहा है वह साधारण भक्ति-भावना नहीं, तीव्र तन्मयासक्ति है जो सूफ़ियों के 'इश्क़' का ही नया नाम है। दोनों में तत्वतः कोई भेद नहीं। यह भक्ति (इश्क़) ही निर्गुण साधक कबीर का अंतिम लक्ष्य है। इसकी भूमिका के रूप में ज्ञान उपादेय है,

परन्तु अंत में हरि-कृपा से भक्ति की अमृत-वर्षा की प्राप्त होती है।

परन्तु 'भक्ति' ( भाउ-भगति ) के क्षेत्र में उतरने के पहले भक्त या संत साधक को किसी न किसी प्रकार की साधना की अपेक्षा है ही। कबीर योगियों ( नाथ-पंथियों ) और सूफ़ियों की साधना को पूर्णतः स्वीकार नहीं कर लेते। वे इन साधनाओं के अतिवाद का खंडन करते हैं। कदाचित् योगियों और सूफ़ियों के सांप्रदायिक साधनों पर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया है। अनेक पदों में उन्होंने 'सहज योग' की शिक्षा दी है और 'अवधू' को नैतिक गुणों की उपलब्धि का उपदेश दिया है। उनकी साधना का मुख्य रूप नैतिक है। इस नैतिक साधना के अनेक अंग समसामयिक वैष्णव साधना में मिल जाते हैं। कबीर ने इन नैतिक वैष्णव साधनों पर इतना बल दिया है कि साधारण दृष्टि से वह वैष्णव ही जान पड़ते हैं। परन्तु उच्च नैतिक स्तर पर वैष्णव और सूफ़ी साधक एक ही बात कहते हैं। फलतः यह कहना कठिन है कि कबीर जितने बड़े वैष्णव हैं, उतने बड़े सूफ़ी नहीं हैं।

परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि साधनाएं साधनाएं हैं। उनसे साधना-क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ा जा सकता है, परन्तु 'भाउ-भगति' ( इश्क ) की उपलब्धि तो उस परमतत्व की पुष्टि ( करम ) से ही होगी। अतः साधक को अंत में एक ही उपाय का अवलंबन है। वह उपाय है आत्मसमर्पण। अहंभाव ( ख़ुदी ) का सम्पूर्ण नाश आत्मसमर्पण की पहली शर्त है। कबीर की साधना में आत्मसमर्पण की कई मंज़िलें मिलती हैं। वह सेवक के आत्मसमर्पण-भाव से शुरू करते हैं और प्रेमिका के प्रेमी के प्रति आत्मसमर्पण-भाव पर समाप्त करते हैं। यही उनकी 'भाउ-भगति' की पराकाष्ठा है। अंत में तो प्रियतम-प्रियतमा ( साध्य साधक या जीव-ब्रह्म ) में कोई भेद ही नहीं

रहता। इस अभेद की अवस्था में, जीव में 'महाभाव' का जन्म होता है और वह आनन्द और उल्लास में नाच उठता है। यही सिद्धावस्था है।

साधना की उच्चावस्था तक पहुँच कर धर्म-कर्म के बाह्याडंबर और बाह्याचार समाप्त हो जाते हैं। अवतारवाद और नाम-भेद में आस्था जाती रहती है। सभी नाम समान अर्थों के द्योतक या दूसरे अर्थों में किन्हीं भी अर्थों के द्योतक नहीं रहते। साधक सब धर्मों से ऊपर आत्म-धर्म को महत्ता देने लगता है। वह सभी साधनाओं के सारभूत तत्वों को अपना लेता है। परन्तु अंत में वह साधन-निर्पेक्ष अहेतुक भक्ति (इश्क़) को ही महत्ता देता है। इस स्थिति पर पहुँच कर माया और काल का पूर्ण बाध हो जाता है और आत्मा परम प्रेम में स्थिति हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर की 'भाउ-भगति' की साधना में भारतीय साधना की कई हज़ार वर्ष पुरातन धाराओं का मध्ययुगीन नया समन्वय उपस्थित हो जाता है। इस समन्वय में नई शक्ति है, जीवन की नई विवेचना है और यह समन्वय ही भारतीय साधना-क्षेत्र में कबीर का योगदान है।

---

# परिशिष्ट

## (अ) कबीर-वाणी की पाठ की समस्या

हिंदी-साहित्य के विद्वानों और आलोचकों के लिये कबीर-वाणी के पाठ की समस्या कम महत्वपूर्ण नहीं है। अभी तक कबीर की वाणी का कोई भी ऐसा सम्पादित संग्रह हमारे पास नहीं है जिसे प्रामाणिक कहा जाय और जिसके पाठ को शुद्ध पाठ माना जा सके। जब तक ऐसा संग्रह उपलब्ध नहीं होता तब तक कबीर के सम्बन्ध में अंतिम शब्द कहना असंभव है। उनकी साधना, उनकी विचारधारा, उनका सामाजिक दृष्टिकोण, उन पर पूर्ववर्ती साधकों और समसमायिक धार्मिक धाराओं को प्रभाव—ये कुछ अत्यन्त उलझी हुई समस्याएँ हैं और जब तक कबीर-वाणी शुद्ध और सम्पादित रूप में प्रामाणिक ढंग से आलोचक के सामने उपस्थित नहीं होती तब तक उससे यह आशा करना व्यर्थ है कि वह जो लिखेगा वह आंशिक सत्य नहीं होगा। कबीर सूफी थे, सन्त थे, वैष्णव थे या योगी थे; उनकी विचार-धारा अद्वैत की पोषक है या विशिष्टाद्वैत की या शुद्धाद्वैत की या द्वैत की—आज जिस दशा में कबीर की वाणी उपलब्ध है उसे देखते हुए इन विषयों पर निश्चित रूप से कहना असम्भव है। जिसने कबीर की वाणी को जो रूप दे दिया, हम उसे सत्य मानकर बैठ गये। अतः कबीर की वाणी के शुद्ध पाठ की समस्या कबीर-साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की सब से बड़ी समस्या है।

कबीर-वाणी के तीन निश्चित रूप हमारे सामने आज भी उपस्थित हैं। आदि-ग्रंथ में सुरक्षित कबीर-वाणी का संग्रह 'संत कबीर' नाम से

डा० रामकुमार वर्मा ने सु-सम्पादित रूप में हमें दे दिया है। 'कबीर ग्रन्थावली' इस प्रकार का एक दूसरा संग्रह है जिसके आधार पर पिछले २० वर्षों से कबीर का अध्ययन-अध्यापन हो रहा है। इसका सम्पादन डा० श्यामसुन्दरदास ने किया था और नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में प्रकाशित होने के कारण इसकी प्रामाणिकता विशेष मान्य रही है। एक तीसरा रूप 'बीजक' में सुरक्षित है। अभी हिन्दी के किसी विद्वान ने इस ग्रंथ का सम्पादन नहीं किया है, परन्तु ईसाई पादरी-वर्ग और कबीर-पंथी इस दिशा में बराबर प्रयत्नशील रहे हैं। रे० अहमद शाह के १६११ वाले संस्करण को हम 'बीजक' का सबसे प्रामाणिक संग्रह मान सकते हैं।

परन्तु जिसने इन तीनों प्रधान स्रोतों की परख की है, उससे यह छिपा नहीं है कि इन लोगों में कबीर-वाणी और उसकी भाषा की समस्या अभी भी उलझी हुई है। आवश्यकता इस बात की है कि इन तीनों संग्रहों की वैज्ञानिक परीक्षा हो और निष्कर्ष-स्वरूप कबीर की अंतिम निर्णयात्मक, नई पाठावलि का निर्माण हो। यह शोक का विषय है कि वर्षों से कबीर का अध्ययन रुका हुआ है और आज भी कबीर के सम्बन्ध में आंशिक सत्य या भ्रांतियों का ही प्रचार हो रहा है।

सम्पादन के क्षेत्र में उतरते ही सबसे पहले पाठभेद की समस्या आती है, फिर भाषा के निश्चित रूपों की। ये दोनों समस्यायें ही महत्व-पूर्ण हैं। पहले हम पाठभेद की समस्या को लेंगे।

कबीर की कुछ समस्यायें 'आदि-ग्रंथ', 'कबीर-ग्रंथावली' और 'बीजक' में समान रूप से पाई जाती हैं। पहले हम उनकी परिस्थिति पर विचार करेंगे। उदाहरण के लिए 'आदिग्रंथ' के रागु केदारा का चौथा पद इस प्रकार है :

काम क्रोध त्रिसना के लीने गति नहीं एकै जानी।
फूटी आँखैं कछू न सूझै बूड़ि मुए बिनु पानी॥
चलत कत टेढ़े टेढ़े टेढ़े टेढ़े।
असति चरम बिसटा के मूँदे दुरगंध हो के बेढ़े॥१॥
राम न जपहु कवन भ्रम भूले तुम ते कालु न दूरे।
अनिक जतन करि इह तनु राखहु रहै अवसथा पूरै॥२॥
आपन कीया कछू न होवै किआ को करै परानी।
ता तिसु भावै सतिगुरु भेटै एको नाम बखानी॥३॥
बलूआ के घरूआ महि बसते फुलवत देह अइआनें।
कहु कबीर जिह रामु न चेतिओं बूड़े बहुतु सिआने॥४॥

कबीर ग्रंथावली में ३११ वाँ पद इस तरह है:—

चलत कत टेढ़ौ टेढ़ौ रे।
नऊं दुवार नरक धरि मूँदे, तू दुरगंधि कौ बेढौ रे॥टेक॥
जे जारे तौ होइ भसम तन रहित किरम जल खाई।
सूकर स्वांन काग को भाखिन, ता मैं कहा भलाई॥
फूटे नैने हिरदै यहीं सूझै मति एकै नहीं जांनी॥
माया मोह ममिता सूं बांध्यौ, बूड़ि मूवौ बिन पांनी॥
बारू के घरवा मैं बैठो, चेतत नहीं अयांनां।
कहै कबीर एक रामु भगति बिन, बूड़े बहुत सयांना॥

'बीजक' में इस पद का रूप इस प्रकार है:

चलहू का टेढ़ो टेढ़ो बेढ़ो।
दशों द्वार नरक भरि बूड़े, तुम गंधी का बेठो॥१॥
फूटि नयन हृदय नहिं सूझे, मति एको नहिं जानी।
काम क्रोध तृष्णा के मारे, बूड़ि मुये बिनु पानी॥२॥

जो जारे तन होय भस्म धूरी, कृमि कीट खाई।
शूकर श्वान काग के भोजन, तन के इहै बड़ाई ॥३॥
चेति न देखो मुग्ध नर औरे, तुम तें काल न दूरी।
कोटिक यत्न करहू बहुतेरे, अंत अवस्था धूरी ॥४॥
बालू के घरवा में बैठे, चेतत नहीं अयाना।
कहही कबीर कबीर एक राम भजे बिनु, बूड़े बहुत सयाना ॥५॥

यही बीजक का ७२ वाँ पद है तीनों पाठों की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'कबीर ग्रंथावली' और 'बीजक' के रूप में बहुत कुछ समानता है। परिवर्तन केवल इतना है कि आ० ग्र० का दूसरा चरण बीजक का चौथा चरण है, परन्तु क० ग्रं० में उसका अभाव है। भाषा-भेद तो है ही। आ० ग्रं० के पद का रूप कुछ अधिक प्राचीन जान पड़ता है। उसमें जयदेव और विद्यापति की पद-शैली अपनाई गई है जो मार्ग संगीत पर आश्रित है। शेष दोनों पदों की शैली देशी संगीत की शैली है जिनमें ध्रुवक (टेक) को सबसे पहले स्थान मिलता है। पदों की यह शैली कदाचित् मानसिंह तोमर के समय (१४८६–१५१८) में पश्चिमी हिंदी प्रदेश में विकसित हुई थी। यदि यह ठीक है, तो हम कबीर की प्रामाणिक रचना के लिए आदि ग्रंथ के ही ऋणी होंगे। बीजक-कर्ता अन्य दोनों स्रोतों से पूर्णतयः परिचित जान पड़ता है। उसके पद का आधार क० ग्रं० वाला पद है परन्तु उसने आ० ग्रं० की सामग्री का भी समावेश किया है। आदिग्रंथ के रागु सोरठि के दूसरे पद, क० ग्रं० के २४१ वें पद और बीजक के ७५ वें पद की तुलना करने पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। स्पष्टतयः बीजक की सामग्री क० ग्रं० की सामग्री के अधिक निकट पड़ती है। परन्तु यह केवल उन थोड़े से पदों की बात है जो बीजक में भी समान रूप में मिल जाते हैं और जिनमें पाठ-भेद अधिक नहीं है।

परन्तु कुछ पदों की सामग्री बिखरी सी लगती है। उदाहरण-स्वरूप आ० ग्रं० के रागु तिलंग के पहले पद की सामग्री क० ग्रं० में २५७—२५८ पदों में बँटी मिलती है। कदाचित् रागु तिलंग की दो पंक्तियां अलग कर एक नये पद की रचना कर ली गई है। बीजक में इस प्रकार की कोई सामग्री नहीं है। दोनों पदों को साथ-साथ रखने पर पाठभेद की कठिनाई समझ में आ सकेगी। आ० ग्रं० का पद इस प्रकार है :

बेद कतेब इफतरा भाई दिल का फिकरु न जाइ।
टुकु दम करारी जउ करहु हाजिर हजूर खुदाइ॥
बंदे खोजु दिल हर रोज ना फिरु परेसानी माहि।
इह जु दुनीया सिहरु-मेला दसतगीरी नाहि॥१॥
दरोगु पढ़ि—पढ़ि खुसी होइ बेखबर बादु बकाहि।
हकु सचु खालकु खलक मिआने सिआम मूरति नाहि॥२॥
असमान म्यिाने लहंग दरीआ गुसल करदने बूद।
करि फकरु दाइम लाइ चसमे जह तहा मउजूद॥३॥
अलाह पाक पाक है सक करउ जे दूसर होइ।
कबीर करमु करीम का उहु करै जानै सोइ॥४॥

क० ग्रं० के २५७ वें पद का रूप यह है :

रे दिल खोजि दिलहर खोजि, नां परि परेसानी मांहि।
महल माल अजीज औरति, कोई दस्तगीरी क्यूं नाहि॥टेक॥
पीरां मुरीदां काजियां, मुलां अरू दरवेस।
कहाँ थे तुम्ह किनि कीये अकलि है सब नेस
कुरानां कतेबा अरु पढ़ि पढ़ि, फिकरि या नहीं जाइ।
टुकदम करारी जे करैं, हाज़िरां सूर खुदाइ॥

दरोगा बकि-बकि हूहिं खुसिया बे-अकलि बकहि पुमाहिं।
हक साच खालक खाजक म्यानै सो कछु सचं मूदति माँहि॥
अलह पाक तू नापाक क्यूँ, अब दूसर नाहीं कोइ।
करीम काम करीम का करनी करै जानैं सोइ॥

परन्तु आ० ग्रं० के तीसरे चरण का इसमें पता नहीं है। क० ग्रं० के अगले चरण में यह पाठ है :

खालिक हरि कहीं दर हाल।
पंजर जसि करद दुसमन, मुरद करि पैमाल॥टेक॥
भिस्त हुसकाँ दोजगा, दुंदर दराज दिवाल।
पहनाँम परदा इतं आतस, जहर जंगम जाल॥
हम रफतरहबरहु समां मैं खुर्दा सुमां बिसियार।
हम जिमी असमाँन खालिक, गुंद मुस्किल कार॥
असमांन म्यानैं लहंग दरिया, तहाँ गुसल करदा बूद।
करि फिकर रह सालक जसम, जहाँ स तहाँ मौजूद॥
हंम चु बूँदनि बूंद खालिक, गरक हम तुम पेस।
कबीर पनह खुदाइ की, रह दिगर दवानेस॥

यह स्पष्ट है कि इस दूसरे पद में सार्थक पंक्तियाँ बहुत कम हैं और फ़ारसी का आभास-मात्र देने का प्रयत्न किया गया है। इसे हम कबीर की मौलिक रचना कैसे समझें? कदाचित् आ० ग्रं० के पद से प्रेरणा लेकर इन नये पद की सृष्टि की गई है।

आ० ग्रं० का रागु धनासरी का एक पद है—

जो जनु भाउ भगति कछु जानै ताकउ अचरजु काहो।
जिउ जलु जल महि पैसि न निकसै तिउ ढुरि मिलिओ जुलाहो॥

हरि के लोगा मै तउ मति का भोरा ।
जउ तन कासी तजहि कबीरा रमईऐ कहा निहोरा ।
कहत कबीर सुनहु रे लोई भरमि न भूलहु कोई ।
किआ कासी किआ ऊखरु मगहरु रामु रिदै जउ होई ॥

बीजक में इस पद का यह रूप मिलता है—

लोगो तुम्ही मति के भोरा ।

ज्यों पानी पानी में मिलिगो, त्यों धूरि मिलै कबीरा ॥ १
जो मैथिल को सच्चा वास । तोहिं मरण होय मगहर पास ॥ २
मगहर मरै मरण न पावै । अन्तै मरै तो राम लजावै ॥ ३
मगहर मरे सो गदहा होई । भल प्रतीति राम सों खोई ॥ ४
का काशी का मगहरु ऊसर, हृदय राम बसे मोरा ॥ ५
जो काशी तन तजै कबीरा, तो रामै कौन निहोरा ॥ ६

इस पद में बीच में चौपाई छंद का प्रयोग हुआ है जो स्पष्टतः अस्वाभाविक है। बीजक में मगहर-संबंधी एक पद ( देखिये पद, १५ ) चौपाई छंद में मिलता है। कदाचित् उसके आधार पर पद के बीच में ये नई पंक्तियाँ ठूँस दी गई है। इस तरह की स्वच्छंदता बीजक के अन्य पदों में भी मिल जाती है।

जिस एक स्थल पर यह स्वच्छंदता अर्थ का भी व्यतिक्रम कर गई है, वह आ० ग्रं०, क० ग्रं और बीजक में समान रूप से मिलता है। यह स्थल है 'बावनी' या चौंतीसी। चौंतीसी में 'स्वर' छोड़ दिये गये है। तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि क० ग्रं० और आदि ग्रंथ की 'बावनिओं' में कोई विशेष अन्तर नहीं है। थोड़ा-सा पाठभेद अवश्य है, परन्तु वह विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। परन्तु बीजक की 'चौंतीसी' में बड़ा

परिवर्तन है। 'घघा' तक यह परिवर्तन केवल पाठभेद पर ही सीमित है। कहीं यह पाठभेद सूक्ष्म है जैसे—

चचा रचित चित्र है भारी। तजि चित्रै चेतहु चितकारी ॥
चित्र बिचित्र इहै अवझेरा। तजि चित्रै चितु राखि चितेरा ॥
( आ० ग्रं )

चचा चित्र रचो बहुभारी। चित्र छोडि चेतु चित्रकारी।
जिन यह चित्र विचित्र उलेखा। चित्र छोड़ि चेत चितेला ॥
( बीजक )

कदाचित् यह नहीं देखा गया कि चौथे चरण में अंत्यानुप्रास तक नहीं मिलती। परन्तु कहीं २ मूलतः भेद हो जाता है जैसे आ० ग्रं० का यह अत्यंत सार्थक दोहा

ञंञा निकटि जु घट रहिओ दूरि कहा तजि जाइ ॥
जा कारणि जग ढूढिअउ नेरउ पाइअउ ताहि ॥

बीजक में निरर्थक चौपाइयों

ञञा निरखत नगर सनेहू। आपन करु निधरि संदेहू ॥
नहीं देखी न आपु भजऊ। जहाँ नहीं तहाँ तन मन लाऊं ॥

का रूप ग्रहण कर लेता है। 'नना' से यह परिवर्तन और भी भयंकर रूप ग्रहण कर लेता है। कदाचित् बीजककर्ता 'बावनी' के गंभीर सिद्धांतों से ज़रा भी परिचित नहीं है। यहाँ तक तो उसने पाठ को ही भ्रष्ट और निरर्थक बनाया। इसके बाद तो वह एक विशेष शैली ग्रहण कर लेता है और एक ही तरह की पंक्तियाँ बराबर दुहराता हुआ चला जाता है। उदाहरण के लिए आदि-ग्रंथ में है—

नंना निसि दिनु निरखत जाई। निरखत नैन रहे रत वाई ॥
निरखत निरखत जब जाइ पावा। तब ले निरखहि निरख मिलावा ॥
पपा अपर पार नहीं पावा। परम जोति सिउ परचउ लावा ॥
पांचउ इंद्री निग्रह करई। पापु पुंनु दोउ निरवरई ॥
फ़फा बिनु फूलहु फलु होई। ता फल पंक लखै जउ कोई ॥
दूखि न परई फंक बिचारै। ता फल फंक सभै तन फौरै ॥

यही 'बीजक' में इस प्रकार है—

नना वो चौथे में जाई। राम का गदहा हो खर खाई ॥
नाह छोड़ि किये नरक बसेरा। नीच अजौं चित चेतु सकेरा ॥
पपा पाप करै सब कोई। पपा के घर धर्म न होई ॥
पपा कहै सुनहु रे भाई। हमरे सेवे किछु न पाई ॥
फफा फल लागा बड़ दूरी। चाखैं सतगुरु दे नहीं तोरी ॥
फफा कहै सुनहु रे भाई। स्वर्ग पाताल की खबरि न पाई ॥

और आगे भी बराबर यह '—कहै सुनहु रे भाई।' अंत तक चलता रहता है। इन पंक्तियों का मूल विषय बड़ा गम्भीर है जैसा डॉ० राम कुमार वर्मा के इस अनुवाद से प्रगट है—

'न—( उस ब्रह्म की ओर ) रातदिन निरखते ( निरीक्षण करते ) ही व्यतीत होता है। और निरखते-निरखते नेत्र लाल हो जाते हैं। तब देखने के इस अभ्यास से ( उस ब्रह्म की ) प्राप्ति हुई तब ( मैंने ) दृश्य और दर्शक दोनों को एकाकार कर लिया।

प—अपार (जो ब्रह्म) है उसका पार नहीं पाया गया तो ( उसकी ) परम ज्योति से परिचय प्राप्त हो गया। जब पांचों इंद्रियों का निग्रह किया गया तो पाप और पुण्य दोनों से निस्तार या छुटकारा मिल गया।

फ—बिना फूल के फल ( सट-चक्र ) होते हैं, उसके फांकों ( खंडों ) को जो कोई देख ले तो उस पर विचार करते ही ( संसार को ) बाटों में नहीं पड़ना पड़ता और उस फल के खंड-खंड सारे शरीर को खंड-खंड कर देते हैं। ( शारीरिक वासनाएँ नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं। )

[ *संत कबीर, परिशिष्ट पृ० ३७-३८* ]

इस तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर-पंथी चाहें 'बीजक' को कितना ही महत्व दें और रे० अहमदशाह जैसे पादरी उसकी जैसी ज्ञान-मंडित व्याख्या कर दें, वस्तुत: उसमें कबीर के सिद्धांत, उनकी भाषाशैली और उनकी प्रतिभा भ्रष्ट ही हुई हैं। 'बीजक-कर्ता' साधारण बुद्धि का आदमी भी नहीं जान सकता, नहीं तो 'चौंतीसी' का रूप कोई दूसरा ही होता। कदाचित् वह सारे बीजक को कूट-वाणी बनाने का प्रयत्न कर रहा है। बाद में कबीर-पंथी महंतों ने इस कूटवाणी के मनचाहे अर्थ लगाये और श्रद्धालुओं को कबीर साहेब के तेज से आतंकित किया। परन्तु कबीर का तेज कुछ दूसरा ही तेज था और उसमें आतंक की अपेक्षा प्रेम और आकर्षण की मात्रा कहीं अधिक थी। इस प्रकार के स्थलों से यह निश्चित हो जाता है कि कबीर के प्रामाणिक साहित्य और पाठ-भेद की दृष्टि से 'बीजक' लगभग बेकार है।

इस दृष्टिकोण की पुष्टि में कुछ और उदाहरण भी उपस्थित किये जा सकते हैं जहाँ 'बीजककर्ता' ने स्वतंत्रता ही नहीं, ऊहापोह से भी काम लिया। आ० ग्रं० में 'रागु केदारा' के अन्तर्गत एक अत्यंत सुन्दर पद है जिसमें कबीर अपने को राम का बनजारा बनाते हैं—

किनही बनजिआ कांसी ताँबा किनही लउग सुपारी।  
संतहु बनजिआ नामु गोबिंद का ऐसी खेप हमारी॥

हरि के नाम के बिश्रापारी ।
हीरा हाथि चढ़िश्रा निरमोलकु छूटि गई संसारी ॥
साचे लाए तउ सच लागे साचे के बिउहारी ।
साची बसतु के भार चलाए पहुँचे जाइ भंडारी ॥
श्रापहि रतन जवाहर मानिक आपै है पासारी ।
श्रापै दहदिस श्राप चलावै निहचल है बिश्रापारी ॥
मनु करि बैल सुरति करि पैंडा गिश्रान गोनि भरि डारी ।
कहतु कबीरु सुनहु रे संतहु निबही खेप हमारी ॥

'बीजक' में 'कहरा' के अंतर्गत इस वाणिज्य का रूप देखिये—

श्रोढ़न मोरे राम नाम, में रामही के बनिजारा हो ।
राम नाम के करौं बनिजिश्रा, हरि मोरे हरवाई हो ॥
सहसनाम का करों पसारा, दिन दिन होत सवाई हो ।
जाके दंउ मैं नव पच सेखा, ताके होत अढ़ाई हो ॥
सेर पसेरी पूरा करि ले, पासंग कतहु न जाई हो ॥
कान तराजू सेर तीन पौश्रा, डहकी ढोल बजाई हो ॥
कहै कबीर सुनहु हो संतो, जोरि चले जहडाई हो ॥

इस रचना को कबीर की रचना मानना कबीर की बुद्धिमत्ता और उनकी प्रतिभा की हँसी उड़ाना है । कबीर के संबंध में जो अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं वह उनके बुद्धि-तेज और उनकी गुरु-गंभीरता की साक्षी हैं । बीजक की रचनाएँ चाहे जो हों उनमें कबीर के इस महान व्यक्तित्व की कोई पता नही चलता । सब कुछ 'छिछिल बिरहुली छिछिल बिरहूली छिछिल बिरहूला' है । यदि उसमें अध्यात्म भाव है तो कदाचित् इतना गहरा है कि आलोचकों और खोजियों की पकड़ में ही नहीं आता । उसके रहस्य को जानने के लिए उन्मनि की अवस्था तक पहुँचना चाहिये जो सबके लिए सुलभ भी नहीं है ।

रागु गउड़ी का एक सुन्दर पद है—

कालबूत की हसतनी मन बउरा रे चलतु रचिओ जगदीस ।
काम सुआइ गज बसि परे मन बउरा रे अंकसु सहिओ सीस ॥
बिखै बाचु हरि राचु समझु मन बउरा रे ।
निरभै होइ न हरि भजे मन बउरा रे गहिओ न रामु जहाजु ॥
मरकट मुसटी अनाज की मन बउरा रे लीनी हाथु पसारि ।
छूटन को सहसा परिआ मन बउरा रे नाचिओ घर बारि ॥
जिउ नलनी सुअटा गहिओ मन बउरा रे माया इहु बिउहारु ।
जैसा रंगु कसुंभ का मन बउरा रे तिउ पसरिओ पसारु ॥
नावन कउ तीरथ घने मन बउरा रे पूजन कउ बहु देव ॥
कहु कबीर छूटनु नहीं मन बउरा रे छूटनु हरि की सेव ।

बीजक' की चाँचरी इसी का परिवर्तित रूप है—

जागो जग के नेहरा, मन बौरा हो ।
जामें शोक सताप, समुझु मन बौरा हो ॥ १ ॥
बिना नेव का देवधरा, मन ,, ,, ,, ।
बिन कहगिल कै ईंट, समुझु ,, ,, ,, ॥ २ ॥
कालबूत की हस्तिनो, मन बौरा हो ।
चित्र रचो जगदीस, समझु मन बौरा हो ॥ ३ ॥
तन मन धन सौं का गर्व, मन ———
भस्म कृमि की साज, समुझु मन ——— ॥ ४ ॥
काम अंध गज बस परै, मन ———
आंकुश सहिया सीस, समुझु मन ——— ॥ ५ ॥
मर्कट मूठी स्वाद की, मन ———
लीन्हो भुजा पसारि, समझु मन ——— ॥ ६ ॥

छूटन की संशय परी, समुझु मन ————
घर २ खायो डाँग, समुझु मन ———— ॥ ७ ॥
ऊँच नीच जानै नहीं, मन ————
घर २ नाचेहु द्वार, समुझु मन ———— ॥ ८ ॥
ज्यों सुवना नलिनी गह्यो, मन ————
ऐसो भर्म विचरि, समुझु मन ———— ॥ ९ ॥
पढ़े गुणे का किये, समुझु मन ————
अंत बिलैआ खाये, ———— ॥ १० ॥
सूने घर का पाहुना, मन बौरा हो।
ज्यों आवे त्यों जाये, समुझु ———— ॥ ११ ॥
नहाने के तीर्थ घना, मन ————
पूजन के बहु देव, समुझ ———— ॥ १२ ॥
बिनु पानी नल बुड़िहैं, मन ————
टेकहु राम जहाज, समुझु ———— ॥ १३ ॥
कहहीं कबीर जग भर्मिया, मन ————
छोड़ हरि के सेव, समुझु ———— ॥ १४ ॥

'आदिग्रंथ' के पद में दोहे के भिन्न २ चरणों के बीच में आठ मात्रा की एक टेक ( मन बउरा रे ) है। चाँचरी में प्रत्येक चरण को स्वतंत्र रूप मिल गया है और प्रत्येक चरण के साथ वही टेक लगा दी गई है। पाठ तो भ्रष्ट है ही यह स्पष्ट है कि यह रूप किसी हस्तलिखित प्रति द्वारा प्राप्त नहीं हुआ होगा। उसका आधार कोई मौखिक परंपरा रही होगी जो निश्चित ही बहुत बाद की होगी। दोनों पदों को मिला कर कोई एक पाठ निश्चित करना असंभव-सा है। जहाँ पाठ में आकाश-पाताल का अंतर हो गया हो, वहाँ एक पाठ किस प्रकार निश्चित किया जाये ?

बीजक की साखियों की दशा भी कुछ अच्छी नहीं है। आ० ग्रं० और क० ग्रं० की साखियों में 'कूट' को अधिक स्थान नहीं मिला है। कदाचित् साखियाँ कबीर की विचारधारा और उनकी साधना को अत्यंत सुन्दर ढंग से सुरक्षित रखती है। परन्तु यही बात बीजक की साखियों के संबंध में नहीं कही जा सकती। साखी शीर्षक जो सामग्री है उसमें से कुछ तो दोहा छन्द में है ही नहीं जैसे

पीपर एक जो महंगे मान।
ताकर मर्म कोऊ न जान॥
डार लफान न कोऊ खाय।
खसम अछत पीपर जाय॥ १५१॥
जो मोहि जानै, ताहि मैं जानौं।
लोक वेद का, कहा न मानौं॥२००॥ २८६॥
जनि भूलो रे ब्रह्म ज्ञानी, लोक वेद के साथ।
कह कबीर यह बूझ हमारी, सो दीप लिए हाथ॥ २७६॥
बूझै तो रीझै, समुझै तो अपार।
देख तमाशा ताहि के, जो है बंधन के पार॥ ४०३॥
सात पाँच गुरु करिये लोई।
शब्द लखावै गुरु है सोई॥ ४१८॥

कुछ साखियों की पुनरुक्ति भी है जैसे १२ वीं ५३ वीं, ६२ वीं १०७ वीं, ३० वीं ११५ वीं, १४१ वीं १५६ वीं, १६२ वीं १७० वीं, २०१ वीं ३०२ वीं, २१२ वीं २७२ वीं, २६ वीं २८२ वीं, २०७ वीं ३०४ वीं। रे० अहमदशाह के सुसंपादित बीजक में साखियों का यह हाल है तो असंपादित और कुसम्पादित बीजकों की क्या दशा होगी। फिर इन साखियों में दोहा छंद की जो दुर्दशा हुई है, उसके सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं है। अनेक साखियाँ कूट या लगभग कूट हैं जैसे

फहम आगे फहम पीछे, फहम दहिने डेरी।
फहम पर जो फहम करत है, सोई फहम है मेरी ॥१८६॥
जो मिला जो गुरु मिला, चेला मिला न कोइ।
छौ लाख छयान्वै सहस रमैणी, एक जीव पर होइ ॥२६२॥

बहुत कम साखियाँ ऐसी हैं जो अन्य स्थलों पर मिलती हैं और जो हैं भी उनका रूप पूर्वतय: बदल गया है। क० ग्रं० और आ० ग्रं० की साखियों (सलोकु) में जिस प्रकार कबीर के अध्यात्म जगत के सूक्ष्माति-सूक्ष्म चित्र मिलते हैं और उनकी प्रौढ़ विचारधारा से हमारा परिचय होता है, बीजक की साखियों के सम्बन्ध में हम यह नहीं कह सकते। उनमें न विचारों की इतनी ऊंची उड़ान है, न अनुभूति की उतनी गहराई है।

फिर भी 'बीजक' की सामग्री को एकदम अस्वीकार नहीं किया जा सकता। और नहीं तो २००-२५० वर्षों से तो प्रामाणिक ग्रंथ के रूप में उसका उपयोग हो रहा है और उसकी सामग्री साधकों, श्रद्धालुओं और साहित्यिकों के अध्ययन और विवेचन की वस्तु रही है। पाठभेद और प्रमाणिकता की दृष्टि से उसका स्थान आ० ग्रं० और क० ग्रं० की सामग्री के बहुत बाद रहेगा, परन्तु फिर भी सामान्य सामग्री का एक लेखा तो होना आवश्यक ही है। इसीलिए यह आवश्यक है कि क० ग्रं०, आदि-ग्रंथ की कबीर-वाणी और बीजक का तुलनात्मक अध्ययन हो और सामान्य सामग्री को भिन्न सामग्री से अलग कर लिया जाये। वस्तुतः बीजक में इस तरह की सामग्री अधिक नहीं निकलेगी, परन्तु इससे 'बीजक'-सम्बन्धी अनेक रहस्यों का उद्घाटन अवश्य होगा और हम कबीर के सत्य रूप से कुछ अधिक परिचित होंगे। कबीर की प्रामाणिक सामग्री को हम साखी, पद ( शब्द ), रमैनी, बावनी, थिति, वार जैसे शीर्षकों के अंतर्गत रख सकते हैं। आ० ग्रं० में रमैणियाँ नहीं हैं परन्तु क० ग्रं० की सात बड़ी २ रमैणियाँ कदाचित् कबीर की वाणी का सब से प्रमाणिक भाग हैं।

कबीर-वाणी के संपादन में हमें उनमें स्थापित कबीर की विचारधारा और भावधारा से बड़ी सहायता मिलेगी। बावनी, थिंति और वार क० ग्रं० और आ० ग्रं० में समान रूप से बहुत थोड़े पाठभेद के साथ मिल जाती हैं। साखियों में संख्या का भेद बहुत अधिक है। क० ग्रं० की साखियों की संख्या लगभग दुगनी है और समान साखियाँ भी बहुत अधिक नहीं हैं। फिर भी समान साखियों को अलग किया जा सकता है। बीजक की साखियाँ अन्य सामग्री की तरह ही भ्रष्ट हैं और उनका निर्देश केवल उस समय हो जब अन्य दोनों ग्रंथों में कोई विशेष साखी अप्राप्य हो। पदों के सम्बन्ध में भी इसी दृष्टकोण को ग्रहण करना होगा। यदि हम इसमें सफल हो गये तो कबीर की विकीर्ण वाणी एक ही स्थान पर हमें प्राप्त हो जायेगी। बीजक में बेली, चाँचरी, हिंडोला, कहरा, बसन्त आदि के शीर्षक जो रचनायें प्राप्त हैं उनके मूल उद्गम को क० ग्रं० और आ० ग्रं० में ढूँढना होगा। सच तो यह है कि कबीर की प्रामाणिक वाणी उपस्थित करना बड़ी ज़िम्मेवारी और बड़े साहस का काम है। परिश्रम भी कम नहीं है। परतु यह भी कम लज्जा की बात नहीं है कि हम कबीर जैसे सर्वमान्य साधक और हिंदी के चोटी के कवि की वाणी का एक भी ऐसा संग्रह उपस्थित नहीं कर सके हों जिसमें सभी लिखित और मौखिक परम्पराओं का अधिक से अधिक समाहार हो। तुलसीदास, सूरदास और जायसी की रचनायें बहुत कुछ प्रामाणिक रूप में उपथित हो गई हैं। अब कबीर की बारी होनी चाहिये।

ऊपर कबीर के पाठभेद के जो उदाहरण दिये गये हैं उससे कबीर के प्रामाणिक पाठ की कठिनाइयों का एक आभास मिलेगा। जहाँ तक बीजक का सम्बन्ध है, वहाँ तक हम कह सकते हैं कि उसकी सामग्री अत्यंत भ्रष्ट है। कुछ पद और कुछ साखियाँ तो थोड़ी परिवर्तित रूप में अवश्य मिल जाती हैं परन्तु अधिकांश सामग्री या तो नई है, या कबीर की प्रमाणिक सामग्री का अत्यन्त परिवर्तित-परिवर्द्धित और भ्रष्ट रूप है। नई सामग्री

में कूट पदों की अधिकता है। यह स्पष्ट है कि 'बीजक' की सामग्री कबीर के पदों की ऐसी परिस्थिति उपस्थित करती है जो आदिग्रंथ और कबीर ग्रंथावली के बहुत बाद की है और कदाचित् उस पर आश्रित है। बहुत संभव यह है कि इस सामग्री को मौखिक रूप से इकट्ठा किया गया है और उसमें आदिग्रन्थ और क० ग्रं० दोनों की परम्पराओं के सूत्र गुंफित हो गए हैं यद्यपि भावधारा पश्चिमी राजस्थानवाला रूप है जो क० ग्रं० में सुरक्षित है। बीजक की रमैणियाँ एकदम भ्रष्ट हैं, वह कबीर ग्रंथावली की रमैणियों का मौखिक अवशिष्ट मात्र हैं। रमैनियाँ निःसंदेह कबीरवाणी के प्रामाणिक अंग हैं क्योंकि कबीर की मृत्यु के ५० वर्ष बाद ही उनका उल्लेख मिलता है। परन्तु ये रमैनियाँ क० ग्रं० की रमैनियां हैं, बीजक की रमैनियां नहीं। अतः यह स्पष्ट है कि बीजक में कबीर की रचना का अत्यन्त अल्प अंश लगभग शुद्ध रूप में या थोड़े परिवर्तित रूप में सुरक्षित है। पूर्वी प्रदेश में मौखिक रूप से चली आती हुई कबीरवाणी की एक परम्परा का रूप उसमें अवश्य मिल जाता है, परन्तु यह रूप कदाचित् कबीर-पंथ के माध्यम से आया है और बीजक-कर्ता न कोई बड़ा साधक है, न कबीर के साहित्य से पूर्णतः अभिज्ञ है। सच तो यह है कि बीजक एक बहुत बड़ा सांप्रदायिक इंद्रजाल है—संप्रदाय के पंडित और रहस्यवाणियों के कलाकार उसके कूटपदों की चाहें जितनी ऊँची व्याख्या उपस्थित करदें इ में ज़रा भी संदेह नहीं कि अधिकांश सामग्री हास्यास्पद है और उसे किसी भी रूप में कबीर से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता। यह कहना कदाचित् कुछ साहस का काम है, कबीर-पंथ में बीजक की जो मान्यता है उसे देखते हुए ज़रा सतर्क रहना पड़ता है—परन्तु 'बीजक' की सामग्री की गुह्यपरक व्याख्या बहुत दिन तक नहीं चल सकती। पाठभेद के वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से वह लगभग बेकार है।

अब रह गई 'आदिग्रंथ' और क० ग्रं० की सामग्री। आदिग्रंथ के

अनेक पद और सलोकु ( साखी ) क० ग्रं० में मिल जाते हैं। उनमें भाषा-भेद और थोड़ा पाठ-भेद अवश्य हैं परन्तु उन्हें निश्चित रूप से कबीर की प्रामाणिक रचना कहा जा सकता है। जब तक कबीर की कोई और भी अधिक प्राचीन और प्रामाणिक प्रति उपलब्ध नहीं होती तब तक हमें इसी अल्प सामग्री पर संतोष करना पड़ेगा। पर जहाँ दोनों में भेद अधिक है वहाँ कदाचित् आ० ग्रं० का पाठ रखना ही अधिक समीचीन होगा। दोनों ग्रंथों में जो सामग्री समान रूप से नहीं मिलती उसे हम एक दम निश्चय के साथ अप्रामाणिक नहीं मान सकते। यह स्पष्ट है कि आ० ग्रं० के अनेक पद क० ग्रं० में दो या कई पदों में बिखर गये हैं। परन्तु असमान पद और साखियां भी कम नहीं हैं। उन्हें ज़रा सतर्कता के साथ कबीर-वाणी में स्थान देना होगा। रमैनियां आ० ग्रं० में नहीं हैं, परन्तु वह कदाचित् कबीर की सबसे प्रामाणिक और शुद्ध उपलब्ध रचनाएँ हैं। 'बावनी', 'थिती' और 'वार' को भी हम कबीर की प्रामणिक कृतियां मान सकते हैं। आ० ग्रं० और क० ग्रं० में ये उपलब्ध हैं परन्तु कबीर के 'बीजक' में केवल 'बावनी' मिलती है और वह भी चौंतीसी के भ्रष्ट रूप में। इस प्रकार आ० ग्रं० और क० ग्रं० के आधार पर कबीर का लगभग प्रामाणिक पाठ स्थापित किया जा सकता है। इस पाठ की जितनी पुष्टि 'बीजक' से मिले, उतनी ठीक है, परन्तु 'बीजक' के पाठ को स्वीकार करना कबीर के साथ अन्याय करना होगा।

परन्तु पाठभेद का ठीक-ठीक रूप स्थापित करने के लिए कबीर की भाषा का कोई एक निश्चित रूप भी स्थापित करना होगा। कबीर की भाषा के सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही बड़ा मतभेद है और दिन-दिन यह मतभेद बढ़ता ही जा रहा है। इस विषय में अनेक मत हैं—

१—कुछ विद्वान मिर्ज़ापुरी और कुछ अन्य बनारसी बोलियों को कबीर की मूल भाषा मानते हैं।

२—कुछ अन्य विद्वान उसे अवधी का ही पूर्वी ( या इलाहाबादी ) रूप मानते हैं।

३—कबीर की वाणी में पूर्वी ( विहारी ) प्रयोग भी मिलते हैं और उनके आधार पर कुछ विद्वान भोजपुरी को यह श्रेय देना चाहते हैं। ऐसे विद्वानों की संख्या अभी अधिक नहीं है।

४—कबीर की वाणी पर राजस्थानी, पश्चिमी हिंदी ( हिंदवी, खड़ी बोली ) और पंजाबी का प्रभाव मुख्य रूप से लक्षित है। इस सम्बन्ध में दो मत हैं—

(क) एक मत यह है कि कबीर राजस्थान और पश्चिमी हिंदीप्रदेश एवं पंजाब के मुसलमान सूफ़ियों के सम्पर्क में अवश्य आये होंगे और कदाचित् इसी प्रभाव के कारण उनकी भाषा ने एक मिश्रित ( खिचड़ी, सधुक्कड़ी रूप ग्रहण कर लिया है। यह मत इन प्रभावों को कबीर के व्यक्तित्व और जीवन में ढूंढता है।

(ख) कुछ अन्य लोग कबीर के संग्रह-कर्ताओं का प्रमाद या झुकाव इस भाषाभेद का कारण बताते हैं। क० ग्रं० का सम्पादन राजस्थान में हुआ। फल-स्वरूप उसमें राजस्थानी भाषा का रूप आ गया। पंजाब में पंजाबी रूपों का आ जाना उसी तरह स्वभाविक है। आ० ग्रं० में अनेक पंजाबी रूप मिल जाते हैं परन्तु आश्चर्य तो यह है कि आ० ग्रं० में पूर्वी भाषा ( अवधी ) का रूप ही सबसे अधिक सुरक्षित है। इसमें सन्देह नहीं कि कबीर के पदों का सम्पादन करते समय गुरु अर्जुनदेव के सामने काशी की लिखी कोई प्रति अवश्य रही होगी। कदाचित् लिपिकार पंजाबी हो और फलस्वरूप भाषा में पंजाबीपन भी कहीं-कहीं आ गया हो, परन्तु भाषा के पूर्वीपन के सम्बन्व में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता।

५—एक दृष्टिकोण यह भी है कि सारग्राही और सर्वग्राही कबीर से हम

भाषा की शुद्धता की आशा ही क्यों करें ? क्या यह सम्भव नहीं कि उन्होंने अपने समय की सामान्य बोलियों का सहारा लिया हो और कभी स्वतंत्र रूप में, कभी निश्चित रूप में उनमें रचना की है।

ये अनेक दृष्टिकोण वस्तुतः शास्त्रीय और एकांगी हैं। कबीर की भाषा पर विचार करते हुए हमें इतिहास और मनोविज्ञान को भी ध्यान में रखना होगा।

कबीर का जन्मस्थान मगहर है जो गोरखपुर ज़िले में स्वयं गोरखपुर से अधिक दूर नहीं है। यह स्थान भोजपुरी भाषा के क्षेत्र में पड़ता है, परन्तु इस भाषा का प्रतिनिधि-रूप कुछ पूर्व बस्ती ज़िले में मिलता है। काशी की भाषा भोजपुरी का ही एक रूप समझी जा सकती है। परन्तु दोनों में थोड़े भेद भी दिखलाई देते हैं। मिर्ज़ापुरी बनारसी बोली से अधिक भिन्न नहीं है। वस्तुतः भोजपुरी, काशिका (बनारसी) और मिर्ज़ापुरी में अधिक भेद नहीं है। कदाचित् कबीर इस प्रकार के सूक्ष्म भेदों से परिचित भी नहीं रहे हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उनके जन्मगत और बालपन के संस्कार भोजपुरी के संस्कार रहे होंगे और उनके काशीनिवास ने इन संस्कारों की पुष्टि की होगी। परन्तु उस युग की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए हमें यह भी जानना होगा कि कबीर से बहुत पहले उनके प्रदेश के पूर्व में मगही और पश्चिम में अवधी की रचनाएँ लिखी जा चुकी थीं। कबीर के समय में अवधी प्रदेश का पूर्वी भाग (जौनपुर) सूफ़ी संतों का बहुत बड़ा केन्द्र था और इस प्रदेश की साहित्यिक परम्पराओं से प्रभावित होकर सूफ़ी संतों ने चौपाई, दोहा और गेयपदों में पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत कर दी थी। कबीर इस प्रदेश के सूफ़ियों से पूर्णतः परिचित थे और उनके लिए मुसलमान सूफ़ी संतों की भाषा-परम्परा से अपरिचित होना असंभव था। उस समय सूफ़ी काव्य हिंदवी ( पश्चिमी हिंदी, प्राचीन खड़ी ) और अवधी में ही लिखा जाता था। हिंदवी भाषा का प्रयोग तो

सूफ़ियों में बराबर रहा होगा परन्तु तब तक कदाचित् उसमें महत्वपूर्ण साहित्य की रचना नहीं हुई होगी। अतः कबीर ने काव्य-क्षेत्र में सूफ़ी परम्परा (अवधी भाषा) को अपनाया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पूर्वी प्रदेश में साहित्यक भाषा के रूप में अर्धमागधी की उत्तराधिकारिणी अवधी का ही विशेष मान था। १५०४ ई० में काशीकेन्द्र में रह कर भी तुलसी ने 'मानस' की इतनी सुन्दर रचना की, यही अवधी के विशेषत्व का सूचक है। पश्चिमी प्रदेश में जिस प्रकार ब्रजभाषा की साहित्यिक परम्परा रही है, पूर्वी प्रदेश में उसी तरह अवधी की परम्परा रही है। अतः कबीर की वाणी का मूल रूप बहुत कुछ अवधी या अवधी के समीप रहा हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। परन्तु यह अवधी विशुद्ध अवधी नहीं रही होगी। सिद्धों और नाथों की साहित्यिक परम्पराओं से उसका प्रभ वित होना सम्भव है। सिद्धों की भाषा मगही है जिसमें भोजपुरी और मैथिली के रूपों की प्रारंभिक अवस्था मिलती है। गोरखनाथ की भाषा की मूल भित्ति पश्चिमी हिंदी (हिंदवी) जान पड़ती है जिस पर राजस्थानी, ब्रजभाषा और कहीं २ पूर्वी भाषा का प्रभाव भी लक्षित है। राजस्थान, महाराष्ट्र और पूर्वी हिंदी प्रदेश नाथों के तीन बड़े केन्द्र थे और जनश्रुतियाँ इन तीनों प्रदेशों को गोरखनाथ से सम्बन्धित करती हैं। नाथों की पर्यटन-शीलता के कारण विभिन्न प्रदेशों की बोली के प्रभाव उनकी भाषा में मिलते हैं परन्तु मूल हिंदवी भित्ति फिर भी नहीं छिपती। कदाचित् इस समय तक प्रादेशिक बोलियों का स्वतंत्र रूप निश्चित नहीं हो पाया था और रूपों में आदान-प्रदान चल रहा था। जैसा हमने ऊपर बतलाया, कबीर योग-साहित्य और योग-साधना से पूर्णतयः परिचित थे और उन्होंने आंशिक रूप से योग-साधना को स्वीकार भी किया था। अतः इनकी वाणी योग-वाणी के प्रभाव से अक्षुण्ण नहीं रह सकती थी। कुछ पद तो कबीर और गोरख (नाथ) की छाप से समान रूप से चल रहे हैं जैसे 'गोरखवाणी' का यह पद—

तुम्हि परि वारी हो अगघड़ीआ देवा।
छड़ी मूरति कूँ सब कोई सेवैं, ताहि न जाणैं भेवा ॥टेक॥
तू अबिनासी आदू कहीए, मोहि भरोसा पड़ीया।
सब संसार घड़्या है तेरा, तू किनहूँ नहिं घड़ीया ॥
दस औतार औतिरीया तिरीया, वै पणि राम न होईं।
कमाई आपणी उनहूँ पाई, करता औरै कोई ॥
तू पूरण ब्रह्म पुरण प्रिथमी का, सूरति मूरति सारा।
श्रवणाँ सुण्याँ न नैंमों देष्याँ, तेरा मड़णौ हारा ॥
तूँ तौ आप आप तैं हूवा, तूँ देस्य उजियारा।
गोरष कहै कहै गुरु के सबदाँ, तूँ हीं घड़नैं हारा ॥

जो कबीर, बषना ( बखना ) और रज्जब की वाणियों में समान रूप में मिलता है। योग सम्बन्धी अनेक पदों में जो तत्त्व-बेली, कायागढ़ की विजय, निरंजन आरती, प्राण-संवरोध जैसे विषयों से सम्बन्ध रखते हैं गोरखनाथ के पदों और उनके शब्दों की ध्वनि बार-बार प्रतिध्वनित होती है। ऐसे पदों में भाषा का रूप भी गोरखनाथ और अन्य नाथों की भाषा से प्रभावित है। सच तो यह है कि गोरख-पंथियों की भाषा और शैली का परवर्ती सन्तों और सूफ़ियों के साहित्य पर गहरा प्रभाव है। सन्तों और सूफ़ियों ने नाथों ( योगियों ) के क्षेत्र में ही काम किया और उनकी भाषा पश्चिमी प्रभाव से बच नहीं सकी। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने नाथ-पंथियों की भाषा को मिली-जुली ( सधुक्कड़ी-भाषा ) कहा है, परन्तु उसका ढाँचा पश्चिमी हिन्दी का ही है।

परन्तु ऐसे पद भी कम नहीं है जिनमें भोजपुरी भाषा का विकसित रूप मिलता है। ऐसे पद 'बीजक' में अपेक्षाकृत अधिक हैं। यदि कबीर की मूल भाषा भोजपुरी है तो आ० ग्रं० में सुरक्षित कबीर-वाणी में भोजपुरी कारक-रूपों और क्रिया-पदों की प्रधानता होनी चाहिये, परन्तु उसमें अवधी और हिंदवी ( खड़ी बोली ) रूप ही अधिक है। जिन पदों

में फ़ारसी की सूफ़ी पदावली का प्रयोग है उनमें बहुधा हिंदवी भाषा का रूप ही प्रधान है। परन्तु भोजपुरी प्रभाव बहुत कम, कदाचित् महत्व-हीन है। अतः यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि अधिकांश कबीर-वाणी का मूल रूप अवधी है, भोजपुरी नहीं और भोजपुरी रचनायें या तो कबीर की अपेक्षाकृत थोड़ी-सी रचनायें है या वह पूर्ण क्षेत्र में जनता में प्रचलित कबीर-वाणियां हैं। इस प्रकार का एक पद कबीर की वृद्धावस्था का पद है जिसमें मगहर का उल्लेख है। संभव है, उत्तर काल में मगहर की जनता की बोली में भी कबीर ने कुछ कह दिया हो, परन्तु कबीर की भाषा को संपूर्णतः भोजपुरी ठहराना कुछ अनुचित ही है। 'बीजक' धनौटो केन्द्र से प्रकाशित और प्रचारित हुआ है और यह केन्द्र भोजपुरी केन्द्र ही है, अतः कबीर की मूल अवधी का भोजपुरी रूप हो जाना सन्देह की बात नहीं। संभव है कबीर की साहित्यिक अवधी में उनके भूल भोजपुरी-संस्कार भी किसी मात्रा में रहे हों और इन्हीं से प्रेरणा पाकर जनता ने उनकी कुछ वाणियों को भोजपुरी रूप दे दिया है।

परन्तु बीजक की भाषा १८ वीं शताब्दी की ब्रजभाषा परंपरा को ही अधिक मात्रा में उपस्थित करती है। क० ग्रं० में भाषा की मूल भित्ति ब्रज जान पड़ती है और कदाचित् यह उस केन्द्र का प्रभाव है जहाँ क० ग्रं० की रचनाएँ संकलित हुई। १५०० ई० से पहले ब्रजभाषा हिंदी प्रदेश की साहित्यक भाषा नहीं बनी थी। उसके प्रसार का मूल कारण वृन्दावन और मथुरा के भक्ति-आन्दोलन थे। सूरदास और नन्ददास की वाणी दूर तक फैली और रीतिकवियों ने उसे हिन्दी प्रदेश की सामान्य साहित्यिक भाषा बना दिया, परन्तु यह बाद की बात है। कदाचित् क० ग्रं० के संकलन के समय तक ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप प्राप्त हो गया था।

इस प्रकार हम अंततः कबीर-वाणी की भाषा की सम्बन्ध में एक निश्चित दृष्टिकोण बना सकते हैं। उसकी मूल-भित्ति निश्चय रूप से अवधी बोली की है परन्तु फ़ारसी शब्दों ( सूफ़ी पारिभाषिक शब्दों ) के संस्कार से प्रभावित होकर उन्होंने कुछ रचनायें हिंदवी में भी उपस्थित की होंगी। उनकी रचनाओं का पूर्वी ( भोजपुरी ) रूप संदिग्ध है और कदाचित् इस प्रकार की रचनायें अधिक नहीं रही होंगी। जैसे कबीर-वाणी की लोकप्रियता बढ़ती गई उसे लोकमान्य साहित्यिक भाषा ब्रज का रूप मिलता गया और क० ग्रं० और 'बीजक' की भाषा की भित्ति ब्रजभाषा ही है। कदाचित् क० ग्रं० का संग्रह १६ वीं शताब्दी में हुआ और उस पर दादूवाणी का बड़ा प्रभाव है। वह दादू-पंथियों द्वारा ऐसे केन्द्र में संग्रहित हुई, जहाँ ब्रजभाषा और राजस्थानी का संगम हो रहा था। क० ग्रं० में कबीर वाणी का रूप नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा।

खड़ी ( हिंदवी )—कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोइ।
राम कहे भला होइगा, नहितंतर भला होइ॥
आऊँगा न जाऊँ, मरूँ न जीऊँगा।
गुरू के सबद्दु रमि रमि रहूँगा॥

राजस्थानी— अंकड़ियाँ सोई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जी मड़ियाँ छाला पड्याँ, राम पुकारि पुकारि॥

पंजाबी— दलि गया आटे लण
लूणा विल्गा पाणियाँ, पाणी लूणा विलाग।

क० ग्रं० के संपदक कहते हैं—'उनके उच्चारण पर भी पंजाबी का प्रभाव दृष्टिगत होता है। न को ण कहना पंजाबी की विशेषता है।

पंजाबी विवेक का उच्चारण ववेक करते हैं। कबीर में यह शब्द इसी रूप में मिलता है।' ( भूमिका, पृ० ६८ )

पूर्वी— कह कबीर कछु जहिया ।

'सकना' के अर्थ में 'पारना' शब्द के रूपों का प्रयोग अब केवल बंगला में प्रचलित है परन्तु कबीर और जायसी ने इनका प्रयोग किया है। कबीर की पंक्ति है—

गांइ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै।

अनेक रूप जायसी, कबीर तुलसी में सामान्य रूप से मिलते हैं। वस्तुतः कबीर, जायसी और तुलसी के समय तक भाषा का रूप द्रवित ही अधिक था। १६ वीं शताब्दी का अंत होते-होते प्रादेशिक बोलियाँ बहुत कुछ जड़ीभूत हो गई। इस लिये कबीर-वाणी में पूर्वी-पश्चिमी-दक्षिणी अनेक प्रयोग मिल सकते हैं।

परन्तु प्रभाव चाहे जो हो मूल भित्ति क्या है। क० ग्रं० ब्रजभाषा को मूल भित्ति बताती है, बीजक से उसका समर्थन होता है, परन्तु दोनों रचनायें कदाचित् कबीर-वाणी का मूल शुद्ध रूप उपस्थित नहीं करतीं। आ० ग्रं० की भाषा निश्चय रूप से कबीर की मूल भाषा के सब से अधिक समीप है। उसके सम्बन्ध में हम पहले विचार कर चुके हैं। वह निश्चय ही अवधी से अभिन्न है। कदाचित् पूर्वी अवधी है।

संक्षेप में कबीर-वाणी की भाषा-सम्बन्धी परिस्थिति यह है। उसे कोई एक निश्चित रूप दे सकना आज असम्भव हो गया है। कबीर का व्यक्तित्व, उनकी पर्यटन-शीलता, उनका पूर्व प्रदेशों में निवास, उनकी वाणी का मौखिक प्रचलन, उसका विभाषीय केन्द्रों में संग्रह, उनकी सार-ग्राहिकता और उस समय की भाषाओं की प्रवहमान स्थिति कदाचित्

ये तत्व कबीर-वाणी को उसके मूल रूप तक पहुँचाने में बाधक ही होंगे। संभव है, काल के गर्भ में कुछ ऐसी पोथियाँ छिपी हों जो कबीर-वाणी को कोई निश्चित रूप दे सकें, परन्तु जैसी परिस्थिति है उसे देखते हुए अभी सामान्य पाठ का आग्रह कुछ व्यर्थ हो सा जान पड़ता है।

———

## ( आ )

# कबीर-पंथ

कबीर-पंथ से कबीर का कोई निकट का सम्बन्ध नहीं है। स्वयं कबीर ने किसी पंथ की स्थापना नहीं की होगी। एक तो वह वह आजीवन पंथ ( गुरुडम ) के विरोधी रहे। दूसरे उनकी साधना बहुत कुछ व्यक्तिगत साधना थी। परन्तु उनके साहित्य, उनके व्यक्तित्व और उनकी विचारधारा का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा। मध्ययुग के सभी संत-मत कबीर को आदर देते हैं और उनके निर्माण में कबीर के विचारों की भित्ति स्पष्ट ही दिखलाई पड़ सकती है।

परन्तु निश्चित रूप से एक कबीर-पंथ भी है जो कबीर के नाम पर खड़ा है, जो अपने मत को सोलह आना कबीर का मत मानता है। कबीर के प्रारंभिक विकास के सम्बन्ध में हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है। परन्तु कबीर की मृत्यु के सौ-सवा सौ वर्ष बाद की परिस्थिति से हम परिचित हैं और इसके बाद के विकास की रूपरेखा बना सकते हैं। कबीर-पंथ वे कई रूप हैं। कई शाखायें हैं परन्तु सब मिलाकर सब शाखाओं में सामान्य रूप से एक ही साहित्य और एक ही विचारधारा चल रही है।

पंथ की दो प्रधान शाखायें हैं। एक का प्रधान केन्द्र कबीर-चौरा ( बनारस ) है। यह शाखा 'बाप' शाखा कहलाती है। दूसरी 'मा' शाखा है जिसका केन्द्र छतीसगढ़ है। अधिकांश कबीर-पंथी साहित्य इस छत्तीसगढ़ी शाखा से ही प्राप्त हुआ है जिसके आदि प्रवर्तक धरमदास

( धर्मदास ) हैं और जो अधिकांश कबीर-धरमदास-संवाद के रूप में है।

## अ—बनारस शाखा

बनारस शाखा के गुरुओं की परम्परा इस प्रकार है—

१—कबीर
२—सुरतगोपाल दास
३—ज्ञानदास
४—श्यामदास
५—लालदास
६—हरीदास
७—शीतलदास
८—सुखदास
९—हुलासदास
१०—माधोदास
११—कोकिल .स
१२—रामदास
१३—महादास
१४—हरिदास
१५—सरनदास
१६—पूरनदास
१७—निर्मलदास
१८—रंगीदास
१९—गुरुप्रसाद
२०—प्रेमदास
२१—रामविलास

जैसा हमने कहा है, कबीर से पंथ-स्थापना की आशा नहीं की जा सकती। सुरतगोपाल ने ही पंथ संगठित किया होगा परन्तु जान पड़ता है, कबीर-चौरा बहुत बाद में पंथ का केन्द्र बना। कदाचित् पहले मगहर की समाधि पर हिन्दू-मुसलमानों की सम्मिलित पूजा चलती थी और प्रारंभिक गुरु मगहर में ही होंगे। नीरू टीला सुखदास के समय में १७ वीं शताब्दी के बीच में प्राप्त हुआ। कबीर-चौरा और बाद में। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में पहले गुरु को यहाँ समाधि मिली। बनारस के महाराज बलवन्त सिंह ( मृ० १७७० ई० ) और उनके पुत्र चेतसिंह पंथ के आश्रयदाता थे। कदाचित् नीरू-नीमा टीले उन्हीं की सदिच्छा से प्राप्त हुये। इसी लिये प्रारम्भिक गुरुओं के सम्बन्ध में हम नहीं जाते। 'सुखनिधान' नाम की एक वृहद रचना को सुरतगोपाल से सम्बन्धित किया जाता है। संभवतः यह सुखदास की रचना है। इसमें धर्मदास की विस्तृत कथा होने के कारण धर्मदासी या छत्तीसगढ़ी शाखा से ही इसका अधिक सम्बन्ध दिखलाई पड़ेगा। इस पन्थ की मुख्य पुस्तक 'बीजक' है जिसकी टीका बरहान पुर ( मध्यप्रान्त ) के पूरनदास ( १६०५ ई० ) ने की है। यही प्रामाणिक रचना मानी जाती है। छत्तीसगढ़ इत्यादि में चलने वाले बीजक से यह कुछ भिन्न है।

बनारस के कबीर-चौरा के केन्द्र नीरू-टीला और नीमा-टीला हैं। वस्तुतः ये कबीर-चौरा के ही दो भाग हैं। इनमें नीरू टीला अधिक पुराना है। कदाचित् यह पन्थ को पहले प्राप्त हुआ। कहा जाता है जिस जगह नीरू-टीला है, वहीं पहले नीरू-नीमा का घर था। जहाँ कबीर उपदेश दिया करते थे, वहां मंडप बना है। यहाँ कबीर की खड़ाउएँ रखी हैं। कबीर की टोपी और सेहली ( लकड़ी के दानों की माला ) भी यहाँ रखी हैं। बीजक की एक प्रति भी कबीर-चौरा की सम्पत्ति है।

लहर-तलाऊ कबीर से कबीर से दो मील दूर है। जनश्रुति कबीर के

जन्म को इसी तालाब से सम्बन्धित करती है। यहाँ भी एक छोटा-सा मन्डप है जिसकी देख-रेख के लिये कबीर-चौरा का एक पुजारी नियुक्त है। कबीर-चौरा की ही एक शाखा मगहर में है। मगहर में ही कबीर का देहावसान हुआ * और सम्भव है पहले कई गुरु यहीं रहे हों। सुरतगोपाल दास को पन्थ का जन्म-दाता माना जाता है, परन्तु कदाचित् सुखदास के समय तक कोई पन्थ स्थापित नहीं हुआ। जान पड़ता है १७ वीं शताब्दी के अंत में कबीर-चौरा में पंथ की स्थापना हुई। मगहर गोरखपुर से १६ मील है। आमी नदी किनारे कबीर का रोज़ा और मठ बने हैं। दोनों के बीच में एक ऊँची दीवार मात्र है। एक भाग जुलाहों के उस वंश के सरंरक्षण में है जो कबीर की मृत्यु के समय से उसका अधिकारी है। इसके अधिकारी का नाम 'गनीकरन कबीर' है। अधिकारियों की कोई सूची नहीं मिलती, परन्तु प्रत्येक अधिकारी मृत्यु से पहले अपने उत्तराधिकारी को चुन लेता है और बाद में वही अधिकारी बनता है। मुसलमान अधिकारी कबीर को ईश्वर ( अल्लाह ) नहीं मानते। वह उन्हें केवल पीर या सूफ़ी मानते हैं। उनका कहना है कि कबीर की कब्र वहीं है। उन्हें उस जनश्रुति में कोई आस्था नहीं है जिसमें बिजली खाँ पठान और बीरसिंह बघेला के

---

* मगहर का रोजा बराबर मुसलमानों के अधिकार में रहा है। १५६७ ई० में मुगल सेनापति नवाब फिदाई खाँ ने इसका पुनरुद्धार किया। १३०० ई० से १५६७ ई० तक मगहर समेत राजपूतों की राजधानी था। कदाचित् जौनपुर के शरकी राज्य की समाप्ति ( १४९३ ई०) के बाद ही कबीर को बनारस से हटना पड़ना और सम्भव है वह मगहर में इसलिये चले आये हैं कि वह कट्टर लोदियों के अधिकार से स्वतंत्र था। जन्मभूमि होने के नाते इस प्रकार का आग्रह और भी रहा होगा।

युद्ध की बात है, जिसके अनुसार कबीर की मृत्यु के समय बीरसिंह उपस्थित नहीं थे, वे शिकार खेलने गये थे, लौट कर उन्होंने देखा कि मुसलमानों ने कबीर को क़ब्र दे दी है। परन्तु बिजली खाँ पठान के कारण वे मुसलमानों को मजबूर करने में असफल रहे। युद्ध के बीच में कफ़न हटा कर देखा गया तो लाश की जगह फूलों के ढेर पड़े थे। उनका कहना है कि यह फूलों के ढेर की बात मनगढंत है। बघेल बीरसिंह के आने से पहले ही कबीर दफ़नाये जा चुके थे और बीरसिंह को लौट जाना पड़ा। क़ब्र के खोले जाने का कोई प्रश्न ही नहीं था। सहन में बिजली खाँ पठान की क़ब्र भी है। कहा जाता है कि मूल क़ब्र ( समाधि ) बहुत छोटी थी, बाद में उसके स्थान पर यह बड़ी समाधि बनाई गई। कदाचित् पहले दो अलग अलग समाधियाँ नहीं थीं। हिन्दू-मुसलमान एक ही समाधि पर फूल चढ़ाते थे और लगभग एक महीने तक उस पर सम्मिलित मेला भी लगता था। बाद में किसी कारण-वश हिन्दू-मुसलमानों में झगड़ा हो गया और फल-स्वरूप हिन्दू समाधि का निर्माण हुआ। जनश्रुति है कि इस हिन्दू समाधि के एक पुजारी मानदास की कबीर के हिन्दू-मुसलमान शिष्यों के किसी संघर्ष में मृत्यु हो गई। परन्तु इस मानदास के संबन्ध में हम कुछ नहीं जानते। कबीर-चौरा से प्रारम्भिक गुरुओं की जो सूची मिलती है और जो निश्चय रूप से मगहर में रहते बताये जाते हैं, उसमें तीसरे गुरु का नाम ज्ञानदास है। सम्भव है यही मानदास नाम से लोक-प्रसिद्ध हो गये हों। परन्तु निश्चित रूप से कुछ भी कहना संभव नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बनारस की कबीर-चौरी की गद्दी से मगहर की हिन्दू गद्दी का अनन्य सम्बन्ध है।* अब भी कबीर-चौरा मठ का

---

* 'बस्ती गज़ेटियर' के अनुसार पहले मगहर में कोई महन्त नहीं रहता था। मगहर में पहला हिंदू महन्त १७६४ ई० में आया। कबीर-

परवाना ( आज्ञापत्र ) इस गद्दी के स्वामी के लिये आवश्यक है। इससे यह स्पष्ट है कि मूल अधिकारी कबीर-चौरा वाले ही हैं। कबीर-चौरा और मगहर के किसी भी गुरु ने महत्त्वपूर्ण रचना उपस्थित नहीं की, यह सचमुच आश्चर्य की बात है। वह अपने धर्मग्रंथ 'बीजक' के लिये घनौटी मठ के भगवान गोस्वामी ( भगवानदास ) के आश्रित बताये जाते हैं और जो एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'सुखनिधान' सुरतगोपाल से सम्बन्धित किया जाता है। उसमें सुरतगोपाल के स्थान पर धरमदास के कबीर द्वारा दीक्षित होने की कथा है और वह भी 'वार्ता'—रूप में। सुरतगोपाल धरमदास को यह महत्ता क्यों देने लगे, यह चिन्त्य है। कदाचित् इस ग्रंथ की महत्ता बाद में बढ़ी और यह छत्तीसगढ़ धरमदासी शाखा से ही संबन्धित है।

## ख—छत्तीसगढ़ी शाखा

इस शाखा के प्रवर्तक धरमदास बताये जाते हैं और इसमें संदेह नहीं कि कदाचित् कबीर के बाद पंथ में सबसे अधिक महत्व धरमदास को ही मिला है। उनकी रचनायें और उनका व्यक्तित्व ही सबसे प्रभावशाली रहा है। वह केवल कबीर-पंथ की उस शाखा से प्रवर्तक ही नहीं है जिसका केन्द्र दमखेड़ा ( छत्तीसगढ़ ) में है, वरन् व्यापक रूप से जिस कबीर-पंथी साहित्य की मान्यता और भी शाखाओं में है वह उन्हीं की रचना बताया जाता है। अधिकांश कबीर-पंथी साहित्य कबीर-

चौरा की की जनश्रुति के अनुसार पहले चार गुरुओं ( महन्तों ) की समाधि मगहर में ही है। यह महन्त सुरतगोपाल, ज्ञानदास, श्यामदास और लालदास ठहरते हैं। 'गजेटियर' का प्रमाण जाना नहीं जा सका है। फलतः निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है।

धरमदास-संवाद या—गोष्ठी के रूप में है। इसमें सन्देह नहीं, उसमें बहुत-सा साहित्य क्षेपक रहा होगा।

धरमदास का मूल नाम जुड़ावन बताया जाता है और उनकी पत्नी का नाम आमीन या अमीनी। वह बांधवगढ़ के निवासी थे जो उनके समय में बघेलराजाओं की राजधानी थी। १५६७ ई० तक यह राज्य स्वतन्त्र रहा, इसके बाद अकबर ने इसे विजय कर लिया और यह मुग़ल साम्राज्य के अन्तर्गत आगया। बघेलराज रीवां चले आये और तब से रीवाँ ही राजधानी हो गई। धरमदास वैश्य थे। कहा जाता है कि वह काफ़ी समृद्ध थे और बांधवगढ़ में उनका बड़ा प्रभाव था। प्रौढ़ावस्था में एक बार वे मथुरा की तीर्थयात्रा करने गये। वहाँ कबीर से उनका परिचय हुआ। कबीर के व्यक्तित्व और उनकी विचारधारा से वे बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने कबीर से दीक्षा लेनी चाही, परन्तु कबीर ने उन्हें कुछ दिन प्रतीक्षा करने के लिए कहा। फिर बनारस में भी उनकी कबीर से भेंट हुई, परन्तु यहाँ भी कबीर ने उन्हें अपने शिष्यों में दीक्षित करने से इंकार कर दिया। कहा जाता है, जब धरमदास ने लौट कर अपनी पत्नी से कबीर के प्रभाव और उनके व्यक्तित्व की बात कही तो उसने विश्वास नहीं किया। इस पर कबीर ने बांधवगढ़ में ही दर्शन दिये और दम्पति को अपने धर्म में दीक्षित किया। धरमदास का एक पुत्र नारायण दास था। उसे कबीर के प्रति किंचित भी आस्था नहीं थी। अंत में कबीर की कृपा से १५१६ ई० में धरमदास के दूसरे पुत्र चूड़ामनि का जन्म हुआ। मगहर में कबीर की मृत्यु के बाद उन्होंने बांधवगढ़ में धरमदास को दर्शन दिये और उन्हें कबीर-पंथ की स्थापना और कबीर-वाणी के प्रचार की आज्ञा दी। धरमदास ने इस आज्ञा का पूर्णतः पालन किया और कबीर-पंथ के प्रवर्तक के रूप में आज कबीर के बाद सबसे अधिक सम्मान उन्हें ही प्राप्त है। इस शाखा की गुरु-परंपरा इस प्रकार है—

| | *अभिषेकतिथि* | *समाधिस्थल* |
|---|---|---|
| धरमदास | १६१६ | पुरी ( जगन्नाथ पुरी ) |
| चूडामणि नाम | १६४४ | कुडरमल |
| सुदर्शन नाम | १६६६ | रतनपुर ( ज़ि० बिलासपुर ) |
| कलपत नाम | १६६४ | कुडरमल |
| प्रमोध नाम (बालापीर) | १७१६ | मण्डला |
| केवल नाम | १७४४ | धमधा ( ज़ि० दुर्ग ) |
| अमोल नाम | १७६६ | मण्डला |
| सुरतसनेही नाम | १७६४ | सिंगोरी |
| हक्क नाम | १८१६ | कवर्धा |
| पाक नाम | | " |
| परघट नाम | | " |
| धीरज नाम | १८६४ | " |
| उग्र नाम | १८६७ | दमखेड़ा |
| दयानाम | १६१४ | " |

इन गुरुओं में से उग्रनाम और धीरजनाम की ही तिथियाँ प्रमाणिक रूप से प्राप्त हैं। अन्य गुरुओं की तिथियाँ उस अभिषेक-काल के हिसाब से अनुमानित की गई हैं जो कबीर चौरा में चल रहा है। अतः यह स्पष्ट है कि उनके सम्बन्ध में हम एकदम निश्चित नहीं हो सकते। उपरोक्त गुरुओं में प्रमोधनाम (बालापीर) विशेष प्रतिभाशाली रहे होंगे। अधिकांश साहित्य उन्हीं के समय की रचना बताया जाता है। तिथियों की गणना से यह स्पष्ट है कि धरमदास कबीर के समकालीन नहीं हो सकते। स्वप्न में कबीर द्वारा पन्थ-स्थापना की कथा से भी यही जान पड़ता है। जनश्रुतियों के चमत्कारपूर्ण स्थलों को हटा दें तो इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि धरमदास चरित्रनिष्ठ और प्रभावशाली व्यक्ति थे। प्रारम्भ में वह वैष्णव थे और सालिग्राम की पूजा करते थे। एक बार मथुरा-काशी की तीर्थ

यात्रा में वह निर्गुणीमत में दीक्षित हो गए और अपने नगर में लौट कर उन्होंने कबीर-पन्थ की स्थापना की और शिष्य बनाये। तब तक इस प्रदेश में कबीर का नाम अपरिचित नहीं रहा होगा, परन्तु कबीर के प्रभाव को निश्चित रूप कदाचित् उन्हीं द्वारा प्राप्त हुआ। कदाचित् बाद में उनके प्रभाव को बढ़ाने के लिए ही यह प्रसिद्धि चल पड़ी कि पंथ-स्थापना की आज्ञा कबीर ने ही उन्हें स्वप्न में दी। इसके बाद कबीर से उनका व्यक्तिगत सम्बन्ध जोड़ देना असम्भव नहीं थी। वह कबीर के पट्ट शिष्य बन गये और जनश्रुति में उनकी दीक्षा के सम्बन्ध में गोष्ठियों के रूप में एक बड़ा साहित्य ही खड़ा कर लिया।

इस शाखा की एक उपशाखा हाटकेश्वर (ज़ि० धमतरी) में है। इसका सम्बन्ध धरमदास के दूसरे पुत्र सुतिदास (या सुरतिदास) से है। है। हाटकेश्यर परम्परा में दमखेड़ा गुरुओं की परम्परा भी कुछ बदली हुई मिलती है। उनके अपने गुरुओं को तो एक परम्परा है ही।

१८६४ ई० में दमखंडा शाखा से एक नई शाखा और निकल आई परन्तु यह शाखा विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। स्वतन्त्र रूप से कबीर-पंथ की और भी गद्दियाँ चल रही हैं। ये गद्दियाँ धरमदास से अपना संबंध जोड़ती हैं और वंशगुरुओं की गद्दियाँ कहलाती है। स्वयं बांधवगढ़ में एक ऐसी गद्दी है जो धरमदास के ज्येष्ठ भ्राता नारायणदास से अपना सम्बन्ध जोड़ती है।

ग०— धनौटी (जि० सारन, बिहार) में कबीर-पंथ की एक और महत्वपूर्ण शाखा है जिसके प्रवर्तक कोई भगवान गुसाईं कहे जाते हैं। इस शाखा के महन्त 'भक्त' या 'गुसाँई' कहलाते हैं। भगवान बुन्देलखन्ड के पिथोराबाद स्थान के निवासी बताये जाते हैं। उनके चार शिष्य थे जिनमें तीन के नाम कोकिल, धनी और सुमरन हैं। चौथे शिष्य का नाम कुछ अज्ञात है। इन चारों शिष्यों ने अलग-अलग अपनी गद्दियाँ

स्थापित की। धनौटी की गद्दी का सम्बन्ध भीखम से ही है जो बनवारी के शिष्य थे। ये भीखम भगवान के अज्ञात शिष्य द्वारा दीक्षित हुए थे। कहा जाता है कि बीजक कबीर की मृत्यु के १८५ वर्ष बाद तक धनौटी के मठ में पड़ा रहा और इसके बाद प्रकाशित हुआ। यदि हमें १५१८ ई० को कबीर की मृत्यु तिथि माने तो 'बीजक' के प्रकाश में आने की तिथि १७०३ ई० है। यह आश्चर्य का विषय है कि कबीर-चौरा, मगहर और छत्तीसगढ़ के प्रामाणिक केन्द्रों को छोड़कर एक अनिश्चित और दूरवर्ती केन्द्र से प्रकाशित और प्रचारित कबीर की रचना को इतना महत्व दे दिया गया और वह धर्मग्रंथ बन गई, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि 'बीजक' की मान्यता के पीछे छत्तीसगढ़ी शाखा के गुरुओं का बल विशेष है, वैसे बीजक चाहे धनौटी में सुरक्षित रहा हो या कहीं और।

## कबीर-पंथी साहित्य

कबीर-पंथ का अधिकांश साहित्य अप्रकाशित है। पिछले कुछ वर्षों में पंथ का थोड़ा-सा साहित्य छप कर सामने आया है और उसके आधार पर कबीर-पंथ की सामान्य रूपरेखा तैयार की जा सकती है। परन्तु अप्रकाशित साहित्य प्रकाशित साहित्य से कहीं अधिक है, कम से कम अभी विद्वानों की ऐसी ही धारणा है, अतः पूर्ण रूप से पंथ के संबन्ध में अंतिम वाक्य अभी नहीं कहे जा सकते।

विल्सन और वेस्काट दोनों ने कबीर-पंथी ग्रंथों की सूची दी है, परंतु उन सूचियों में थोड़ा भेद है। उनके द्वारा इस साहित्य के विस्तार की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। वास्तव में बहुत से ग्रंथ बहुत छोटे-छोटे हैं। ग्रंथों की बड़ी संख्या से उनके विस्तार की कोई सूचना नहीं मिलती। कुछ बड़ी रचनायें भी हैं, परन्तु वे अधिक नहीं हैं। सच तो यह है कि इन ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं हुआ है। तुलना होने पर बहुत-सा क्षेपक-अंश निकल जायगा।

इन रचनाओं में केवल बीजक, ग्रंथसाहिब और साखियाँ ही ऐसी हैं तो निश्चय रूप से कबीर की विचार-धारा का प्रतिनिधित्व कर सकती हैं। अधिकांश अन्य पुस्तकें छत्तीसगढ़ी शाखा से आई हैं और उनमें धरमदास या अन्य शाखा-गुरु निश्चित् रूप से आ जाता है। अनेक पुस्तकें धरमदास और कबीर के संवाद रूप में है। अनुमान यह होता है कि कबीर-पंथी साहित्य का बहुत बड़ा भाग छत्तीसगढ़ी शाखा से ही संबंधित है। धरमदास की वाणी भी प्रकाशित है परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह कहाँ तक धरमदास की वाणी है। कबीर-धरमदास संवाद या—गोष्ठी तो पंथ की एक विशेष रचना-शैली ही जान पड़ती है। स्वाभाविक रूप से ये रचनाएँ धरमदास की नहीं हो सकतीं। वास्तव में छत्तीसगढ़ी शाखा के प्रवर्तक के रूप में धरमदास को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। कालांतर में उनके नाम से अनेक रचनाएं लिख कर प्रचारित कर दी गई होंगी। कबीर के मौलिक सिद्धांत उनमें कितने सुरक्षित हैं, यह देखना महत्वपूर्ण है।

कबीर-पंथ की महत्वपूर्ण पुस्तकें ये हैं—

(१) सुख-निधान—यह कदाचित् १८वीं शताब्दी के बीच की रचना है। जनश्रुति इसे १७२६ ई० की रचना बताती है। बीजक की भाषा से इस ग्रन्थ की भाषा अधिक विकसित है। अतएव अधिक बाद की है। कम से कम 'बीजक' से १५०-२०० वर्ष बाद इसकी रचना हुई होगी। एक जनश्रुति इस रचना को सुरतगोपाल ( कबीर-चौरा ) से सम्बन्धित करती है, परन्तु सुरतगोपाल का समय बहुत पहले है। रचना में धर्मदास प्रश्नकर्ता के रूप में उपस्थित हैं। फलतः यह रचना छत्तीसगढ़ शाखा से ही सम्बन्धित होगी। इस ग्रन्थ का मुख्य विषय धर्मदास का जीवन-चरित और उनका कबीर से सम्बन्ध स्थापित करना है।

(२) गुरु-माहात्म्य—यह रचना लगभग २५० चौपाइयों, सोरठों

और छन्दों का संग्रह है। इसमें भी धरमदास की प्रधानता है। गुरु की व्याख्या और उसकी महत्ता की स्थापना इसका विषय है। इस रूप में यह रचना सांप्रदायिक ही जान पड़ती है। इसमें धर्मदास की चौथी पीढ़ी के गुरु प्रमोध दास (प्रबोध दास) का उल्लेख है। सम्भवतः उन्हीं के समय में, या उन्हीं के द्वारा यह रचना आविर्भूत हुई है। इन्हें 'बालापीर' भी कहा जाता है। जान पड़ता है, छत्तीसगढ़ी शाखा के विकास में इनका महत्वपूर्ण हाथ रहा है। १८ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध इनका समय रहा होगा। सुखनिधान, गोरखगोष्ठी आदि ग्रन्थ इन्हीं के द्वारा रचे अनुमानित हैं।

(३) गोरखगोष्ठी या गोरखनाथ की गोष्ठी—इसमें कबीर और गोरख का काल्पनिक सम्बाद है। विलसन ने अपने ग्रंथ 'हिन्दू सेक्ट्स' में लिखा है कि इस रचना का समय १८ वीं शती है। यह छोटा-सा ग्रंथ है। गोरखनाथ और कबीर के लिए समकालीन होना असंभव है। निश्चय ही गोरख-पंथ की अपेक्षा कबीर-पंथ को अधिक महत्वपूर्ण बनाने के निमित्त ही इस ग्रंथ की रचना हुई है।

(४) अमरमूल—यह एक अन्य कबीर-पन्थी रचना है। यह भी १८०० ई० के लगभग की रचना मानी जाती है। इस ग्रंथ में ८ वें गुरु हक्कनाम की विनयशीलता का उल्लेख है जिनका समय १८१९ ई० के लगभग है। अतः यह रचना भी बहुत बाद की है। यह भी छतीसगढ़ी शाखा से सम्बन्धित है। यह बड़ी रचना है। इसमें कबीर-धर्मदास की गोष्ठी की शैली को अपनाया गया है। इसमें चौपाइयों और साखियों (दोहों) का प्रयोग हुआ है।

(५) कबीर-वाणी—यह दोहा-चौपाइयों में लिखा हुआ एक बृहद् ग्रंथ है। इसे धर्मदास और कबीर का संवाद भी कह सकते हैं। प्रकाशित

पुस्तक १७६० ई० की किसी पोथी से तैयार की गई है। यह भी छत्तीसगढ़ी रचना जान पड़ती है।

(६) अलिफ़नामा—इसमें फ़ारसी वर्णमाला के अनुसार दोहा-चौपाई में सूफ़ी सिद्धांतों का निरूपण है। 'बावनी' और 'चौंतीसी' नाम में हिंदी वर्णमाला के अनुसार लिखी इसी तरह की कबीर की रचनायें आदि-ग्रंथ और क० ग्रं० में संग्रहीत हैं। वस्तुतः 'कक्का', 'ककहरा' इत्यादि नाम से इस प्रकार के सिद्धान्त-निरूपण की एक शैली बहुत पहले से चली आती थी।

(७) रेखता—यह उपदेशात्मक मुक्तक काव्य है। इनमें 'दस मुक़ामी रेख़ता' महत्वपूर्ण है। इसमें अध्यात्म जीवन की दस मंज़िलों या दस मुक़ामों का विशद वर्णन है। अंत में सत्यलोक की विभूति का विवरण मिलता है। 'काया का रेख़ता' एक अन्य रचना है जिसमें रहस्यवादी ढंग से काया की व्याख्या है। रेखता नाम से अनेक रचनायें प्रचलित हैं। यह स्मरण रखना होगा कि रेख़ता शब्द का प्रयोग शाहजहाँ के समय के पहले कभी नहीं हुआ। फलतः ये रचनायें स्पष्ट रूप से क्षेपक हैं।

(८) बड़ा संतोष-बोध। यह भी दोहा-चौपाई में कबीर-धरमदास-संवाद के रूप में है।

(९) मुक्तिमूल। इसकी शैली भी उपरोक्त ग्रन्थ की शैली है। इसमें धरमदास कबीर से मुक्ति से सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं और कबीर अक्षर-तत्त्व को मुक्ति का मूल बतलाते हैं। फिर धरमदास भक्ति के संबंध में पूछते हैं और कबीर उनका समाधान करते हैं। योग के संबन्ध में भी प्रश्न किया जाता और कबीर विस्तारपूर्वक योग के आसनों और कर्म-कांडों की शिक्षा देते हैं। वस्तुतः योग का कबीर से अधिक सम्बन्ध नहीं है और यह निश्चित ही नया विकास है। तत्त्व और षट्-दर्शन की व्याख्या में कबीर से ऐसी बातें कहलाई गई हैं जो निःसंदेह उन-जैसे

तत्त्वचिंतक के लिए अशोमन हैं जैसे पवन, जल, पृथ्वी, आकाश, सूर्य और चंद्र को षट्दर्शन कहा गया है और इन्हें भीतरी तत्त्व माना गया है। भीतर आत्मा में खोजने से ही इनकी प्राप्ति होगी।

(१०) भावस्तव—यहाँ भी कबीर-धर्मदास की वार्ता है।

(११) भेदसार—इस छोटे से ग्रंथ में कबीर-धर्मदास को नाम-तत्त्व और नाम-महिमा का उपदेश देते हैं।

और भी अनेक पुस्तकें हैं जैसे पृथ्वी खंड, आदि भेद, ज्ञानसरोदा, श्वास गुंजरी की सैल, कर्मबोध, ज्ञानबोध, मुक्तिबोध, चौका स्वरोदय, दयासागर, ज्ञानस्त्तोत्र, ज्ञानप्रकाश, जीव धर्म बोध इत्यादि। इनमें से भी अधिकांश कबीर-धर्मदास-गोष्ठी के रूप में है और दोहा-चौपाई की प्रचलित शैली का प्रयोग किया गया है। हमने देखा है कि कबीर को यह शैली अधिक प्रिय नहीं है। उन्होंने केवल रमैणी और बावनी (चौंतीसी) में इसका प्रयोग किया है। परन्तु इस शैली में कबीर-धर्मदास की यदि सारी वार्ताएं इकट्ठी की जायें तो मूल कबीर साहित्य से बीस-पच्चीस गुना बड़ा पोथा इकट्ठा हो जाये। इन परवर्ती ग्रन्थों में कुछ निश्चित विषय ही मिलेंगे जैसे

१—सृष्टि-तत्त्व—आदिभेद, पृथ्वीखंड
२—प्राणायाम—श्वासगुंजरी की सैली
३—कर्मकांडी—चौका-स्वरोदय
४—गुरुमहिमा—दयासागर, ज्ञान-स्तोत्र, ज्ञानगुदड़ी
५—वेदांत—अनुरागसागर
६—रहस्यवाद—ज्ञानस्वरोदय ( पंचतत्वों की रहस्यात्मक व्याख्या )।

कबीर ने इन विषयों पर विस्तारपूर्वक कहीं भी नहीं कहा है। वह सृष्टि-तत्त्व के पचड़े में कभी नहीं पड़े। कर्मकांड के तो वे बड़े विरोधी थे।

उनका साहित्य ज्ञानाश्रित नहीं अनुभूतिजन्य है। वे तत्वदर्शी थे, व्याख्याता नहीं। यह सारा साहित्य न उनके विचारों को आगे बढ़ाता है, न उनकी साधना के किसी नए अंग का उद्‌घाटन करता है। यह सब ग्रंथ पंथ की उपज हैं और कबीर से अधिक पंथ की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। कुछ ग्रंथ ऐसे भी हैं जो अन्य मतों का खंडन करते हैं जैसे निरंजन बोध, मुहम्मद बोध, जैन धर्म बोध। कहा जाता है कि अधिकांश कबीर-साहित्य किसी कबीरपंथीं साधु युगलानन्द की रचना है। लगभग सारे ग्रंथ धरमदास से सम्बन्धित हैं, जो सम्बन्धित हैं, वे तो निश्चय रूप से छत्तीसगढ़ शाखा की तत्परता का फल हैं। इनमें से अधिकांश १८ वीं शताब्दी और उसके बाद की रचना हैं। उनमें न साहित्य की छटा है, न अनुभूति का सौन्दर्य है और न साधना का गौरव। इन ग्रंथों के विषय हैं—

१—सत्पुरुष की विभूतियाँ
२—सृष्टि-रचना
३—काल की शक्ति
४—मुक्ति के अन्य उपायों की व्यर्थता
५—सतगुरु की महिमा
६—शब्द की शक्ति
७—सच्ची भक्ति का स्वरूप
८—साधु की महिमा
९—धर्मदास और उनकी ४२ पीढ़ियों का इतिहास
१०—पंथ से सम्बन्धित अनेक कर्मकांड

## कबीर-पंथ का मतवाद

१—एक ही मात्र चित्सत्ता सर्वत्र व्याप्त है। कबीर-पंथी उसे 'सत्पुरुष' की संज्ञा देते हैं। स्वयं कबीर ने राम, अल्लाह, माधव, साहिब,

और अनेक नामों से इस चित्सत्ता को विभूषित किया है, परंतु कबीर-पन्थी अनन्यतः 'सत्पुरुष' संज्ञा का ही प्रयोग करते हैं।

२—सत्पुरुष ने अपनी इच्छा द्वारा सृष्टि की रचना का और फिर सहज, ओंकार, इच्छा, सोहं, अचिन्त्य और अक्षर नाम के छः ब्रह्माओं की रचना की। ये सत्पुरुष के मानस-पुत्र कहे जा सकते हैं और कदाचित् सांख्य के प्रभाव को सूचित करते हैं। ये छः मानस-पुत्र सृष्टि के संचालन में असमर्थ हुए। फलतः सत्पुरुष ने एक ऐसी महान् शक्ति की रचना करनी चाही जो सृष्टि के विरोधी तत्त्वों पर शासन कर सके। उसने जलवासी अक्षर पर तंद्रा छा दी। जाग कर उसने देखा, जल पर एक बिराट अण्ड तिर रहा है। अक्षर ने उस पर बैठ कर तप आरंभ कर दिया। सहसा एक महान ध्वनि के साथ अण्ड के दो खण्ड हो गये और उसके भीतर से एक भयानक देव-पुरुष निकला। अक्षर ने उसे 'निरञ्जन' नाम दिया। यही निरंजन काल और कालपुरुष भी कहलाया। निरंजन का स्वभाव अत्यंत चंचल और उच्छृङ्खल था, परन्तु उसने तप के द्वारा सत्पुरुष को प्रसन्न कर लिया और उसने त्रिलोक का राज्य माँगा। सत्पुरुष ने कहा—एवमस्तु। परन्तु त्रिलोक पर कच्छप (कुमारजी) का शासन था, अतः वह उनसे प्रार्थी हुए। परन्तु निरंजन का उच्छृङ्खल स्वभाव बाधक हुआ। उसने कच्छप से युद्ध ठान लिया और उसके १६ सिरों में से तीन सिर काट डाले। इनसे उसे सृष्टतत्त्व, सूर्य, चंद्र, पृथ्वी आदि की उपलब्धि हुई। कच्छप ने जब सत्पुरुष से यह वृतांत कहा तो सत्पुरुष को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने आज्ञा दी कि निरञ्जन उनके लोक में निर्वासित रहे और उनके सामने कभी न आये। निरञ्जन के पास सृष्टि के मूलतत्त्व थे परन्तु फिर भी वह मनुष्य की सृष्टि नहीं कर सका। उसने कच्छप के तीनों सिरों को निगल लिया और समाधि में लीन हो गया। अंत में उसने सत्पुरुष से बीज-खेत मागा। सत्पुरुष ने निरंजन के लिए एक स्त्री की सृष्टि की। वह सत्पुरुष पर ही मुग्ध हो गई, परन्तु अंत

में उससे निरञ्जन के स्वीकार करने का आग्रह किया गया। यह भी 'माया' थी। अंत में माया निरञ्जन की पत्नी बनी। धीरे २ माया का सत्पुरुष के प्रति आकर्षण और मोह नष्ट हो गया और उसने ब्रह्मा, विष्णु, महेश को जन्म दिया। इसके बाद निरंजन लोप हो गया। माया इकेली रह गई। माया ने इन तीन पुत्रों के लिए तीन कन्याओं को जन्म दिया। उधर निरंजन ने चारों वेदों की रचना की, परन्तु वे जल में डूब गये। उसके तीन पुत्रों ने वेदों का उद्धार किया। वेद सरस्वती में समा गये। ब्रह्मा ने सरस्वती से विवाह कर लिया। शेष दोनों युवतियाँ विष्णु और महादेव की पत्नियां बनीं।

ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना की। वस्तुत: अंडज, पिन्डजों, उद्भजों और स्थावरों की रचना क्रमशः माया, ब्रह्मा विष्णु और महेश के द्वारा हुई धीरे २ मनुष्य त्रिदेवों की पूजा करने लगे। माया का मान कम हुआ। अतः जगत को छलने के लिए उसने तीन अन्य पुत्रियों को जन्म दिया। जिन्होंने ३६ राग-रागनियों की रचना की अपने संगीत से विश्व को मोह लिया। सारे जन माया ( देवी ) की पूजा करने लगे। निरञ्जन ने घोषणा कर दी कि सच्चा सत्पुरुष वह स्वयं है और इस प्रकार जीवों की आत्माएँ सत्पथ से भ्रष्ट होकर दुष्कर्मों और इंद्रियों के विषयों में लगने लगीं। उन्होंने दु:खित होकर सत्पुरुष से प्रार्थना की। अंत में सत्पुरुष ने कबीर को संसार में भेजा जिससे वह संसार के मनुष्यों का मन निरंजन और त्रिदेवों से हटा कर सत्पुरुष में लगाये। सत्पुरुष प्रत्येक युग में कबीर को पृथ्वी पर भेजता है। सत्युग में कबीर का नाम सतसुकृत था, त्रेता में मुनींद्र, द्वापर में करुणामय और कलि में कबीर ( ज्ञानी )।

महाप्रलय के अवसर पर यह सृष्टि नाश को प्राप्त होती है केवल सत्पुरुष और उसका सतलोक बच रहते हैं। परन्तु जो जीवात्माएं अपने सत्कृत्यों से संतलोक की प्राप्ति कर लेती हैं उनका उस महाप्रलय में नाश नहीं हो पाता और वह सुरक्षित रहती हैं।

यह स्पष्ट है कि यह सृष्टिक्रम पंथ की उपज है और उस पर व्यापक रूप से पौराणिक हिंदू विचारधारा का प्रभाव है। कबीर की रचनाओं में 'काल' की भयंकरता का उल्लेख बार-बार मिलता है। उन्होंने त्रिदेवों और माया की निन्दा भी की है। इन सूत्रों को पकड़ कर उन्हें नया विस्तार दे दिया गया। कबीरवाणी में निरंजन राम के लिए प्रयुक्त हुआ है। परन्तु जैसा हमने पहले बताया है पश्चिमी हिंदी प्रदेश में एक निरञ्जन पंथ भी था जिसमें योग ( हठयोग ) की साधना ही विशेष ढंग से स्वीकार थी। कदाचित् किसी कारण से कबीरपंथी इस निरञ्जन पंथ से विशेष रुष्ट हो गए हैं और उनके साहित्य में निरञ्जन ने इस्लामी शैतान का रूप ग्रहण कर लिया है। कबीर की रचनाओं में निरञ्जन के उस रूप का किंचित भी आभास नहीं मिलता जो कबीर-पंथ में उपलब्ध है। एक तरह से इस विचारधारा में अवतारवाद स्वीकृत कर लिया गया है जिससे कदाचित् कबीर ने कभी भी समझौता नहीं किया। राम-कृष्ण का स्थान कबीर ने ले लिया है। साकेत और गोलोक की तरह सतलोक की कल्पना भी यहाँ मिलती है।

३. संसार के सारे धर्म निरञ्जन के धर्म हैं। इनसे असत्य का ही प्रचार होता है। इस प्रकार सभी अन्य धर्मावलंबियों ने सत्पुरुष के स्थान पर निरंजन को ही परमसत्ता समझ लिया है। वेद-पुराण इसी निरंजन ( काल ) के इंद्रजाल हैं।

४. सत्पुरुष और सदगुरु कबीर भिन्न नहीं हैं। वे तत्त्वतः एक हैं। केवल लीलामात्र के लिए भिन्न हैं। मनुष्य का सर्वोपरि कर्तव्य यह है कि वह सत्पुरुष और कबीर के प्रति अनन्य भक्तिभाव रखे।

५. कबीर की साधना 'भाव-भगति' ( इश्क ) की साधना है। उन्होंने कुछ स्थलों पर सूफ़ी साधनाओं के नाम अवश्य लिये हैं, परन्तु यह पता नहीं चलता कि उन्होंने योग, वेदांत और सूफ़ीसाधना में कोई सचेतन

समन्वय किया हो या इस ओर उनका प्रयत्न रहा है। कबीर-पंथ साधना के दस स्तर स्वीकार करता है। साधारण जीव जिस स्तर पर रहते हैं उसका नाम नासूत है और साधना है शरीअत। इसके बाद ब्रह्मा, विष्णु, शिव का धरातल है जिसमें जीव मलकूत में निवास करता है और तरीक़त को साधन रूप में अपनाता है। फिर निरंजनानन्द माया का स्तर जिनमें लोक जीबरूत है और साधन हक़ीक़त। फिर अक्षर—लोक लाहूत, साधन मारिफ़त; अचिन्त्य—लोक अचित्य और साधन तरावहत; सोहं—लोक सोहं और साधना ध्यान; इच्छा—लोक इच्छा साधना जुलकार; ओंकार—लोक ओंकार द्वीप, साधना हुक्म मुरशिद ; सहज-लोक सहज द्वीप, साधना दाए नाका। अंत में साधक सत्पुरुष की प्राप्ति करता है जो सतलोक में निवास करता है और जिसकी प्राप्ति का एक मात्र साधन शब्द है। यह स्पष्ट है कि साधना की ये मंज़िलें सांख्य, योग और सूफ़ी साधना की मंज़िलें का अत्यंत शिथिल समझौता हैं। इनमें तत्त्व की बात अधिक नहीं है। कबीर-पंथ में सांख्य, योग, वैष्णव और सूफ़ीमतवाद के प्रभाव बराबर बढ़ते गये हैं और उपरोक्त साधना-भेद इस प्रभाव को सूचित करता है। 'सहज' और 'शब्द' की महत्ता कबीर के साहित्य में भी पाई जाती है, परन्तु वहाँ कदाचित् उन्हें यह दार्शनिक रूप नहीं मिला है।

६. 'सुखनिधान' और 'अमरमूल' में कबीर-पंथ की विचारधारा स्पष्ट रूप में सामने आती है। इनमें से पहला ग्रंथ १७२७ ई० के लगभग की रचना है और दूसरा ग्रंथ कदाचित् और भी बाद की। दोनों ग्रंथ कबीर-धर्मदास-वार्ता के रूप में हैं। सुखनिधान के ८ अध्यायों में कबीर-द्वारा धरमदास के मतपरिवर्तन और उनकी दीक्षा की कथा है। एक स्थान पर कबीर कहते हैं—'मैं सत्यपुरुष हूँ। शांति और सुख मुझमें निवास करते हैं। मैं सुकृत हूँ। मैं सत्कबीर हूँ। मैंने इस सृष्टि की रचना

की, तत्त्वों और उनके गुणों की स्थापना की। मैं ही बीज हूँ, मैं ही वृक्ष। गुणों का कर्ता और उपभोक्ता मैं ही हूँ। पंच तत्त्वों में मैं ओत-प्रोत हूँ और पंचतत्त्व मुझमें निवास करते हैं।' बीजक की कुछ रमैणियां उद्धृत करके इस मत की पुष्टि की गई है। एक अन्य स्थल पर कबीर कहते हैं कि वह माया और उसके पुत्र त्रिदेवों के जाल से जीवों को छुड़ाने के लिए ही अवतीर्ण हुए हैं। कबीर धरमदास को आज्ञा देते हैं। कि वह अपना और संसार के जीवों का उद्धार करें। वह असाधों और अन्य पंथों के प्रवर्तकों की निंदा भी करते हैं और उन्हें दंड मिलने की बात भी कहते हैं। साधुओं के पैरों को धोकर चरणामृत पीने की आज्ञा देना भी नहीं भूलते। कारण कि साधु भगवान (यहाँ कबीर) में ही निवास करते हैं।

वह स्पष्ट है कि यह रचना पूर्णतय: सांप्रदायिक है। 'अमरमूल' और भी अधिक सांप्रदायिक रचना है। इसमें धरमदास और उनके वंशजों की महत्ता गाई गई है और उसपर कबीर की छाप लगाई गई है। इस गद्दी से सम्बन्धित गुरु ही जीव को सत्लोक ले जाने में समर्थ हैं। उन्हीं के द्वारा काल के क्लेश से मुक्ति मिल सकती है। काल को केवल शब्द का भय है। साधारण शब्द माया है, परन्तु 'अजपा' सब के हृदयों में निवास करता है। वही मुक्ति का परम साधन है। माया जीव के इस तत्वज्ञान से परिचित नहीं होती। जिसे एक बार इस अमरमूल (रहस्यज्ञान) का परिचय हो जाता, वह आत्मा बद्ध रह नहीं सकती।

७—पंथ में कर्मकाण्ड का बहुत बड़ा विकास दिखलाई पड़ता है। मंत्र, आरती, महाप्रसाद, ज्योतिप्रसाद, चौका इत्यादि की क्रियायें, एवं गुरु-पूजा और इस प्रकार की अनेक कर्मकाण्डी क्रियाएँ कबीर से किसी भी प्रकार सम्बन्धित नहीं की जा सकतीं। धर्म-सम्प्रदाय, शाक्तों और अन्य

प्रचलित मतों के अनेक कर्मकाण्ड अपना लिये गये हैं। वैष्णवों के अनेक कर्मकाण्ड तो हैं ही। इन कर्मकाण्डों ने पंथ को विशिष्ट रूप अवश्य दिया है, परन्तु वह किसी भी प्रकार अध्यात्मभाव के पोषक नहीं कहे जा सकते। कर्मकाण्ड-विरोधी किस प्रकार कर्मकाण्डी पंथ चलाते—यह एक चिंता की बात है। जैसा हमने पहले कहा है, कबीर को कबीरपंथ में ढूँढ़ना कुछ वृथा ही है। उन्हें हम वहाँ अत्यन्त विकृत रूप में ही पा सकेंगे। निर्गुण भाव की भक्ति (यद्यपि सत्पुरुष के प्रति), अद्वैत और वेद-पुराण की निंदा जैसे कबीर के कुछ अंश अवश्य मिलते हैं परन्तु कर्मकाण्डों के घटाटोप में उनकी तेजस्विता जाती रही है। कबीर पंथी वेदों को 'पुरुषम् वेद' कहते हैं और 'सूक्ष्म वेद' या 'स्वयंसंवेद' के नाम से कबीर की वाणी और पंथ के अन्य प्रामाणिक साहित्य को संग्रहणीय मानते हैं।

८—दार्शनिक दृष्टिकोण में भी थोड़ा-सा भेद दिखलाई पड़ता है। कबीर मूलतः अद्वैतवादी हैं परन्तु प्रेमभाव और निर्गुण ब्रह्म में गुणों के आरोप के कारण उनके अद्वैत में विशिष्टाद्वैत के तत्व भी मिल जाते हैं। अल्लाह, राम इत्यादि नामों से कबीर-निर्गुण ब्रह्म का ही बोध करते हैं परन्तु कबीर की प्रेमभावना और दास्यभक्ति उन्हें व्यक्तित्वशाली बना देती है। वह राम के प्रति प्रार्थी बनते हैं और उनसे अपने पापों की क्षमा माँगते हैं। कबीर-पंथ में वह सारा व्यक्तित्व स्वयं कबीर को मिल गया है। कबीर के प्रति भक्ति और आत्म-समर्पण पंथ के नये तत्व हैं। इस प्रकार उनका सत्पुरुष निर्गुण ब्रह्म बन गया है। भक्ति-पंथों में निराकार ब्रह्म और साकार अवतारी ईश्वर का जो सम्बन्ध है, लगभग वही सम्बन्ध सत्पुरुष और कबीर का है। स्पष्टतः यह विचारधारा कबीर की विचारधारा से थोड़ी हटी हुई है। पंथ का झुकाव शुद्ध अद्वैतभाव (ब्रह्मवाद) की ओर ही अधिक है।

कबीर-पंथ की विचारधारा को समझने के लिये कुछ आधुनिक रचनायें भी महत्वपूर्ण हैं। ये हैं कबीर मंसूर (परमानन्द दास) उर्दू १८८७ ; हिंदी अनुवाद १९०३) समाधि का टीका (महंत परसोत्तम-दास, १९०८), ज्ञानप्रकाश (वेणी महादास, १९०८), पंच ग्रंथी (निर्णयसागर, वैराग्यशतक, कबीर परिचय, साखी, ग्यारह शब्द, पारख विचार—ले० रामरहस), कबीरोपासना पद्धति (मानकजी कुवेर)। कबीर के जीवनचरित्र के सम्बन्ध में पंथ की सबसे महत्वपूर्ण रचना 'कबीर कसौटी' है। पूरनदास (१८३७), विश्वनाथ (१८३३—१८५४), मिहिनदास (१९१५) और रामरहस ने 'बीजक' की टीकाएं भी उपस्थित की हैं। इनमें कबीरवाणी के साम्प्रदायिक अर्थ ही अधिक मिलेंगे और इनके अध्ययन से हम पंथ के विकास और उसके रूप की एक झाँकी पा सकेंगे। गुजराती, बंगाली, तेलगू, अँगरेजी इत्यादि भाषाओं में कबीर-पंथियों की और भी अनेक व्याख्यात्मक रचनाएँ मिलती हैं जैसे दशमात्रा और कबीरुकोत्तर शतक। काफ़ी बड़ा साहित्य हमारे सामने है। उसे हम कबीर के साहित्य और उनकी साधना की व्याख्या भले ही नहीं मानें, परन्तु इसमें तो संदेह नहीं कि १७ वीं शताब्दी से २० शताब्दी तक के २५० वर्षों के कबीर-पंथ के विकास के इतिहास से परिचय प्राप्त करने के लिये इन ग्रथों की सहायता अनिवार्यतः लेनी पड़ेगी। देश की सभी संस्थायें महत्वपूर्ण हैं। किन्हीं विशेष परिस्थितियों में उनका जन्म और विकास होता है और उसमें समाज-शास्त्र, परिस्थितियों के अंतर्द्वन्द्व, अनेक साँस्कृतिक धाराओं के संगम और आदान-प्रदान का परिचय मिलता है। कबीर-पंथ अब भी इस देश की एक जीवित-जाग्रत संस्था है, यद्यपि वह उतनी प्राणवान् नहीं है। परन्तु कबीर के नाम और उनकी विचारधारा से सम्बन्धित होने के नाते वह महत्वपूर्ण है और उसके अध्ययन के द्वारा हम अनेक समसामयिक और पूर्ववर्ती साधनाओं का रहस्योन्मीलन कर सकते हैं।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि कबीर-पंथ का विशेष विकास धरमदास वाले छत्तीसगढ़ी भाग में हुआ। जन पड़ता है सिख धर्म के अनुरूप ही यह पंथ खड़ा किया गया। अर्जुनदेव ने १६०४ ई० में 'आदिग्रंथ' का संग्रह किया। कदाचित् इसके बाद ही कबीर-पंथ की स्थापना का प्रयत्न रहा होगा। सम्भव है और भी १०० वर्ष लगे हों। यह तो निश्चित है कि १७०० ई० से अब तक बराबर कबीर-पंथी विचारधारा चली आ रही है। उसमें कबीर के मौलिक सिद्धान्तों को बहुत कुछ नया रूप मिल गया है। निश्चय ही यह कबीर का मौलिक रूप नहीं है। जान पड़ता है, कबीर के बाद उनकी वाणी में नए-नए प्रकरण जुड़ते चले गये। १८०० ई० तक आते-आते पंथ का रूप निश्चित हो चला था। गुरुओं की वाणी के रूप में भी बहुत-सा साहित्य मठों और पीठों में सुरक्षित है परन्तु वह महत्वपूर्ण नहीं है। अनेक गुरुओं ने कबीर की छाप देकर वाणी की रचना की है। वस्तुतः मध्ययुग में 'वाणी' में पूर्ववर्ती गुरु और पंथप्रवर्त्तक की छाप देने की प्रथा आदिग्रंथ के संकलनकाल ( १६०४ ई० ) के बाद से बराबर चली आ रही है और परवर्ती सिख धर्म-गुरुओं ने 'नानक' छाप से ही साहित्य में योग दिया है। कदाचित् 'कबीर' के नाम से जो प्रचुर साहित्य बाज़ार में चल रहा है और जिसमें ग़ज़ल, रेखता, झूलना, कवित्त, सवैया इत्यादि छंदों का प्रयोग हुआ है निश्चय रूप से इन मठाधीशों की रचना हैं।

जो हो, इसमें संदेह नहीं कि कबीर-पंथी साहित्य अनेक दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है। उसमें कबीर पूर्णतः या अंशतः भी सुरक्षित न हों, इसमें तो कोई संदेह नहीं कि उसमें भागलपुर से दमखेड़ा-कवरधा और और गुजरात से काशी तक के एक विशाल क्षेत्र की अनेक साधनाओं, विचारधाराओं और कर्मकांडी परंपराओं के अध्ययन करने के लिये पर्याप्त सामग्री मिलती है। पिछले २५० वर्षों में हिंदी के पूर्वी और दक्षिणी

प्रदेश ( मध्यभारत ) में जनभावना पर शाक्त, योग, वैष्णव और संत-सूफ़ी संप्रदायों की कैसी क्रिया-प्रतिक्रिया होती रही है, इसका संपूर्ण विवरण हमें कबीरपंथ के साहित्य में ही मिलेगा। प्रयत्न केवल यह होना चाहिये कि हम इस परवर्ती कबीर-पंथ और कबीर-पंथी साहित्य से कबीर और उनकी विचारधाराओं को ठीक-ठीक सम्बन्धित करें और अपनी विवेचना में दोनों को अनिवार्यतः उलझा न दें।

---